# आचार्य विज्ञानभिक्षु और रतीय दर्शन में नका स्थान

रेशचन्द्र श्रीवास्तव्य

# आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान

# A Study of Vijnānabhikshu and His Place in Indian Philosophy

डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य

एम्० ए०, शास्त्री, साहित्यरत्न

संस्कृत विभाग, इलाहाबाद युनिवर्सिटी

**लोकभारती प्रकाशन**

१५-ए, महात्मा गान्धी मार्ग इलाहाबाद--१

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गान्धी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित



प्रथम संस्करण : जनवरी १९६९

इन्डियन प्रेस (प्रा०) लिमिटेड
३६, पन्नालाल मार्ग
इलाहाबाद-२ द्वारा मुद्रित

मूल्य : [illegible].००

मेरी अर्चनाओं के पावन प्रतीक पिताजी
की उन माङ्गलिक स्मृतियों को
जिनकी स्नेहिल छाया में
जीवन-संघर्ष के सकल
श्रमसीकर ज्योतिर्बिन्दु
वनते जाते हैं—

सर्वात्मना सर्मापत

# प्राक्कथन

आचार्यप्रवर विज्ञानभिक्षु संस्कृत-वाङ्मय के दर्शन-साहित्य के अद्भुत्-अनुपम स्रष्टा हैं। सांख्य, योग एवं वेदान्त दर्शनों पर उनके द्वारा लिखे गए ग्रन्थ संख्या में अनल्प होने के साथ ही परिमाण में प्रभूत एवं गाम्भीर्य में निरतिशय हैं। ये ग्रन्थ तीनों ही दर्शनों के पृथक्-पृथक् अथवा भिन्न-भिन्न प्रतिपाद्य विषयों एवं उनकी साधना-पद्धतियों के स्वरूप को अनवद्य रूप से प्रकट करने के साथ ही आचार्य भिक्षु की सुदृढ़ समन्वयात्मक दृष्टि को भी असन्दिग्ध रूप में समक्ष उपस्थित करते हैं। उनका यह दोहरा वैशिष्ट्य सभी दर्शन-प्रेमियों को बलात्—बरबस अपनी ओर आकृष्ट करता है। ऐसे आचार्य के साङ्गोपाङ्ग अध्ययन की महती उपादेयता विना कहे ही—स्वतः-सिद्ध है। किन्तु किन्हीं कारणों से एतत्पूर्व इस अध्ययन की ओर विवित्सुओं अथवा विद्वानों की दृष्टि नहीं गई, जो सचमुच खटकनेवाली और बड़े खेद की बात है। हमें यह कहने में हर्ष और गर्व का अनुभव होता है कि हमारे पूर्व अन्तेवासी एवं बारह वर्षों से हमारे सहयोगी प्रखर प्रतिभावान् डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव ने इस महनीय कार्य को अपने डी० फ़िल्० के शोध-प्रबन्ध के रूप में स्तुत्य ढंग से प्रस्तुत किया है जो मुद्रित होकर विद्वज्जगत् के समक्ष प्रकाश में आ गया है। वह अब आचार्य विज्ञानभिक्षु की प्रबुद्ध दार्शनिक चेतना एवं गुरु-गम्भीर भारती का माहात्म्य सुधीजनों के समक्ष प्रकट करेगा।

हमें आशा ही नहीं अपितु दृढ विश्वास है कि डा० श्रीवास्तव का यह शोध-ग्रन्थ सभी गुणैकपक्षपाती, विद्याव्यसनी जनों को सन्तोषप्रद एवं प्रिय होगा। इसके प्रकाशन के इस शुभ अवसर पर हमारी शुभकामना है कि सर्व-प्रेरक प्रभु डा० श्रीवास्तव को अन्य अनेक सद्-ग्रन्थों की रचना में निमित्त बनावें।

आद्याप्रसाद मिश्र
अध्यक्ष संस्कृत-विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय

विजयादशमी, २०२५ वि०।

# भूमिका

विशाल विश्व का विपुल-विलास हमारे जीवन में प्रतिदिन प्रस्तुत और तिरोहित होता रहता है। विविध प्रकार के जीव-जन्तु, पशु-पक्षी एवं लता-पादप व्यक्त और अव्यक्त होने का विचित्र चित्र उपस्थित करते रहते हैं। प्रातःकालिक स्फूर्ति और सायङ्कालिक उल्लास की अनुभूति जीवन का अभिन्न अंग बनी रहती है। प्रखर रवि-रश्मियाँ तथा अमन्दसुधारसनिष्यन्दिनी चन्द्र-किरणें अपना क्रमिक चमत्कार प्रस्तुत करती हैं। आना-जाना, उठना-बैठना, उगना और मुरझाना सब कुछ दृष्टिगोचर होता है। कोयल की कूक और भौंरों की गूँज, बिजली की कड़क तथा बादल की तड़प कर्णकुहरों की अमन्द-सहचरी बनती हैं। पीड़ा और कसक, आनन्द और उल्लास, हर्ष और शोक भाँति-भाँति के भाव मन में अनुदिन घर किए रहते हैं। चित्त में एक प्रबल कुतूहल अङ्कुरित होता है कि अन्ततः ये सब वस्तुएँ क्यों हैं? कहाँ से आती हैं और कुछ दिनों में कहाँ चली जाती हैं? आने-जाने का, आविर्भाव और तिरोभाव का यह निर्बन्ध व्यापार क्यों चलता है, कब से चलता है, और कब तक चलता रहेगा? इन वस्तुओं की सारी क्रीड़ाओं का भव्य प्रांगण—यह जगत्, इसकी पृष्ठ-भूमिस्वरूप यह समय, यह परिवर्तन और इस परिवर्तन का यह क्रम—ये सब क्या हैं? क्यों हैं? कैसे हैं? कब तक हैं?

यह विराट् प्रश्नमाला युगयुगान्तर से चेतन मानव की बुद्धि को झकझोरती रही है। इसी जिज्ञासा की चरम परिणति का प्रतिफलक विचार दर्शन है। जीवन-व्यापार के इन रहस्यों का उद्घाटन करने की आकाङ्क्षा ही इसकी मूलाधार है। हमारे पुरातन महर्षियों ने अपनी उत्कट तपस्याओं और सर्वतोमुखी साधनाओं के सहारे इस समस्त रहस्य का ज्ञान अर्जित किया था। उनकी चिरसंचित यही ज्ञान-राशि हमें उपनिषदों एवं दर्शनशास्त्रों के रूप में उपलब्ध होती है। इसी ज्ञान-निधि को सांख्य, योग, मीमांसा, न्यायवैशेषिक और वेदान्त आदि रूपों में संस्कृत-वाङ्मय ने आनेवाले युगों के लिए सँजो रक्खा है। दर्शनों का प्रमुख प्रयोजन वास्तविकता का ज्ञान और तदापादित चिरशान्ति है। श्रुतियों ने आत्मा को ही वास्तविक या सच्चा रहस्य माना है। इसीलिए उपनिषदों ने 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'[1] का

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् ४।५।६

सन्देश दिया है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही दर्शन के द्वार हैं। इन द्वारों के अनेक और असंख्यमार्ग हो सकते हैं। यही कारण है कि दर्शनों की संख्या का परिसीमन छह, आठ या दस आदि में नहीं किया जा सकता। इन दर्शनों का पारस्परिक सम्बन्ध इसी प्रबन्ध के द्वितीय-पटल, प्रथम-अध्याय में प्रदर्शित किया जायगा।

जीवन के इन परम रहस्यों को जान पाने की उत्सुकता के कारण मैं भी सदा दर्शन-शास्त्र के प्रति असीम आकर्षण का अनुभव करता रहा हूँ। इसीलिए बाल्यकाल से ही जाने-अनजाने दर्शन के अध्ययन की ओर उन्मुख होता गया था। इण्टरमीडिएट परीक्षा के लिए 'तर्कशास्त्र' और बी० ए० परीक्षा के लिए 'दर्शन-शास्त्र' विषय चुनने में भी निस्सन्देह मेरी यही प्रवृत्ति निर्णायिका थी। एम्० ए० परीक्षा के लिए 'दर्शनशास्त्र' विषय को छोड़ कर 'संस्कृत-विषय' ग्रहण करने में मेरी यह धारणा थी कि मैं भारतीय दर्शन के गूढ़ तत्त्वों को जानने में तभी समर्थ हो सकता हूँ जब भारतीय दर्शन के 'मूल ग्रन्थों' का अध्ययन करूँ और यह बात संस्कृत-विषय लेने में ही सम्भव थी। साक्षाद् 'दर्शनविषय' लेकर यद्यपि मैं इन ग्रन्थों को स्वतः भी पढ़ सकता था तथापि गुरुमुख से शास्त्र-श्रवण की बात ही और है। संस्कृत-विषय में 'दर्शन-वर्ग' में ये ग्रन्थ पाठ्यक्रम के अन्तर्गत पढ़ाए जाते हैं। इसलिए मैंने संस्कृत-विषय [दर्शनवर्ग] लेना ही श्रेयस्कर समझा। प्रारब्ध संस्कारों ने भी इस कार्य में मेरी अवश्य सहायता की होगी।

यहाँ पर मुझे गुरुवर्य महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र, श्रद्धेय पं० रघुवर मिट्ठूलाल जी शास्त्री एवम् आदरणीय डा० आद्याप्रसाद जी मिश्र के श्रीचरणों में बैठ कर न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और अद्वैतवेदान्त पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अध्ययन अपने आप में अक्षय सन्तोष की सृष्टि करता है, यह मैंने यहीं जाना। सांख्य का अध्ययन करते समय वाचस्पति मिश्र के प्रसङ्ग में विज्ञानभिक्षु की चर्चा आई। इनके सम्बन्ध में बहुत कम खोज हुई है ऐसा स्व० गुरुवर्य म० म० जी से सुन कर विज्ञानभिक्षु के विषय में समय आने पर शोध करने की आकाङ्क्षा मेरे मन में उत्पन्न हुई।

अनुसन्धान के लिये विषय चुनते समय श्रीगुरुमुख से स्वाभिमत विषय प्राप्त करके मुझे महान् हर्ष हुआ। इस सम्बन्ध में अध्ययन की परम्परा प्रारम्भ भी न हो पाई थी कि श्रीगुरुचरण डा० बाबूरामजी सक्सेना एम्० ए० डी० लिट्० के शुभाशीर्वादस्वरूप इसी विश्वविद्यालय में अगस्त, १९५६ से ही अध्यापन-कार्य मिल गया। 'अधीतिबोधाचरणप्रचारण' की क्रमिक जटिलता को कौन अस्वीकार

कर सकता है ? अतः अनुसन्धान-काल के प्रारम्भिक वर्षों की बलि कठोर अध्यापन-कार्य की वेदी पर चढ़ानी अनिवार्य हो गई। इस कारण कुछ शैथिल्य और उत्साह-हीनता का संचार भी मुझमें होने लगा किन्तु श्रीगुरुवर्य डा० सक्सेना ने मुझे कृत-संकल्प होने और कर्मठ शोध-साधना करने के लिये पुनः प्रोत्साहित किया।

मैं गुरुपाद-निर्दिष्ट शोधमार्ग पर आरूढ हुआ और सफल भी। मुझे उनके आशीर्वादों का संबल और उनकी कृपा का अनन्त अवलम्ब था। आचार्य विज्ञान-भिक्षु की अनल्प ज्ञाननिधि को प्रस्तुत करने की चेष्टाओं को मूर्त रूप देने में मैंने यथासम्भव निष्पक्ष, अनतिरञ्जित और अविकृत निर्णय-बुद्धि से काम लिया है। उनके व्यक्तिगत जीवन का विवरण प्रस्तुत करने के लिए बाह्य सामग्री समुपलब्ध न हो सकने के कारण उनके ग्रन्थों के संकेतों और उनके स्वभाव से परिलक्ष्यमाण प्रभावों पर ही आश्रित रहना पड़ा है। इस ग्रन्थ के प्रथम-पटल में आचार्य विज्ञान-भिक्षु का वैयक्तिक विवरण तथा उनकी कृतियों की संख्या, प्रामाणिकता, प्रेरणाएँ और उनके स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। विज्ञानभिक्षु की आलोच्य दार्शनिकता दो रूपों की है। एक है उनकी सांख्य, योग और वेदान्त साधनाओं का स्वरूप और दूसरा है उनका निजी दर्शन, जो कि उनके समन्वयवाद के नाम से इस ग्रन्थ में विवेचित किया गया है। उनकी दार्शनिकता के दोनों रूप अन्ततः एकाकार हो उठते हैं क्योंकि न तो उनका समन्वय उनके सांख्य, योग और वेदान्त-दर्शनगत सिद्धान्तों के विरुद्ध है और न ही उनके सांख्य, योग और वेदान्त-सिद्धान्त कहीं उनके समन्वयवाद का विरोध करते हैं।

आस्तिक दर्शनों के समन्वय का संदेश किसी भी भारतीय को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करता है। इस समन्वय की जड़ें गहरी हैं। स्मृतियों और पुराणों में इस समन्वय के बीज बिखरे पड़े हैं। अतः विज्ञानभिक्षु का इस दिशा में प्रयास नयापन के दायित्व से बोझिल नहीं है। प्रत्युत इस प्रौढ़-परम्परा के समर्थक तत्त्वों से संवलित होने के कारण स्तुत्य ही है। कदाचित् युग की मूक-पुकार की प्रति-ध्वनि ही उनके मतवाद में प्रतिफलित हुई है। मेरी चेष्टा आद्योपान्त विज्ञानभिक्षु के सिद्धान्तों को शुद्ध एवं अविकृत रूप में विद्वज्जगत् के समक्ष प्रस्तुत करने की रही है। वैयक्तिक दृष्टि-प्रक्षेप के प्रभावों का सम्मिश्रण मैंने यथाशक्ति नहीं होने दिया है। किन्तु इस सम्बन्ध में मैं कितने अंशों में सफल हुआ हूँ, कह नहीं सकता।

विज्ञानभिक्षु के मतवाद की तुलनात्मक समीक्षा और उनके सिद्धान्तों की तर्क संगतता के आधार पर। भारतीय दर्शन-जगत् में उनके स्थान-निर्धारण का भी दायित्व मुझे संभालना पड़ा है। इस ग्रन्थ का तृतीय-पटल इसी साधना का परिणाम है। यह कार्य कुछ टेढ़ा और बड़े पैमाने का अवश्य था परन्तु किसी

के सिद्धान्तों की पूंजी का आकलन करने के पश्चात् उसका किसी विशिष्ट सन्दर्भ में मूल्याङ्कन कर सकना सौविध्यपूर्ण हो जाता है। इसीलिये इस ग्रन्थ का द्वितीय-पटल विज्ञानभिक्षु के सम्पूर्ण-सिद्धान्तों के संकलन से सम्बद्ध है। इसमें उनके दर्शन की रूपरेखा, जो उनकी समन्वयात्मक प्रकृति को प्रकट करती है, प्रस्तावित की गई है। उनके वेदान्तसिद्धान्त, सांख्यसिद्धान्त और योगसिद्धान्त अध्यायानुसार संकलित किए गए हैं। सिद्धान्तों के इस प्रकार के विभाजन का प्रयोजन दुहरा है। पहला प्रयोजन तो यह था कि उनके वेदान्त-ग्रन्थ, सांख्य-ग्रन्थ और योग-ग्रन्थों के निर्णीत मतवादों का अलग-अलग रूप प्रकट होता है। और दूसरा प्रयोजन इस प्रकार के विभाजन से यह सिद्ध होता है कि विज्ञानभिक्षु के अनुसार इन तीनों दर्शनों के प्रधान प्रतिपाद्य विषय एक नहीं है प्रत्युत भिन्न-भिन्न हैं। सांख्य के प्रधान प्रतिपाद्यविषय प्रमाण, प्रकृति, पुरुष और विवेक इत्यादि हैं; वेदान्त के प्रधान प्रतिपाद्य ईश्वर या ब्रह्म तथा जीव आदि हैं; जब कि योगके प्रधान प्रतिपाद्य योग, योग के अङ्ग और सिद्धियाँ इत्यादि हैं। अत: इस प्रकार के विभाजन के द्वारा अपने-अपने क्षेत्र में प्राधान्येन विवेचित सब पदार्थों का साङ्गोपाङ्ग विवरण प्रस्तुत किया जा सका है।

मोक्ष का प्रसङ्ग तीनों सिद्धान्तों में प्राधान्येन उपस्थित हुआ है ताकि तीनों दर्शनों के समन्वितरूप की साधना न कर सकनेवाले साधक के लिये भी तीनों में से किसी एक दर्शन के द्वारा संकेतित साधना के द्वारा मोक्षलाभ हो सके। तीनों के समन्वित ज्ञान के द्वारा मोक्षलाभ आशुतर सुसम्पाद्य है तथापि समन्वय-साधना-विवर्जित साधक भी इस परम पुरुषार्थ लाभ से वञ्चित न रह जायें, इसके लिए इस एकांगी मार्ग को भी सफलता से विभूषित किया गया है। इसीलिए विवेचन-क्रम में तीनों दर्शनों के अन्तर्गत मोक्ष का प्रधान रूप से विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार से इस ग्रन्थ के प्रथम-पटल में विज्ञानभिक्षु का वैयक्तिक विवरण, द्वितीय-पटल में उनके सिद्धान्तों का सङ्कलन तथा तृतीय-पटल में भारतीय-दर्शन जगत् में उनके तुलनात्मक महत्त्व का आकलन और स्थान-निर्धारण प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ है। मुझे विश्वास है कि इस सरणि से 'विज्ञानभिक्षु का एक अध्ययन' और 'भारतीयदर्शन में उनका स्थान-निर्धारण' सुरुचिपूर्ण रूप में प्रस्तुत किया जा सका है। यद्यपि मेरी समीक्षाओं का विषय उनका पूर्ण कृतित्व आद्योपान्त रहा है तथापि उनकी प्रकाशित एवं सुप्रसिद्ध रचनाओं का आधार मैंने मुख्यरूप से ग्रहण किया है। इसका कारण प्रधानत: यही था कि विज्ञानभिक्षु के सम्बन्ध में विद्वज्जगत् की धारणाएँ इन्हीं ग्रन्थों को विशेष रूप से दृष्टि में रखकर बनी हुई हैं। अत: उनके विचारों का विवरण-निर्देश करने के लिये मैंने इन्हीं ग्रन्थों को अधिक

उपयुक्त तथा उपादेय समझा है। इस शैली में एक लाभ मुझे यह भी दृष्टिगोचर हुआ कि इससे सामान्य अध्येताओं को भी इन सुलभ-निर्देशों के आधार पर विज्ञान-भिक्षु के मतवाद के सम्बन्ध में अपनी धारणाएँ स्थिर कर सकने की सहायता मिल सकेगी। इस पद्धति को ग्रहण करने की प्रेरणा मुझे इस बात से भी मिली कि विज्ञानभिक्षु के समूचे वाङ्मय में स्व-वचो-व्याघात का कोई प्रसङ्ग नहीं है। शास्त्रगत अन्तर भले हों परन्तु उन अन्तरों को भी वे स्पष्ट शब्दों में तत्तत्स्थलों में सूचित कर देते हैं। इसलिए अप्रकाशित पाण्डुलिपियों से उनके विचारों का अधिक निर्देश न करने पर भी उनके सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करने में सामान्य अध्येताओं के हितों की कोई क्षति नहीं हो सकती।

विज्ञानभिक्षु के सांख्य और योग ग्रन्थ सब के सब प्रकाशित ही हैं। उनके वेदान्त-ग्रन्थों में केवल विज्ञानामृतभाष्य ही प्रकाशित है, श्रुतिभाष्य और ईश्वर-गीताभाष्य अभी तक अप्रकाशित और पाण्डुलिपियों की परिस्थिति में ही पड़े हैं। विज्ञानभिक्षु के वेदान्त-सिद्धान्त-सम्बन्धी कुछ ऐसे निर्देश अलबत्ता मुझे ईश्वरगीता-भाष्य की पाण्डुलिपि से देने पड़े हैं जो विज्ञानामृतभाष्य में सुलभ नहीं हो सके थे। अन्य पाण्डुलिपियों से निर्देश यथासम्भव नहीं दिए गए हैं।

# आभार प्रदर्शन

इस ग्रन्थ के प्रकाशन की प्रबल प्रेरणाएँ मुझे पूज्य गुरुवर्य डा० बाबूराम जी सक्सेना, पं० रघुवरमिट्ठूलाल जी शास्त्री तथा डा० रामकुमार जी वर्मा से निरन्तर प्राप्त होती रहीं, जिनके फलस्वरूप यह ग्रन्थ प्रकाशन की प्रक्रिया पार कर सका। इसके लिये इन गुरुजनों के प्रति मैं सर्वात्मना अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। परम कारुणिक गुरुवर्य डा० आद्याप्रसाद जी मिश्र ने समय–समय पर समुचित परामर्श देकर तथा इस ग्रन्थ का प्राक्कथन लिख कर मुझे जो प्रोत्साहन दिया है, उसके लिये मैं असीम आभार मानता हूँ। जिन अनेक विद्वानों की कृतियों एवम् सम्मतियों से इस ग्रन्थ के लिखने में मुझे सहायता मिली है उनके प्रति भी आभार प्रदर्शित करना मैं अपना परम कर्त्तव्य मानता हूँ।

प्रकाशन की समग्र व्यवस्था अपने हाथ में लेकर असीम कौशल एवम् सौहार्द के साथ इस ग्रन्थ को विद्वज्जनों के समक्ष लाने का सत्प्रयास करने वाले श्री दिनेशचन्द्र जी एवम् श्री राधेनाथ जी चोपड़ा [लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद] को भी हार्दिक धन्यवाद दिये बिना मैं नहीं रह सकता। और अन्त में, इस ग्रन्थ की प्रकाशन-परम्परा में सर्वदा एवम् सर्वविध सहायता देनेवाले अपने प्रिय भागिनेय श्री सतीशचन्द्र श्रीवास्तव्य एवम् श्री गिरीशचन्द्र श्रीवास्तव्य तथा अपने प्रिय अनुज श्री रविचन्द्र श्रीवास्तव्य एवम् श्री राजेशचन्द्र श्रीवास्तव्य को मैं हार्दिक साधुवाद देता हूँ।

विजयादशमी
सं० २०२५ वि०

सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य

# विषयानुक्रमणी

———

## प्रथम पटल

## [वैयक्तिक-विवरण]

# १ | आचार्य विज्ञानभिक्षु का परिचय

परिचय तो दूर रहा स्पष्ट झलक भी नहीं मिलती आचार्य विज्ञानभिक्षु के गौरवमय व्यक्तित्व की। न निश्चित स्थान और न अस्तित्व की बहुमुखी गाथाएँ। समय का भी कोई स्पष्ट संकेत नहीं। माता-पिता तथा बन्धु-बान्धवों के नामनिर्देश का कहना ही क्या? अपनी गुरु-परम्परा का भी कोई उल्लेख नहीं किया आचार्य ने। तथापि विद्वत्ता के तेज से आलोकित और ज्ञानगरिमा से जगमगाती हुई उनकी विशाल ग्रन्थ-राशि में से उनके व्यक्तित्व की कुछ धुंधली रेखाएँ अवश्य उभर आती हैं। इन धूमिल रेखाओं के ही सहारे आचार्य की एक परिचयात्मक झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

## स्थान

कल्पनाओं के बल पर कुछ विद्वानों ने आचार्य विज्ञानभिक्षु का निवासस्थल निर्दिष्ट करने की कुछ चेष्टा अवश्य की है किन्तु उसके लिये प्रमाण प्रस्तुत करने की आवश्यकता का अनुभव उन्होंने नहीं किया। कुछ विद्वानों[१] ने उन्हें कर्णाकर्णिका के बल पर गौड-देशवाशो बताया है और कुछ ने उनके निवासस्थल के रूप में उत्तरभारत मात्र का निर्देश किया है।[२] अन्य विद्वान् लोग तो इस प्रसंग को भी भारतीय वाङ्मय के इतिहास के मर्मस्थलों में से एक समझ कर इसका स्पर्श न करते हुए मौन रहते आए हैं। उनके अस्तित्व के स्मारकों का भी सर्वथा अभाव है। न तो उनके नाम या सम्प्रदाय का कोई मठ या मन्दिर कहीं है ओर न ही कहीं उनके कुटीरों का भग्नावशेष। सभी

---

१. "Vijñānabhikṣu is described as an ascetic who belonged to the Gauḍa country, corresponding to the modern Northern Bengal."

Introduction to Śhrīkara–Bhāṣya, Vol. I., P. 177 by Shri C. Hayavadan Rao–Benglore 1936.

२. द्रष्टव्य–प्रज्ञानन्दसरस्वतोक्त 'वेदान्तदर्शनेर इतिहास' पृ० ७४०

प्रचलित वेदान्त सम्प्रदायों का विरोध करने के कारण उन-उन सम्प्रदायों के अन्ध भक्तों ने इनके प्रति कोई सहानुभूति भी नहीं दिखायी, जिससे कि इनके नाम पर कोई भव्य स्मारक आदि बनने की सम्भावना रहती। अन्य बौद्ध, जैन, वैष्णव तथा शैव सम्प्रदायों के प्रति हिन्दू गृहस्थ जनता की आस्था थी, क्योंकि वे सम्प्रदाय गृहस्थों को भी तत्त्वज्ञान और इष्टदेव-लोक-प्राप्ति रूप मोक्ष का अधिकारी मानते थे। विज्ञानभिक्षु के मतवाद में सांख्य और योग से अनुप्राणित साधनाएँ और तात्कालिक अन्य सम्प्रदायों के तीव्र-तम खण्डन की घुआँधार चेष्टाएँ केवल बौद्धिक आध्यामिकता की नींव पर आधारित थीं।

साधारण गृहस्थ जनता में बौद्धिकता के प्रति नैसर्गिक झिझक और आकर्षणहीनता का अनुभव सर्वथा निश्चित है। आचार्य विज्ञानभिक्षु को अपने मतवाद के प्रति जनसामान्य का यह औदासीन्य अवश्य खलता था और उनके वाक्यों में अपना मनोवैज्ञानिक प्रभाव प्रदर्शित करता था। साधारण-सी बात कह कर उसके प्रमाणस्वरूप अकारण ही 'शत' और 'सहस्र' उदाहरणों का सर्वत्र नाम लेना[1] इसी प्रभाव का द्योतक है। कहीं कहीं तो 'आग्रह' छोड़ने के लिए जनसामान्य से उन्हें आग्रह भी करना पड़ा है।[2] इस प्रकार वैदुष्य के विपुल विलास में व्यग्र विज्ञानभिक्षु जनगण के अन्तर्मन को बिल्कुल न छू सके। उन्होंने जिस प्रकार की भक्ति अपनायी वह भी वस्तुतः बौद्धिकता की हृदय-सम्बन्धिनी व्याख्या ही थी। उसमें न तो निम्बार्क तथा चैतन्य महाप्रभु आदि की भक्ति का बेसुध करने वाला मनोमोहक रस था और न रामानुज आदि की भक्ति का दिव्यानुभूति-समन्वित—जीवन का व्यापक संदेश।

एक सच्चे योगी होने के कारण योगज चमत्कारों के भी वे घोर विरोधी थे अन्यथा वे चमत्कार भी जनता की भावनाओं को उनकी ओर आकर्षित करने में सहायक हो सकते थे। फल यह हुआ कि उनका विज्ञान-सन्देश सहृदय-गोष्ठीगरिष्ठ विद्वद्वरिष्ठ समुदायों में ही ध्वनित और प्रतिध्वनित होता रहा। जनता ने उस ज्ञान-नाद से अपने अन्तर्मन के अज्ञानपटल खोलने में अधिक उत्साह नहीं दिखाया। इसलिए सांख्य-शार्दूल, योगिराज, वेदान्तविभूति विज्ञानभिक्षु के नाम पर मठ-मन्दिर-स्थापना सदा स्थगित ही रही।

---

१. "इत्यादि स्मृतिशतैरपि", "श्रुतिस्मृतिशतविरोधः" इत्यादि वाक्यशतेभ्यः इतिभावः। यो० वा० पृ० २२, १२३, १६१। द्रष्टव्य यो० वा० पृ० २१४, २२२, ३१०, ४५६ इत्यादि। तथा द्रष्टव्य सां० प्र० भा० पृ० २, १५ इत्यादि।

२. तस्मादाग्रहं परित्यज्य .....इत्यादि—वि० भा० पृ० ४७६

एक सम्भावना यह भी है कि विज्ञानभिक्षु एक उत्कट त्यागी थे। कदाचित् इतना महान् त्यागी भारतीय वाङ्मय के इतिहास में मिलना असम्भव है। सांसारिक निष्ठावाले विद्वानों और कवियों में तो पूर्ण परिचय देने की परम्परा रहती है। जिन पुरातन कवियों में यह परिचय वाच्यरूप से नहीं मिलता वे व्यञ्जनया अपना पूरा परिचय प्रकाशित कर देते थे। दर्शनशास्त्रधुरीणों ने भी अपने पिता, माता और स्थान के नाम के द्वारा चाहे अपनी गृहस्थ झाँकी भले ही न दी हो परन्तु अपनी गुरु-परम्पराओं का, श्रद्धासमन्वित पद-विन्यासों के माध्यम से, परिचय देने की चेष्टा की है। गृहस्थ झाँकी न सही, उनके ग्रन्थों से आश्रमकुटीरस्थ झाँकी उनकी अवश्य मिल जाती है। परन्तु विज्ञानभिक्षु नाम-रूप के सभी प्रदर्शनों से पराङ्मुख रहे! अपने गुरु के प्रति उनकी असीम श्रद्धा थी तथापि उनका नाम-स्थान-संकीर्तन उन्होंने कहीं नहीं किया। गुरु-परम्परा भी उल्लिखित नहीं की। अपने जन्म, जीवन, निवास आदि किसी विषय की ओर स्पष्ट इंगित नहीं। पिता, माता का कोई प्रकरण ही नहीं उठता। कहाँ तक कहें, अपना भी नाम नहीं दिया उन्होंने। 'विज्ञानभिक्षु'[1] केवल एक प्रतीक है जो 'विज्ञानयति'[2] 'यतीन्द्रविज्ञान', 'विज्ञानभिक्षुक', 'विज्ञानार्क'[3] रूपों में भी हमारे सामने आता है। इस कारण भी उनके स्मारक-निर्माण इत्यादि की सम्भावना असम्भव हो जाती है। उन्होंने निश्चय ही अपने शिष्यों को इस प्रकार के आत्म-विज्ञापन-परायण कार्यों के प्रति हतोत्साह किया होगा।

कारण चाहे जो भी रहा हो, सत्य इतना अवश्य है कि विज्ञानभिक्षु की स्मृतियों के नाम पर उनकी गौरवमयी ग्रन्थराशि के अतिरिक्त और कुछ भी पूँजी भारतीय इतिहासनिधि में अवशिष्ट नहीं है। इस सन्दर्भ में ऊपर संकेतित उनके निवास-स्थल का निर्धारण करना अतीव जटिल है। तथापि उनके ग्रन्थों में जाने-अनजाने ऐसे अनेक मार्ग-दर्शक प्रकाशस्तम्भ बिखरे पड़े हैं जिनके सहारे उनके स्थान स्वभाव एवं समय का निरूपण किया जा सकता है। ये प्रकाशस्तम्भ उनके द्वारा प्रयुक्त हुए कुछ विशिष्ट शब्द,

---

१. 'भिक्षु' शब्द का अर्थ है संन्यासी। इससे केवल बौद्ध संन्यासी का भ्रम न करना चाहिए। अनेक अन्य वेदान्तियों ने भी अपने नाम के आगे भिक्षु रखा है जैसे नारायण भिक्षु आदि। वि० भा० पृ० २८

२. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ५६३

३. वेदान्तनगरीमार्गो विज्ञानार्केण दर्शितः। वि० भा० पृ० १३९

विशिष्ट अर्थ-द्योतक वाक्य तथा विशिष्ट परम्पराओं के परिचायक प्रसंग हैं। यद्यपि ऐसी सामग्री तथ्यों की चरम निर्णायिका नहीं हो सकती, किन्तु बाधक प्रमाणों के अभाव में उसका निर्णय स्वीकरणीय और मान्य होता ही है। आनुषंगिक रूप से एक और महान् लाभ ऐसी सामग्री के उपयोग से होता है कि आनेवाले युग के लिए अनुसन्धान की स्थायी पृष्ठभूमि प्रशस्त हो जाती है।

## साधना-क्षेत्र

इस प्रसंग में सबसे अधिक कुतूहलमयी सामग्री जो चित्त के सामने प्रस्तुत होती है वह यह है कि आचार्य विज्ञानभिक्षु ने हज़ारों पृष्ठों में फैले हुए अपने ग्रन्थों में केवल एक देश और केवल एक स्थान का ही नाम लिया है[1] और वे देश तथा स्थान हैं 'भारतवर्ष'[2] और 'प्रयाग'[3]। उन्होंने अपने ब्रह्म-सूत्रभाष्य और योगवार्तिक दोनों ग्रन्थों में एक-एक बार ये नाम लिए हैं।

स्पष्ट है कि इन उद्धरणों में विज्ञानभिक्षु के निवासस्थान से 'भारतवर्ष' और 'प्रयाग' का कोई साक्षात् संकेत नहीं मिलता। तथापि 'प्रयाग' शब्द में जुड़ा हुआ 'आदि' शब्द अन्य स्थानों का बोधक है। जब अन्य स्थानों में भी स्वर्गीय लोगों अर्थात् देवादिगणों का यागादि करना स्मृतियों में बताया गया है तो दो प्रकार के स्थलों में से विज्ञानभिक्षु का 'प्रयाग' का ही नाम लेना कुछ सूचित करता है या कम से कम सूचना की सम्भावना रखता है। प्रबल न सही क्षीण ही कहिए, किन्तु यह भावना तो बनने ही लगती है कि विज्ञानभिक्षु अवश्य ही प्रयाग में आए थे और धार्मिक कृत्य या तपोऽनुष्ठान करने में निरत हुए थे। 'प्रयाग' के प्रति उनकी यह असीम निष्ठा निस्संदेह यह सिद्ध करती है कि यह स्थान उनकी साधनाओं का

---

१. सांख्यसूत्रों, वेदान्तसूत्रों और योगभाष्य में पहिले ही आए हुए स्थानों का नाम देना तो विज्ञानभिक्षु के द्वारा किया गया अनुवाद मात्र होगा, जैसे स्रुघ्न और पाटलिपुत्र आदि। यहाँ पर विज्ञानभिक्षु के द्वारा स्वतः निर्दिष्ट नगर और देश के नाम से अभिप्राय है।

२. 'स्यादेवं प्रयागादौ ब्रह्मादीनां यागादिश्रवणात् तेषां कर्माधिकारश्च देवादिलोके स्वयागादौ च बोध्यो न तु भारतवर्षे स्वोत्कृष्टदेवतायागे चार्थित्वशक्तत्वापर्युदस्तत्वादिभ्य इति'।— ब्र० सू० ऋ० भा० पृ० २२१

३. 'स्वर्गिणां भारतवर्षमागत्य लीलामानुषविग्रहेण प्रयागादौ कर्मानुष्ठानस्य तत्फलस्य च श्रवणादिति'।— यो० वा० पृ० १६३

क्षेत्र अवश्य बना होगा, भले ही वे जन्म से यहाँ न रहे हों। उनके ग्रन्थों का प्रणयन अधिकांशतः प्रयाग में ही हुआ है। इस तथ्य का पोषक एक प्रमाण और उपलब्ध होता है[1]। अविभक्तता के अनेक शास्त्रीय दृष्टान्त 'दुग्धजल' अथवा 'लवणजल' आदि का सदा उपयोग करने पर भी सांख्य प्र० भा० के एक प्रकरण में त्रिवेणी की अविभक्तता का दृष्टान्त देना दो प्रकार की सम्भावनाएँ उपस्थित करता है। एक तो यह कि इस ग्रन्थ-लेखन के समय में यह चित्र उनके सामने भलीभाँति प्रस्तुत था और दूसरी यह कि उन्हें यह विश्वास था कि उनके निकटतम शिष्यों के लिए यह दृष्टान्त अधिक सुलभ और सुबोध होगा। ये दोनों सम्भावनाएँ इस तथ्य को परिपुष्ट करती हैं कि विज्ञानभिक्षु के ग्रन्थप्रणयनादि कर्मों का क्षेत्र प्रयाग रहा होगा।

विज्ञानभिक्षु एक संन्यासी थे इतना तो निश्चित ही है; और संन्यासकाल में ही उन्होंने ये ग्रन्थ लिखे हैं यह भी उनके ग्रन्थों की पुष्पिकाओं से प्रमाणित है[2]। अतः बहुत सम्भव है कि वे प्रयाग में कहीं बाहर से आए हों और साधना के लिए उन्होंने भारतवर्ष के इस अन्यतम धार्मिक स्थल को चुना हो। एक तर्क और अधिक इस मान्यता को सबल बनाता है, वह यह कि 'भारतवर्ष' और 'प्रयाग' को कर्मक्षेत्र बतानेवाले दोनों उद्धरणों में देवताओं का लीलामानुष-विग्रह से पृथ्वी पर आना और विज्ञानभिक्षु का अपने को 'भूदेव'[3] कहना कुछ उनकी अर्द्धचेतन मस्तिष्कगत-सूक्ष्म-धारणा का परिचय कराता है। भारतीय पुनर्जन्मादि पौराणिक धारणाओं से अनुप्राणित विज्ञानभिक्षु भीतर ही भीतर अपने को सामान्य मनुष्यों से ऊपर, दैवी संपत्तियों से युक्त कोई देवता पृथ्वी पर आकर साधना करता हुआ जैसा समझते रहे हों, कम से कम अवचेतन—मस्तिष्क में यह सूक्ष्म धारणा पड़ी रही हो तो कोई आश्चर्य नहीं। जिसके

---

१. सांख्यप्रवचनभाष्य में वे लिखते हैं—
'निरीश्वरवादे तु त्रिवेणीवदन्योन्याविभक्ततयैकस्मिन् कूटस्थे तेजोमण्डलवदादित्यमण्डले प्रकृत्याख्यसूक्ष्मावस्थया महदादेरविभागादात्मैवैकम् तत्त्वमिति।'—सां० प्र० भा० पृ० सं० ३४

२. उनके ग्रन्थों की पुष्पिकाएँ द्रष्टव्य हैं। उनमें अधिकांशतः 'यतीन्द्र' और 'यतिवर' यही शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

३. भूदेवैरमृतं तदत्र मथितुं विज्ञानविज्ञैरिह ।
श्रीमद्वार्तिकमन्दरो गुरुतरो मन्थानदण्डोऽर्प्यते ॥२॥—यो० वा० पृ० ३

कारण ब्राह्मण वर्ण के अन्य पर्याय शब्दों के स्थान पर उन्होंने अपने लिए 'भूदेव' शब्द ही चुना। यह तर्क शुद्ध मनोवैज्ञानिक है। मनीषियों का चिन्तन इस प्रसंग में आकृष्ट होना चाहिए। मैं इसीलिए इसकी ओर केवल इंगित मात्र कर रहा हूँ।

संन्यासी लोग प्रायः अपनी जन्मभूमि इत्यादि से दूर रह कर ही साधनाएँ करते और अधिकांशतः विचरण करते हैं। इससे सहज ही यह कल्पना होती है कि आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सर्वत्र विचरण करते हुए भी ग्रन्थ-प्रणयन और योगानुष्ठान आदि साधनाओं का क्षेत्र प्रयाग को बनाया होगा। इससे यह भी लगता है कि आए यह कहीं दूसरी जगह से थे, इनकी जन्मभूमि और बाल्यकाल क्षेत्र कहीं अन्यत्र है, क्योंकि मनुष्य को इन स्थानों में रहते हुए रागादिकषायों से जल्दी छुटकारा नहीं मिल पाता और विज्ञानभिक्षु ने 'राग' कषाय को बहुत प्रमुख समझते हुए छोड़ने की घोषणा अपने ग्रन्थों में की है।[1]

## जन्मस्थान

इनकी जन्मभूमि के सम्बन्ध में लिखते समय ध्यान स्वतः इनकी पंक्ति 'देशो जन्मभूमिर्नगरादिः'[2] की ओर खिंच जाता है। स्पष्ट संकेत इस स्थान पर कुछ नहीं है किन्तु तुरन्त बुद्धि का आग्रह होता है कि विज्ञानभिक्षु ने बिना किसी विशेष प्रकरण की आकांक्षा के 'देशो जन्मभूमिर्ग्रामादिः' क्यों नहीं लिखा? सोचने का एक स्फीत सूत्र मिल जाता है। कल्पना होने लगती है कि विज्ञानभिक्षु का जन्म किसी ग्राम में नहीं बल्कि किसी नगर में ही अवश्य हुआ था। उस नगर में बड़ी-बड़ी सड़कें थीं[3]। किसी राज-घराने का महल भी था। वहाँ इन लोगों का आना-जाना भी था[4]। राजकुल में इन लोगों की प्रतिष्ठा थी। वहाँ ये लोग साफ-सुथरे कपड़े पहन कर ही जाना पसन्द करते थे। इस बात में तो कोई संशय ही नहीं कि ये ब्राह्मण

---

१. तथापि अविद्यास्मितासत्वे रागस्यावश्यकत्वाद् द्वेषभययोश्च रागमूलकत्वाद् राग एव मुख्यतो जन्मादिहेतुतया यथोक्तवाक्यैर्निदिश्यते इति।
—सांख्यसार पृ० ३

२. द्रष्टव्य, योगवार्तिक पृ० ३३३

३. 'उत्तरोत्तरभूम्यारोहो राजमार्गः'।—यो० सा० सं०, पृ० १६
'योगाभ्यासो राजमार्गः'।—यो० सा० सं०, पृ० ४०

४. 'वासस्ते मलिनं राजकुलं मा गाः' इति।—वि० भा०, पृ० २४९, ५०५

परिवार में उत्पन्न हुए थे[1]। इस प्रसंग में प्रस्तुत किया गया श्री हयवदनराव जी का यह मत कि 'विज्ञानभिक्षु ब्राह्मण—कायस्थ थे' सर्वथा[2] निर्मूल है। न केवल इसलिए कि इस बात के प्रमाण नहीं हैं अपितु इसलिए भी कि इसके विरुद्ध प्रमाण—उनके ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने के प्रमाण—सुलभ हैं। केवल ब्राह्मणों को ही तत्त्वज्ञान संन्यास आदि में विशिष्टाधिकार है ऐसा वे स्वयं प्रकाशित करते हैं और अपने को 'भूदेव' स्पष्ट रूप में लिखते हैं।

आचार्य विज्ञानभिक्षु की सम्भावित जन्म-नगरी कौन सी थी? या भारत के किस भाग में थी? यह कहना टेढ़ी खीर है। तथापि कतिपय सूक्ष्म क्षीण किन्तु सुदृढ़ प्रमाण-तन्तुओं की सहायता से निश्चय की ओर अग्रसर होना चाहिए—

इनके ग्रन्थों में हिन्दी भाषा का प्रभाव पूर्णरूपेण परिलक्षित होता है। ऐसे शब्दों और वाक्यांशों की कमी नहीं है जो संस्कृत रूप में प्रयुक्त होने पर भी हिन्दी-प्रभाव को ही प्रकट करते हैं। उदाहरणार्थ हम कुछ प्रयोग लेते हैं:—'घोटक[3]' घोड़े के लिए 'आवश्यकत्वम्[4]' 'विलम्बसिद्धि'[5] और 'शीघ्रसिद्धि' 'विलम्बभविष्यत्ता' 'शीघ्रभविष्यत्ता'[6] 'शीघ्रोमार्ग'[7] 'कामनीया'[8] 'वेधनम्'[9] 'मिलनम्'[10] 'मिलितम्'[11] 'अधिकाः'[12] 'प्रघट्टकेन'[13] जमाखर्च बराबर के अर्थ में 'तुल्यायव्ययत्वम्'[14] इत्यादि यद्यपि संस्कृत में कोश और व्याकरण से शुद्ध माने जा सकते हैं किन्तु इनका उन-उन अर्थों में प्रयोग, वह भी बहुतायत से, यह सिद्ध करता है कि ये शब्द या तो हिन्दी व्यवहार से लेकर प्रयुक्त हुए हैं अथवा हिन्दी के निकटस्थ संस्कृतानुवाद मात्र हैं। इन सामान्य लक्षण-

---

१. 'भूदेवैरभूतं तदत्र मथितुं विज्ञानविज्ञैरिह'।—यो० वा० पृ० ३

२. श्री सी० हयवदनराव श्रीभाष्य की भूमिका में पृ० ३७७ पर लिखते हैं—

"Before he became a Sannyāsin he is said to have belonged to the Karṇākarṇika caste.... A Kāyastha-Brāmaṇa. A Brāhmaṇa who followed an occupation of a Kāyastha is called *Karṇākarṇika.*"

३. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ३३०
४. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० २८७
५. ,, यो० सा० सं० ६
६. ,, यो० वा० पृ० २९६
७. ,, सां० सा० पृ० ३०
८. ,, यो० सां० स० पृ० ५६
९. ,, यो० वा० पृ० ४४८
१०. ,, यो० वा० पृ० ३२७
११. ,, यो० वा० पृ० १६७
१२. ,, सां० सा० पृ० ४१
१३. ,, सर्वग्रन्थेषु
१४. ,, सां० प्र० भा० पृ० १५३

वाले प्रयोगों के अतिरिक्त कुछ विशेष हिन्दी-प्रभावित प्रयोग भी इस प्रसङ्ग में दर्शनीय हैं—

१. नारायणोऽयं भासते।[१]

२. येन रात्रिदिनव्यवस्थितिरिति[२]।

३. मुखलग्नां मसीमिव।[३]

४. एकदापरसूक्ष्मे प्रवेशासम्भवात्[४]

५. धानस्थतण्डुलस्य चावधातेनेति।[५]

ये वाक्यांश तो निश्चय ही हिन्दी की संस्कृत--छायामात्र हैं। 'सूर्य' को 'सूर्य' और 'सूर्यनारायण' नाम से तो भारत के अनेक भागों में व्यवहृत किया जाता है। उत्तरी भारत में तो आज भी विशेष कर देहातों में 'नारायण जी उइ आये' नारायण जी के उदित हो जाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। सूर्य को केवल 'नारायण' शब्द से व्यवहृत करना विज्ञानभिक्षु को हिन्दी-भाषी क्षेत्र का निवासी सूचित करता है। दूसरे उदाहरण में तो यह धारणा और जागरूक हो जाती है। संस्कृत में 'नक्तंदिवम्' 'अहोरात्रम्' 'रात्रिंदिवम्' इत्यादि समस्त पदों का विपुल प्रयोग देखा जाता है। 'रात्रिदिन' जैसा समस्त पद इसी प्रकार के हिन्दी आदि के प्रभाव से पूर्ण संस्कृत के किसी ग्रन्थ में भले देखने को मिल जाय किन्तु शुद्ध संस्कृत-धारा के ग्रन्थों में ये प्रयोग मिलने असम्भव हैं। यह प्रयोग तो 'रातदिन' नामक हिन्दी के बहुप्रयुक्त समस्तपद की संस्कृतछायामात्र प्रतीत होता है। तीसरा प्रयोग तो 'मुख में लगी हुई कालिख' का शुद्ध संस्कृतानुवाद लगता है। एकबारगी के अर्थ में एकदा का प्रयोग पूर्णतः हिन्दी के प्रयोग 'एकदम' या 'एकधम' से अनुप्राणित है। वैसे ही धान (paddy) के अर्थ में 'धान' शब्द का प्रयोग हिन्दी में ही होता है। संस्कृत में प्रयुक्त होनेवाला 'धान' शब्द केवल भुने हुए दाने अथवा बीज के अर्थ में—वह भी केवल बहुवचन और स्त्रीलिङ्ग में होता है।[६] इस आधार पर यदि विज्ञानभिक्षु की जन्म-नगरी हम उत्तर प्रदेश में या बिहार

---

१. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० १११  २. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ३४३;
३. „ यो० वा० पृ० ३५१  ४. „ सां० प्र० भा० पृ० २
५. „ सां० प्र० भा० पृ० ५९
६. 'धाना भृष्टयवे स्त्रियः'--अमर० २। ९। ४७
'धाना भृष्टयवेऽङ्कुरे धान्याके चूर्णसक्तुषु' इति हैमः।
'अण्व्य इवेमा धाना भगव इति।'--छा० उ० अ० ६। ख० १२

में अथवा मध्यप्रदेश के उत्तरी भाग में मानें, जो कि १४वीं से लेकर १७वीं शताब्दी[1] तक हिन्दी के अन्यतम गढ़ रहे, जैसा कि हिन्दी ना० प्र० सभा की रिपोर्ट[2] से प्रमाणित है, तो सत्य से बहुत दूर न होंगे।

## विचरण-स्थल

आचार्य विज्ञानभिक्षु संन्यासी थे ही उन्होंने देश में परिभ्रमण किया होगा। दर्शन के ग्रन्थों में यद्यपि स्थानों के सौन्दर्य-चित्रण आदि का कोई अवसर तो रहता नहीं इसलिए तत्तत् स्थानों की ओर इंगित करना हम लोगों के लिए असम्भव होगा तथापि कुछ फुटकल इशारों के बल पर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने भारत के अनेक भाग देखे थे। उन्होंने 'नीलगिरि' पर्वत का नाम उल्लिखित किया है[3] जिससे उनका दक्षिणी भारत का भ्रमण सिद्ध होता है। 'उष्ट्रकुङ्कुमवहनवत्' नामक सांख्य सूत्रांश का भाष्य करते समय 'स्वाम्यर्थम्'[4] पद का उनका प्रयोग राजस्थान तथा पश्चिमी उ० प्र० के व्यापारियों की प्रगति की ओर आँखों देखा इशारा प्रतीत होता है। 'स्रुघ्नस्य-पाटलिपुत्रस्थयोरिव' सांख्य-सूत्रांश के भाष्य में इन नगरों को उन्होंने नगर नहीं कहा अपितु 'देश-विशेष' बताया है[5]। न दोनों नगरों के नाम पर १६वीं शताब्दी तक प्रदेश या इलाक़े बन चुके थे। इसलिए इन इलाक़ों की आँखों देखी प्रादेशिक रूप की सत्ता इन्होंने अनुभूत की है और तभी भाष्य में इनकी ऐसी परिभाषा करने को उद्यत हुए प्रतीत होते हैं। इससे आगरा के प्रदेश और मध्य बिहार के प्रदेशों में नका विचरण निर्णीत है। प्रयाग क्षेत्र तो इनका साधनास्थल ही रहा। काशी के रहनेवाले श्री भावागणेश दीक्षित इनके साक्षात् प्रिय शिष्य ही थे[6]। देहातों के सीधे-सादे अनेक चित्र इनके ग्रन्थों में बिखरे पड़े हैं[7]। वन

---

१. विज्ञानभिक्षु का जीवनकाल इसी अवधि के बीच में ही निर्धारित होता है।

२. Search of Hindi Manuscripts की रिपोर्ट्स काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई हैं, वे द्रष्टव्य हैं।

३. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ३४१

४. ,, सां० प्र०भा० पृ० १०८

५. ,, सां० प्र० भा० पृ० १९

६. भावागणेशदीक्षित सम्बन्धी 'निर्णयपत्र १६वीं शताब्दी' काशी में प्राप्त हुआ है। लेख पी० के० गोडे महोदय का—अडि० ला० बु० फ़रवरी, १९४४ में।

७. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० २४४, ३४३

के अंशभूत वृक्षों का विवरण देते हुए 'पनसाम्रदाडिमादि'[१] का कथन उन प्रदेशों में इनके परिभ्रमण का सूचक है जहाँ न तीन प्रकार के वृक्षों का एक ही वन में समावेश बहुतायत से रहता है। ऐसे उपवन सम्भवतः बंगाल के उत्तरी प्रदेश में अधिक पाए जाते हैं। तात्पर्य यह है कि भारत के अनेक उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी और पश्चिमी प्रदेशों का इन्होंने परिभ्रमण किया था और उन-उन स्थलों के चित्र-विचित्र अनुभवों से इनका ज्ञान परिपुष्ट था।

## व्यक्तित्व

विगत विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि विज्ञानभिक्षु का जन्म एक सम्भ्रान्त ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उन्होंने बड़ी लगन और अध्यवसाय के साथ विद्याध्ययन किया था। संस्कृत साहित्य, व्याकरण, वेद, वेदांग और समस्त दर्शनों का उन्होंने ज्ञान उपार्जित किया था। उनके दार्शनिक खण्डन-मण्डन-संकुल ग्रन्थों में भी कालिदास[२] और माघ[३] की पंक्तियाँ बरबस निकल पड़ी हैं। उनके साहित्यिक अनुशीलन का यह सबल द्योतक है। विवादास्पद पदों का व्युत्पत्ति-निमित्तक अर्थ देने[४] की पद्धति इनकी व्याकरण-परायणता की ही व्यञ्जक है। वेद, दर्शन और उपनिषदों के सम्बन्ध में तो इनकी कृतियाँ[५] साक्षात् प्रमाण हैं। दर्शन में स्मृतियों और पुराणों के सहयोग सिद्ध करने में तो ये अद्वितीय सजग प्रहरी रहे हैं। विद्याव्यसन और अंकुरित होते हुए वैराग्य के कारण इन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। गृहस्थ जीवन के प्रति ये उदासीन रहे यह बात उनकी गृहस्थ साधकों के प्रति प्रदर्शित हीन दृष्टि से सुस्पष्ट है।[६] गुरु से दीक्षा लेने के उपरान्त इन्होंने एकान्त योग-साधना का मार्ग ग्रहण किया। ये एक त्रिदण्डी संन्यासी थे।

योगसाधना में पर्याप्त सफलता प्राप्त[७] करके इन्होंने उपदेश देना और ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ किया होगा क्योंकि अपने योगानुभव का उल्लेख

---

१. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० १९८
२. 'विषमप्यमृतंक्वचिद्भवेद्'।—यो० वा० पृ० ३१३
३. 'बुद्धेर्भोग इवात्मनि'।—सां प्र० भा० पृ० ५५
४. 'चिती संज्ञान इतिव्युत्पत्त्या चेतनोऽत्राभिन्नः'—सां० प्र० भा० पृ० ८१ इत्यादि
५. द्रष्टव्य, उपनिषद्भाष्यम्, ईश्वरगीताभाष्यम् और अन्य ग्रन्थ।
६. " यो० सा० सं० पृ० ६०
७. "स्वानुभवसिद्धत्वात्"—यो० सा० सं० पृ० ८

अपने योग-ग्रन्थों में इन्होंने स्वयं किया है। इस समय तक इनके गुरु ने विदेहकैवल्यलाभ कर लिया था।[१] इनके शिष्य भी अनेक लोग हुए। इनके शिष्यों की संख्या बहुत थी। अनेक शिष्य गृहस्थ भी थे जिनमें से भावागणेश इत्यादि बहुत ही प्रसिद्ध हैं।[२] ग्रन्थ-प्रणयन के साक्षाद् वोध्य इनके शिष्य ही थे।[३] शिष्यव्युत्पत्ति[४] ही इनका अधिकांशतः लक्ष्य रहता था। इनके सिद्धान्त की युक्तियुक्तता और इनके ज्ञान की सर्वाङ्गीणता का पूर्ण विवेचन तो अगले अध्यायों में किया जायगा। हाँ यहाँ यह बताना अपेक्षित है कि इनको अपने ज्ञान पर निष्ठा थी और चरम कोटि की आस्था थी। इस आत्म-विश्वास की अधिकता के कारण उनके ग्रन्थों में विपक्षी विद्वानों के प्रति कुछ तीखे वाक्यों[५] और शब्दों[६] का प्रयोग हो गया है। शङ्कराचार्य आदि दिग्गज दार्शनिकों के लिए प्रच्छन्नबौद्ध[७] कलिकृतापसिद्धान्ती[८] और वेदान्तिब्रुव[९] प्रभृति पदों का प्रयोग न केवल उनके प्रबल आत्मविश्वास को प्रकट करता है अपितु तज्जन्य स्वभाव की उग्रता या प्रखरता का भी निश्चायक है।

उनकी निर्मम एवं तीव्र ज्ञानात्मकसाधना के अन्तराल में भक्ति-भावना का सुमधुर रस भी है। आगे के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायगा कि सांख्य, योग, और वेदान्त तीनों का समन्वयवाद (योग के प्राधान्य पर ही) विज्ञानभिक्षु ने निरूपित किया है। योग में ईश्वरवाद की गुंजायश है। विज्ञान-

---

१. यान्तु श्रीमद्गुरोः पदम्।—वि० भा० पृ० १
२. 'परिचयात्मक श्लोक' भा० गणेश चिच्चन्द्रिका के प्रारम्भ में।
३. इनके शिष्यों में भावागणेश, प्रसादमाधवयोगी और दिव्यसिंहमिश्र अधिक प्रसिद्ध हैं। 'शरीरकारिकाभाष्यवार्तिककार' दिव्यसिंह ने स्पष्ट ही विज्ञानभिक्षु की शिष्यता का वर्णन किया है और प्रसादमाधवयोगी को वि० भि० के शिष्यों में सबसे अधिक व्युत्पन्न बताया है।—हालकृत भूमिका 'सांख्यसार' पृ० ३८
४. द्रष्टव्य वि० भा० पृ० ३३ इत्यादि
५. वि० भा० पृ० ४, १६, ३८, ८७, १२५, ६०५ इत्यादि
६. 'यत्तुकश्चिदविवेकी' इत्यादि सां० प्र० भा० पृ० ९२
७. 'यत्तु वेदान्तिब्रुवाणामाधुनिकस्य मायावादस्यात्रलिङ्गं दृश्यते—अनयैव च रीत्या नवीनानामपि प्रच्छन्नबौद्धानांमायावादिनामविद्यामात्रस्य तुच्छस्य बन्धहेतुत्वम् निराकृतं वेदितव्यम्।'—सां० प्र० भा० पृ० १७ इत्यादि
८. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० २६
९. 'इत्यादिनैकस्थलेषु'—सां० प्र० भा०, वि० भा०, यो० वा० पृ० ११० इत्यादि

भिक्षु की अन्तरात्मा ने ईश्वरवाद के रससिन्धु में अपने ज्ञानचक्षु धोए थे। इसीलिए योगसाधना के ईश्वरमार्ग को मुख्यकल्प और निरीश्वर साधना-पथ को अनुकल्प के रूप में विज्ञानभिक्षु ने प्रतिपादित किया है। उन्होंने स्वयं मुख्यकल्प की ही शरण ली थी। वे एक भक्त ज्ञानी थे। उनका साध्य ज्ञान और तज्जन्य कैवल्य था, साधन थी भक्ति। इस प्रकार से वे भक्ति-मार्गी ज्ञानी थे। ज्ञानमार्गी भक्त नहीं। उनके ज्ञान का लक्ष्य इष्टदेव के श्रीचरणों की भक्ति या रति नहीं है। उनकी भक्ति का लक्ष्य विवेचन-ज्ञान या विवेक-ख्याति है। १६वीं या १७वीं शताब्दी में भारतीय-भक्ति-जागरण के समय में अपने शिष्यों या स्वयम् अपने को शुष्क ज्ञान-मार्गी रख सकना उनके लिए भी असम्भव ही था। इसीलिए अपनी रचनाओं में आये हुए प्रसंगों में राम और कृष्ण का नाम उन्होंने बड़े आदर से लिया है।[1] उन्हें विष्णवादि के अंशावतार रूप में स्वीकृत भी किया है। किन्तु उन्हें साक्षात् वह परमेश्वर नहीं माना है जो कि ज्ञानात्मक दृष्टि का उदात्त-विन्दु है, निर्गुण है, निर्विशेष है और असङ्ग है। यह परमेश्वर भक्तों की भावभीनी कल्पनाओं का सुमधुर प्रतीक नहीं। विज्ञानभिक्षु का अमर-संदेश ज्ञानचक्षुओं को खोलने के लिए है, भक्तिभावना में विभोर होकर नेत्र वन्द करने के लिए नहीं। उनके हरि मोक्षस्वरूप नहीं हैं केवल मोक्षद अर्थात् मोक्ष-मार्ग को प्रशस्त करने वाले हैं[2]।

निश्चय ही विज्ञानभिक्षु ने दीर्घायु पायी थी। अपनी साधनाओं के पश्चात् उन्होंने ग्रन्थलेखन प्रारम्भ किया और शिष्य बनाए थे, जिनके लिए उन्होंने अपने व्याख्याग्रन्थ लिखे और सैद्धान्तिक खण्डन-मण्डन में बद्धपरिकर हुए। ग्रन्थ उन्होंने लगभग १८ लिखे हैं,[3] वे भी विशालकाय और विचार-विश्लेषणपूर्ण। साधनाएँ प्रौढ़ हुए विना प्रशस्त नहीं हो सकती थीं। अतः साधनाओं की प्रौढ़ि के बाद इतनी विशाल ग्रन्थ-राशि के प्रणयन के लिए दीर्घकाल का अवसर सुलभ होना चाहिए। इसलिए उनके जीवन-काल को हम कम से कम ८०-८५ वर्ष तक प्रसृत समझ सकते हैं। अपने अन्तिम दिनों में उन्होंने चिरसमाधि ले ली होगी।

---

१. द्रष्टव्य, यो० सा० सं० पृ० ६३, सां० प्र० भा० पृ० ११५, सां० प्र० भा० पृ० १३२
२. 'प्रीयतां मोक्षदो हरिः।'—सां० प्र० भा० मङ्गलाचरणम् पृ० १
३. रचनाओंवाले अध्याय में इन ग्रन्थों का सम्यक् वर्गीकरण होगा।

# जीवन-काल

## पृष्ठभूमि

विज्ञानभिक्षु के समय का निर्धारण करना भी उनकी आत्मगोपन की प्रवृत्ति के कारण काफी जटिल विषय है। भारतीय वाङमय के इतिहास-लेखकों ने सामान्य ढंग से उन्हें सोलहवीं शताब्दी का आचार्य माना है। प्रो० ए० बी० कीथ महोदय ने इस प्रसंग में बड़ी अनिश्चितता प्रदर्शित की है। अपने ग्रन्थ 'सांख्य सिस्टम'[१] में उन्होंने विज्ञानभिक्षु की स्थिति १६वीं शताब्दी में मानी है किन्तु अपने एक अन्य ग्रन्थ (संस्कृत वाङमय का इतिहास–अंग्रेजी संस्करण)[२] में विज्ञानभिक्षु का समय उन्होंने १७वीं शताब्दी का मध्य भाग स्वीकार किया है। श्रीयुत एफ़० ई० हाल,[३] डा० रिचर्ड[४] गार्बे, प्रो० एम० विन्तरनिट्ज़[५], डा० एस० एन० दासगुप्त[६] एवं डा० राधाकृष्णन्[७] इत्यादि विद्वानों ने विज्ञानभिक्षु का समय १६वीं शताब्दी ही निर्धारित किया है। चूंकि इस प्रसङ्ग में पर्याप्त प्रकाश का अभाव था और विरोध भी नहीं था इसलिए उक्त मनीषियों ने इस मत की पुष्टि के लिएं उपयुक्त तर्कों की प्रस्तावना भी अधिक नहीं की।

इस सम्बन्ध में डा० पी० के० गोडे ने अपने एक गवेषणापूर्ण लेख[८] में एक नई सूचना दी है कि विज्ञानभिक्षु के सुप्रसिद्ध शिष्य भावागणेश के द्वारा हस्ताक्षरित एक निर्णय पत्र (१५८३ ई०) का मिला है जिससे विज्ञानभिक्षु और भावागणेश दोनों का कालनिर्णय बड़ी सुविधा से '१६वीं शताब्दी' किया जा सकता है। यह निर्णयपत्र[९] वनारस में मुक्तिमण्डप पर लिखा गया था। इसका

---

१. Sāṃkhya System. P. 114 by A.B. Keith.

२. History of Saṃskrita Literature P. 489 by A. B. Keith.

३. Preface to the Sāṃkhya Sāra P. 37 F. E. Hall.

४. Preface to the Sāṃkhya Sutra Vritti P. 8 by Dr. R. Garbe.

५. Indian Literature (German Ed.) P. 457 by M. Winternitz.

६. History of Indian Philosophy Vol. I PP. 212, 221 by—S. N. Das Gupta.

७. Indian Philosophy Vol. II by S. Radha Krishnan.

८. Adyar Library Bulletin Feb. 1944.

९. Chitle Bhatta Prakarana P. 76 by R. S. Pimputkar, Bombay 1926.

समय शक सं० १५०५ (१५८३) ई० है। इसमें तात्कालिक वाराणसीय ब्राह्मण-वर्ग के मुखियों की सम्मति और उनके हस्ताक्षर हैं। उसमें भावागणेश विषयक लेख इस प्रकार है—'तत्र संमतिः। भावये गणेशदीक्षित प्रमुखचिपोलणे।'

गोडे महोदय ने तर्कभाषा की टीका तत्त्वप्रबोधिनी के रचयिता गणेश दीक्षित[1]—जिनके पिता का नाम गोविन्द और माता का नाम उमा था—और विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश दीक्षित[2]—डोनों जिनके पिता का नाम विश्वनाथ और माता का नाम भवानी था[3]—दोनों को एक ही व्यक्ति मानने की भी सम्भावना की है और उस लेख की पादटिप्पणी[4] में इसका हल्का संकेत किया है। इस मान्यता से निर्णयपत्र में हस्ताक्षर करने वाले 'भावयेगणेशदीक्षित' को निस्संदेह रूप से एकमात्र विज्ञानभिक्षु के शिष्य रूप में मानने की सम्भावना और वढ़

---

१— Aufrecht ने नामसाम्य के भ्रम से इस ग्रन्थ को भी भावा-गणेश की ग्रन्थ-सूची में गिना दिया है: cc. I. 144 —'भावागणेशदीक्षित' son of भावाविश्वनाथदीक्षित, grandson of 'भावारामकृष्ण' pupil of Vijñānabhikshu.

—कपिलसूत्रटीका Oudh XIV, 70.

—चिच्चन्द्रिका प्रबोधचन्द्रोदयटीका
oxf 141a, oudh XX; 60 Peters 5, 425.

—तत्त्वप्रबोधिनी, तर्कभाषाटीका
Burnell 118b oppert 1456, 7976, Rice 108.

—तत्त्वसमासयाथार्थ्यदीपन
Hall p. 4. L. 1757, N. W. 386, 394, 396 oudh 1876, 12. XIV, 70 XVIII, 60.

—योगानुशासनसूत्रवृत्ति
Hall p. 11, Ben 60, N. W. 418, oudh, XVI 130, Rice 190.

२. भाष्ये परीक्षितो योऽर्थोवार्तिके गुरुभिःस्वयम्। योगानुशासनसूत्रवृत्तिः पृ०१। गुरुभिश्चवार्तिकेऽपि कियन्तः प्रदर्शिताः। पृ०५५ मङ्गलाचरणश्लोकाः। तत्त्वसमासयाथार्थ्यदीपनम्। और वही पृ०८५,८८

३. प्रबोधचन्द्रोदय की चिच्चन्द्रिकाटीका का प्रथम श्लोक 'आसीद्भावोप-नामा . . .स्तु' ॥

आसीद्भावोपनामाभुविविदितयशा रामकृष्णोऽतिविज्ञः
तस्माद्भार्यां विनीतोविविधगुणनिधिर्विश्वनाथोऽवतीर्णः।
तस्मात्प्रख्यातकीर्तेर्विविधमखकृतः प्रादुरासीद्भवान्याम्
श्रीसत्यां यो गणेशो भुविविदितगुणस्तस्यचिच्चन्द्रिकास्तु ॥

४. Can we equate Vishwanātha with Govinda and Bhavāni with Umā?"

—Adyar Library Bulletin Vol. VIII Part I Feb. 1944, P. 20.

जाती है क्योंकि अन्य कोई गणेशदीक्षित उन दो-तीन शताब्दियों में उल्लेखनीय या प्रसिद्ध हुआ ही नहीं है।

डा० गोडे के मतों का खण्डन उदयवीर शास्त्री ने अपने 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ में बड़े मनोयोग से किया है[1] और साथ ही साथ यह मत उपस्थित किया कि विज्ञानभिक्षु १४वीं शताब्दी में हुए। उनके विचारों का सारांश यह है—

(१) विश्वनाथ और गोविन्द तथा उमा और भवानी की एकता असंगत होने के कारण भावागणेश और तत्त्वप्रबोधिनीकार गणेशदीक्षित की अभिन्न-व्यक्तिता एकदम निराधार है।

(२) विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश ने अपने नाम के साथ कहीं भी दीक्षित पद का प्रयोग नहीं किया। अतः आफ्रेक्ट और हाल का अपने हस्तलिखित-ग्रन्थ-सम्बन्धी निर्देशों में भावागणेश के साथ 'दीक्षित' पद का प्रयोग करना सर्वथा भ्रान्तिमूलक है।

(३) 'भावा' और 'भावये' पद भिन्न-भिन्न हैं। एक ही व्यक्ति अपने लिए 'भावा' और 'भावये' दोनों पदों का प्रयोग अलग-अलग स्थलों पर नहीं कर सकता। भावये पद भावे के निकट है भावा के नहीं। अतः निर्णयपत्र में हस्ताक्षर करनेवाला भावयेगणेश दीक्षित विज्ञानभिक्षु का शिष्य भावागणेश नहीं है। फलतः निर्णयपत्र से विज्ञानभिक्षु के समय पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

(४) प्रत्युत विज्ञानभिक्षु अनिरुद्ध एवं महादेव के परवर्ती[2] और अद्वैत-ब्रह्मसिद्धिकार सदानन्द[3] यति के पूर्ववर्ती हैं।

---

१. द्रष्टव्य, पृ० २९३–२९८ पर्यन्त 'सांख्यदर्शन का इतिहास' : पं० उदयवीर शास्त्री। यह ग्रन्थ सन् १९५० ई० में विरजानन्द वैदिक संस्थान, ज्वालापुर, सहारनपुर, से प्रकाशित हुआ है।

२. विज्ञानभिक्षु ने अपने सांख्यभाष्य के अनेक स्थलों पर अनिरुद्धवृत्ति का खण्डन और संकेत किया है—पृ० १४, १५, २४, ३३, ५२, ८८, ८९, ९२, १०४, १४२, १४५, १६२ इत्यादि। जिन जिन प्रमुख पाठभेदादि का निर्देशपूर्वक खण्डन उन्होंने किया है, वे सब अनिरुद्धवृत्ति में उपलब्ध होते हैं।

३. सदानन्द यति ने जो कश्मीर निवासी थे 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' नाम का प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है। वे प्रबल शंकरानुयायी थे। आफ्रेक्ट के अनुसार वे ग्रन्थ हैं—
१-अद्वैतब्रह्मसिद्धि २-स्वरूपनिर्णय ३-स्वरूपप्रकाश ४-जीवन्मुक्ति प्रक्रिया।

सदानन्दयति ने विज्ञानभिक्षु का नामोल्लेखपूर्वक खण्डन किया है[1]।

(५) सदानन्द यति ने अपने ग्रन्थ 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' में रामानुज और मध्व का ज़ोरदार खण्डन किया है किन्तु वल्लभ और निम्बादित्य की ओर कोई संकेत तक नहीं किया। इससे निश्चित होता है कि वे वल्लभ से पूर्ववर्ती हैं। निम्बादित्य तो वल्लभ से भी बाद के हैं। वल्लभ का समय बिल्कुल निर्णीत है (१४७८ ई० में उनका जन्म हुआ था)।

(६) सदानन्दयति के अन्यतम ग्रन्थ वेदान्तसार[2] के सम्बन्ध में लिखते समय प्रो० ए० बी० कीथ ने भी सदानन्दयति का समय १५०० ई० के कुछ पूर्व ही स्वीकृत किया है।[3]

(७) इससे स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञानभिक्षु सदानन्द से पर्याप्त पूर्व हो चुके थे। किसी भी तरह से विज्ञानभिक्षु को चौदहवीं शताब्दी के बाद का नहीं माना जा सकता। अतः निश्चित रूप से विज्ञानभिक्षु का समय १३५० ई० के समीप पूर्व ही माना जा सकता है।[4]

## समय-निर्धारण

विज्ञानभिक्षु के समय के विषय में उनके समग्र ग्रन्थों के गहन अध्ययन से प्राप्त निर्णय को इङ्गित करने के पूर्व ऊपर दिये गये विचारों का विवेचन कर लेना अधिक उपादेय होगा। सम्भव है काम की कुछ बातें इन विचारों के अनुशीलन-परिशीलन से भी मिल जायें। पं० उदयवीर शास्त्री का यह मत कि—तत्त्वप्रबोधिनीकार गणेशदीक्षित और विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश एक ही व्यक्ति नहीं हैं—उपयुक्त है। गोडे महोदय की यह सम्भावना

---

पं० उदयवीर शास्त्री ने इस ग्रन्थ-तालिका में वेदान्तसार, पंचदशीटीका और अद्वैतदीपिका-विवरण जोड़ दिये हैं और स्वरूपनिर्णय तथा स्वरूपप्रकाश को नहीं गिना है।—सां० द० का इतिहास, पृ० २९९

१. यच्चात्र सांख्य-भाष्य-कृता विज्ञानभिक्षुणा समाधानत्वेन प्रलपितम्। —अ० ब्र० सि० द्वितीय संस्करण, कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित, पृ० २७

२. पं० उदयवीर शास्त्री ने 'वेदान्तसार' को सदानन्दयति की रचना बताया है।—सांख्यदर्शन का इतिहास पृ० ३०१

३. द्रष्टव्य, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर पृ० ३०१

४. द्रष्टव्य, सां० द० का इतिहास, पृ० ३०४

कि विश्वनाथ और गोविन्द तथा उमा और भवानी एक ही माने जा सकते हैं सर्वथा निराधार है, क्योंकि इस प्रकार का नामभेद बिना व्यक्तिभेद के सम्भव नहीं है। साथ ही इस प्रकार वाच्यार्थ के बल पर नामों की समानता करने पर तो जाने कितने आदमी दूसरे आदमियों के स्थान पर ग्रहण किये जा सकते हैं। इस प्रकार बहुत बड़ी अव्यवस्था हो जाती है।

तथापि गोडे महोदय की यह सूचना कि विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश ने निर्णयपत्र पर हस्ताक्षर किया है--समीचीन प्रतीत होती है। इस विषय में शास्त्री जी द्वारा प्रस्तुत आपत्तियों की समीक्षा इस प्रकार की जा सकती है--

(क) विज्ञानभिक्षु के शिष्य भावागणेश ने अपने ग्रन्थों में 'दीक्षित' पद का प्रयोग अपने या अपने पिता विश्वनाथ के नाम के साथ कहीं नहीं किया--यह बात ग़लत है। तत्त्वसमासयाथार्थ्यदीपन की परिसमाप्ति करते हुए पुष्पिका में अपने पिता का नामोल्लेख 'विश्वनाथदीक्षित' रूप में ही भावागणेश ने किया है।[1] इसलिए भावागणेश के दीक्षित होने में सन्देह करना असंगत है।

(ख) भावा और भावये शब्द की भिन्नार्थकता या अलग-अलग अस्तित्व मानना भी उचित नहीं है। संस्कृत भाषा में प्रयोक्तव्य रूप भावा ही था। इसलिए संस्कृत ग्रन्थ लेखन के समय गणेश अपने को भावा ही लिखते थे 'भावये' नहीं। निर्णयपत्र में हस्ताक्षर करते समय यद्यपि वह अपने को भावा भी लिख सकते थे किन्तु दैनिक व्यवहार में अन्य लोगों के द्वारा उच्चरित होनेवाले पद का प्रयोग करना अस्वाभाविक नहीं है। उस निर्णयपत्र में हस्ताक्षर करने वाले 'बखले कृष्णभट्ट प्रमुख कह्राडे' इत्यादि प्रमुख लोगों ने भी बोलचाल के व्यवहार में प्रचलित नाम लिखे हैं उनके संस्कृत रूप नहीं।[2] इसी निर्णयपत्र में एक 'भावये हरिभट्ट' भी निर्दिष्ट हैं जो कि 'भावयेगणेश' दीक्षित 'प्रमुखचिपोलणे' के भाई या चाचा

---

१. 'इति श्री भावाविश्वनाथदीक्षितसूनुभावागणेशविरचितं तत्त्वयाथार्थ्य-दीपनं समाप्तम्।'—पुष्पिका त० या० दी० चौखम्भा सं० सी० में प्रकाशित।

२. निर्णयपत्र १५८३ ई०।

थे[1]। महाराष्ट्र ब्राह्मणों का यह परिवार जो कि बोलचाल में 'भावये' कहा जाता था १६वीं शताब्दी में बनारस में प्रतिष्ठित रूप में निवास करता था। यदि महाराष्ट्र निवासी 'भावे' नामक ब्राह्मणवंश से व्यतिरिक्त यह कोई महाराष्ट्र ब्राह्मणवंश बनारस में आकर 'भावये' नाम से प्रसिद्ध होकर रहता था तो इसका उद्गम महाराष्ट्र में 'भावये' या 'भावा' नाम से प्रसिद्ध ब्राह्मण-वंश से होना चाहिए। परन्तु महाराष्ट्र में 'भावये' या 'भावा' नाम से प्रसिद्ध कोई भी ब्राह्मणकुल न आज है और न चार-पाँच पिछली शताब्दियों में कभी विद्यमान था[2]।

ऐसी दशा में 'भावये' शब्द को महाराष्ट्र में प्रचलित 'भावे' शब्द का तात्कालिक बनारसी संस्करण मानने के अतिरिक्त और कोई इस प्रश्न का समाधान ही नहीं हो सकता। १६वीं शताब्दी में भी महाराष्ट्र में 'भावे' शब्द ही प्रचलित था[3]। इसीलिए शास्त्री जी की यह मान्यता कि 'भावये' शब्द ही धीरे-धीरे 'भावे' के रूप में परिवर्तित हो गया है[4]—अमान्य है। इतने ऊहापोह के पश्चात् हम यह निर्णय निकाल सकते हैं कि जो वंश सोलहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में 'भावे' नाम से प्रसिद्ध था वही महाराष्ट्रीय ब्राह्मणवंश बनारस में उस समय 'भावये' नाम से प्रसिद्ध था। गणेश दीक्षित या गणेश भट्ट और हरिभट्ट तथा विश्वनाथ दीक्षित उसी 'भावये' वंश या 'भावे' वंश के ब्राह्मण थे। भावे लोग अपने नाम के आगे 'भट्ट' और 'दीक्षित' दोनों या दो में से किसी एक शब्द का

---

१. डा० पी० के० गोडे के लेख में पृ० २५ : अ० ला० बु० वाल्यूम १, फर्वरी १९४४

२. द्रष्टव्य 'भावेकुलवृत्तान्त'-जी० वी० भावे पूना, १९४० ई०

३. यहाँ के एक धाकुलभटभावे वेतोसी (vetoŚi) चले आए थे लगभग १६०० ई० में।
द्रष्टव्य, भा० कु० वृ० १९४० ई० पृ० १६

४. यह सम्भव है कि बाद में (१७वीं, १८वीं) शताब्दी तक महाराष्ट्र से उत्तर भारत का सम्पर्क बढ़ने पर (मुग़लों और मराठों के शासन काल में) बनारस के 'भावये' लोग भी अपने को महाराष्ट्र स्थित अपने वंशवाले लोगों की भाँति अपने को भावे कहने लगे हों। जैसा कि द्रष्टव्य है—निर्णयपत्र सन् १६५७ ई० "संमतम् भावेरुद्रदीक्षितस्य।"—डा० पी० के० गोडे द्वारा निर्दिष्ट।

भी प्रयोग करते थे।[1] भावयेगणेशदीक्षित ने अपने संस्कृत ग्रन्थों में इस 'भावये' शब्द का संस्कृतीकरण करके 'भावागणेश' पद का प्रयोग किया होगा। इस विवेचन काल में एक बात सर्वथा स्मरणीय है कि निर्णयपत्र में यद्यपि 'तत्रसम्मतिः' या 'तत्रसम्मतम्' पद भले ही संस्कृत भाषा में हो किन्तु हस्ताक्षरों की भाषा संस्कृत नहीं है अथवा यों कहा जा सकता है कि हस्ताक्षरों में संस्कृत-व्याकरणगत-समासादि नियम का पालन नहीं किया गया है। हस्ताक्षर उसी रूप में किए गए हैं जिस रूप में तात्कालिक बोलचाल में वे नाम उच्चारित किए जाते थे।—इस बात में कोई अनुपपत्ति भी नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि गोडे महोदय द्वारा दी गयी सूचना कि—भावागणेश द्वारा हस्ताक्षरित सन् १५८३ ई० का निर्णयपत्र विज्ञानभिक्षु और उसके शिष्य के समय-निर्णय में प्रकाश डालता है—शास्त्री जी की निर्बल और अनुपयुक्त दलीलों के आधार पर त्याज्य और हेय नहीं मानी जा सकती। विज्ञानभिक्षु के समय निर्णय-प्रसंग में यह तथ्य उपोद्बलकरूप में अवश्य ग्रहण करने योग्य है।

(ग) शास्त्री जी का यह मत कि विज्ञानभिक्षु अनिरुद्ध से बाद के और अद्वैत ब्रह्मसिद्धिकार सदानन्द यति से पहले के हैं, सर्वमान्य है। इस विषय में हमें कोई आपत्ति नहीं। किन्तु इन दोनों व्यक्तियों के काल के विषय में उनके मत[2] बिल्कुल ही अप्रामाणिक हैं। हम अगले शीर्षकों में इस तथ्य का विवेचन करेंगे। यह बात अलबत्ता अग्राह्य है कि महादेव वेदान्ती विज्ञानभिक्षु के पूर्ववर्ती हैं। न तो महादेव वेदान्ती के द्वारा विज्ञानभिक्षु के सांख्यसूत्रभाष्य का उद्धरण अपने 'सांख्यवृत्तिसार' में न देना उन्हें विज्ञानभिक्षु से पूर्ववर्ती बनाता है और न ही अन्य कोई ऐसा अन्तः या बाह्य साक्ष्य सुलभ होता है। 'सांख्यवृत्तिसार' नामक महादेव का ग्रन्थ सांख्यसूत्र की स्वतंत्र टीका नहीं है, यह तो ग्रन्थ के नामकरण से ही स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ अनिरुद्ध की 'सांख्यसूत्रवृत्ति' का सारांश मात्र है। अतः इसमें केवल अनिरुद्ध के विचारों और उसके व्यक्तिगत निर्देशों से तथा इसमें विज्ञानभिक्षु

---

१. भावे रुद्रदीक्षितस्य, भावयेगणेशदीक्षितस्य, भावागणेशभट्टस्य—यो० सू० वृ० (पुष्पिकाएँ) भावयेहरिभट्टः (१५८३ ई० के निर्णयपत्र में), धाकुलभटभावे : भा० कु० वृ०, पृ० १६

२. सां० द० का इतिहास पृ० ३१६ पं० ९ और पृ० ३०१ पं० १२-१३

के अनिर्देश से महादेव का विज्ञानभिक्षु से पूर्ववर्त्तित्व नहीं सिद्ध होता। प्रत्युत महादेव वेदान्ती के समय का निर्णायक एक श्लोक[1] विष्णुसहस्रनाम की टीका में समुपलब्ध होता है जिसके बल पर हम महादेव वेदान्ती को १७वीं शताब्दी ई० से पूर्व ला ही नहीं सकते। अतः महादेव वेदान्ती विज्ञानभिक्षु के परवर्ती ही सिद्ध होते हैं पूर्ववर्ती नहीं।

(घ) सदानन्द यति का समय निश्चित करने में शास्त्री जी ने दो प्रमाण दिये हैं। पहला प्रमाण यह है कि वे वल्लभ से पूर्ववर्ती हैं क्योंकि उन्होंने अद्वैतब्रह्मसिद्धि में वल्लभ और निम्बार्क का खण्डन नहीं किया और दूसरा प्रमाण यह है कि प्रो० ए० बी० कीथ ने सदानन्द यति के अन्यतम ग्रन्थ वेदान्तसार का समय १५०० ई० के कुछ पूर्व निश्चित किया है। इनमें से पहला तर्क अद्वैतब्रह्मसिद्धि की भूमिका लिखते समय वामन शास्त्री इस्लामपुरकर[2] के द्वारा पहले ही दिया गया था। इस मत में कोई जान नहीं है। अनेक प्रकार के वेदान्त शाखावलम्बियों में से सदानन्द यति ने केवल उन्हीं पर मुद्गर-प्रहार किया है[3] जिन्होंने शंकर को 'प्रच्छन्नबौद्ध' 'संकर' 'वेदान्तिब्रुव' 'आधुनिकवेदान्ती' आदि अपशब्दों से अभिहित किया था जैसे रामानुज, मध्व और विज्ञानभिक्षु। अद्वैतब्रह्मसिद्धि में विद्यारण्यमुनीश्वर और वेदान्तमुक्तावलीकार तथा वेदान्तकौमुदीकार का भी[4] निर्देश है किन्तु वे सब शंकरानुयायी की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे सदानन्द यति के लिए न तो वल्लभ और निम्बार्क शंकरानुयायी थे, और न ही उन्होंने कहीं भी अपने भाष्यों में शंकर के लिए एक भी अपशब्द का प्रयोग किया। उन लोगों ने शंकर को पूर्वपक्ष

---

१. ए० वेनिसकृतभूमिका—(वेदान्त–सिद्धान्तमुक्तावली)

श्रीमत्स्वयंप्रकाशाङ्घ्रिलब्धवेदान्तिसम्पदः
महादेवोऽकरोद्व्याख्यां विष्णुसहस्रनामगाम्।
खबाणमुनिभूमाने वत्सरे श्रीमुखाभिधे
मार्गासिततृतीयायां नगरे ताप्यलंकृते॥

—महादेववेदान्तिकृत विष्णुसहस्रनाम की टीका में पुष्पिका।

इस श्लोक के रचयिता ने इस ग्रन्थ की रचना १७५० वि०, १६९३ ई० में की है, यह निश्चित है।

२. द्रष्टव्य, संस्कृत-भूमिका—अद्वैतब्रह्मसिद्धि
३. ,, अद्वैतब्रह्मसिद्धि, पृ० १३०, १४३ इत्यादि
४. ,, अद्वैतब्रह्मसिद्धि

के रूप में उत्थापित करके अपने भाष्यों में कहीं भी जोरदार शब्दों में खण्डित भी नहीं किया है। ऐसी स्थिति में बहुत सम्भव है कि इस निर्दोषिता के कारण सदानन्दयति के मुद्गर-प्रहार के शिकार न बने हों। इस बल पर सदानन्द यति को वल्लभ का पूर्ववर्ती मानना ठीक नहीं है।

शास्त्री जी का दूसरा तर्क तो भ्रान्ति की चोटी का नमूना है। सभी संस्कृत-इतिहासवेत्ता इस बात को जानते हैं कि सदानन्दयति कश्मीर-निवासी थे। उन्होंने 'वेदान्तसार' की रचना नहीं की।[1] 'वेदान्तसार' के रचयिता सदानन्दयति हैं जो कि रावलपिण्डी के निकट कुन्त्रील नामक गाँव में पैदा हुए थे और बाद में काशी में रहते थे,[2] उनके गु . का नाम श्री अद्वयानन्द था।[3] जब कि सदानन्द यति के गुरु श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती थे। दोनों व्यक्तियों को एक समझ कर उन्होंने भ्रान्ति की हद कर दी है। अतः यह निर्विवाद है कि वेदान्तसार के आधार पर सदानन्दयति का समय निश्चित करना बिल्कुल व्यर्थ है।

अद्वैतब्रह्मसिद्धिकार सदानन्दयति का समय निश्चित करना अभी तक इतिहास की एक समस्या है किन्तु उसकी सम्भावित सीमा का निर्देश करना यहाँ पर भी अपेक्षित है। सदानन्दयति ने पृ० ९ पर रघुनाथशिरोमणि का नामोल्लेखपूर्वक मत-खण्डन किया है।[4] रघुनाथशिरोमणि का समय सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध (१४७७–१५४७ ई०) लगभग निश्चित है[5]। इस तथ्य का बाधक प्रमाण अभी तक कोई नहीं मिला। अब चूँकि बंगाल के नदिया प्रदेश में लिखे गये उनके ग्रन्थ को कश्मीर तक पहुँच कर पठन-पाठन-प्रणाली में प्रसिद्ध होने में तात्कालिक देशीय परिस्थिति की पृष्ठभूमि में कम से कम पचास-साठ वर्ष अवश्य लगे होंगे। इसलिए रघुनाथशिरोमणि का स्फुट निर्देश करनेवाले ग्रन्थ अद्वैतब्रह्मसिद्धि के रचयिता सदानन्दयति

---

१. प्रो० एम्० हिरियन्ना वाला वेदान्तसार का संस्करण पृ० १७
२. लक्ष्मणशास्त्री द्राविड द्वारा प्रकाशित 'अद्वैतसिद्धिसार' की भूमिका पृ० १३–१५
३. द्रष्टव्य, मङ्गलाचरण (वेदान्तसार और अद्वैतब्रह्मसिद्धि)
४. एतेन यत्पदार्थखण्डनेशिरोमणिना—परमाणुसद्भावे..... प्रष्टव्या इत्यादि वल्गितं तदप्ययास्तम् अपसिद्धान्तत्वात्। अद्वैतब्रह्मसिद्धि पृ० ९
५. द्रष्टव्य, हिस्ट्री आफ़ इण्डियन लाजिक पृ० ४६३-५ (रघुनाथशिरोमणिविषयक अध्याय)

का समय १७वीं शताब्दी ई० के पूर्व नहीं माना जा सकता। इस्लामपुरकर तथा अन्य इतिहासकार भी इसी बात से सहमत हैं।

इन सारे तथ्यों के सांगोपांग विवेचन करने से स्पष्ट है कि पं० उदयवीर शास्त्री के द्वारा प्रस्तावित विज्ञानभिक्षु का समय १४वीं शताब्दी ई० केवल कपोलकल्पित, निर्मूल एवं सर्वथा अग्राह्य है।

## समय की पूर्वसीमा

विज्ञानभिक्षु के कालनिर्णय की इस अनिश्चयात्मक पृष्ठभूमि में हमें कतिपय अन्य सशक्त युक्तियों और साक्ष्यों पर दृष्टि डालनी चाहिए।

(१) विज्ञानभिक्षु के ग्रन्थों में अनिरुद्ध[1] और वाचस्पति[2] मिश्र के मतों के खण्डन के अतिरिक्त चित्सुख के मतों का भी खण्डन हैं। चित्सुख के द्वारा 'तत्त्वप्रदीपिका' में स्थापित 'स्वप्रकाशत्व' के लक्षण[3] को विज्ञानभिक्षु ने अनेक स्थलों पर निर्दिष्ट किया है और 'योगवार्तिक' में तो स्पष्टतः उसका खण्डन किया है—

'यत्तु अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष-व्यवहार-योग्यत्वं स्वप्रकाशत्वमित्याधुनिक-वेदान्तिब्रुवाणां प्रलपनं तत्प्रागेव निराकृतम्' (यो० वा० ४।१४ सूत्र के सन्दर्भ में पृ० ४२९)

(२) विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक कैवल्यपाद में श्रीहर्ष[4] का नामोल्लेख किया है :—

'स्वप्नादिदृष्टान्तेन श्रीहर्षादीनामसत्खण्डनेन च वेदान्तज्ञानतज्जन्यज्ञानयोरपि भ्रमत्वापत्त्या वेदान्तप्रामाण्यासिद्धौ तत्प्रतिपाद्यब्रह्मासिद्धिप्रसंगात्' (पृ० ४२० यो० वा० ४।१४ सूत्र के सन्दर्भ में)

(३) विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिकसाधनपाद में कर्मसिद्धान्त पर वार्तिक का उपसंहार करते हुए कर्म के 'एकभविकत्व' का सिद्धान्त खण्डित करने वाले वेदान्ती श्री रामाद्वयाचार्य[5] : वेदान्तकौमुदीकार : का स्फुट खण्डन किया है—

---

१. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ३३, १४, १५ इत्यादि
२. ,, यो० वा० पृ० १२, ३०, ५३ इत्यादि
३. 'अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यतायास्तल्लक्षणं तस्यादनाविलस्वप्रकाश-लक्षणम्। —पृ० ११ तत्त्वप्रदीपिका—चित्सुखाचार्य।
४. श्रीहर्ष जीवन-काल (१०२०-१०८० स० ई०) ए० एन्० जानीकृत 'ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ नैषधीयचरितम्, पृ० १२९
५. 'अथप्रायणं सर्वकर्मणां व्यञ्जकम् तानि च सर्वाणि मुमुक्षुर्देहनारभन्ते।...

'यच्चाधुनिकवेदान्तिभिरेकमविकमतं व्यभिचारेण दूषितं तद्ज्ञानादेव औत्सर्गिकमात्रस्य भाष्यकृतोक्त्त्वादिति सर्वं सुस्थम्।' (पृ० १४७ यो० वा० २।१३ सूत्र के सन्दर्भ में)

(४) विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक के साधनपाद में लिङ्ग-शरीर की विवेचना करते समय सांख्यसूत्र 'सप्तदशैकं लिङ्गमिति' में आये हुए एक शब्द के विषय में लिखा है—

'सांख्यशास्त्रे प्रोक्तम्' सप्तदशैकं लिङ्गमिति अत्र एकत्वं समष्ट्य-भिप्रायेणोक्तम्, व्यक्तिभेदः कर्मविशेषादित्युत्तरसूत्रेण व्यक्तिरूपत एकस्यैव लिङ्गशरीरस्य व्यक्तिभेदवचनात्, अयं च व्यष्टिसमष्टिभावो न वनवृक्षवत् किं तु पितापुत्रवदेव,

'तच्छरीरसमुत्पन्नैः कार्यैस्तैः करणैः सह।
क्षेत्रज्ञाः समजायन्त गात्रेभ्यस्तस्य धीमतः॥

इतिमन्वादिवाक्यैर्हिरण्यगर्भस्यश रीरद्वयांशैरेवाखिलपुंसा शरीरद्वयोत्पत्ति-रिति सिद्धेः, वनवृक्षयोस्तु नैवं कार्यकारणभावोऽस्ति इतिदिक्।'

(पृ० २१३ यो० वा० सूत्र २।१९ का सन्दर्भ)

इस अवतरण में लिङ्ग-शरीरविषयक व्यष्टिसमष्टिभाव का दृष्टान्त पिता-पुत्रवद् है वन-वृक्षवद् नहीं, इस बात पर पूरा ज़ोर डाला गया है। 'वनवृक्ष' वाले दृष्टान्त का खण्डन करने के लिए शास्त्रीय प्रमाणों का भी प्रदर्शन करना आवश्यक और अनिवार्य अनुभव किया गया है। विशेषकर ऐसे प्रकरण की व्याख्या करते हुए जहाँ पर किसी भी अन्य पूर्ववर्ती टीकाकार[1] ने लिङ्गशरीर के व्यष्टिसमष्टिभाव की चर्चा भी नहीं की। आख़िर विज्ञान-भिक्षु का यह अकाण्ड-ताण्डव क्यों?

निश्चय ही किसी प्रबल विपक्षी की इस संबंध की मान्यता का खण्डन करना ही यहाँ पर उनका अभीष्ट है। साथ ही यह मत किसी ऐसे आचार्य का नहीं हो सकता जिसका नाम इत्यादि लेना आवश्यक होता। अनेक दार्शनिक ग्रन्थों का आलोड़न-विलोड़न करके यह निश्चित रूप से पता

---

श्रुत्याद्यदर्शनाद् आम्नायसिद्धानेकविजातीयदेहभोग्यफलानां कर्मणा-मेकदेहारम्भकत्वानुपपत्तेश्च।...इतिव्यर्थाप्रायणस्य व्यञ्जकत्वकल्पना'
—वेदान्तकौमुदी पृ० ६५

१. द्रष्टव्य-तत्त्ववैशारदी and भोजराजवृत्ति on the भाष्य of सूत्र १९ पाद २।—योगसूत्र

चला है कि 'वेदान्तसार' नामक अद्वैतवेदान्तग्रन्थ के लेखक सदानन्द व्यास[१] ने इस प्रसंग में इसी पदावली में यह दृष्टान्त दिया है--

'अत्राप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया, वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिरनेक-बुद्धिविषयतया वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपिभवति ! ..अत्रापि समष्टिव्यष्ट्योस्तदु-पहितसूत्रात्मतैजसयोर्वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्चजलाशयजलतद्-गत प्रति-बिम्बाकाशवच्चाभेदः। एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः ।--वे० सा० पृ० ५-६

बहुत अंशों में सम्भावना हो जाती है कि वेदान्तसारकार सदानन्द व्यास का ही यहाँ पर खण्डन किया गया हो। 'वेदान्तसार' विज्ञानभिक्षु के समय तक काफ़ी लोकप्रिय हो चला था। कदाचित् इसी शैली के दो ग्रन्थों के शीर्षक विज्ञानभिक्षु ने भी रक्खे थे सांख्यसार और योगसार (संग्रह)। साथ ही, सांख्य और योग की भाँति यद्यपि उन्होंने वेदान्तसूत्रों पर भी भाष्य लिखा है तथापि उनका 'वेदान्तसार' नाम का कोई ग्रन्थ न लिखना, इस सम्भावना को और भी परिपुष्ट करता है कि यह 'अन्तःप्रेरणा' कहीं 'अनुकरण' नाम से ेष-रूप में न कही जाने लगे, इसीलिए 'वेदान्तसार' नाम का कोई ग्रन्थ उन्होंने नहीं लिखा है। यह बात स्मरणीय है कि रामानुजाचार्य द्वारा लिखा गया वेदान्तसार विज्ञानभिक्षु की अन्तःप्रेरणा का आदर्श इस दिशा में नहीं माना जा सकता क्योंकि उस ग्रन्थ में ससूत्र संक्षिप्त भाष्य दिया गया है जब कि विज्ञानभिक्षु के दोनों ही ग्रन्थों में तत्तद् शास्त्रों के सूत्रोपन्यासपूर्वक-विषय नहीं दिए गए हैं जैसा कि सदानन्द व्यास ने शैली चला दी थी। इन आधारों पर विज्ञानभिक्षु को सदानन्द व्यास से परवर्ती[२] मानने की सम्भावना पूर्णरूप में उपस्थित हो जाती है।

(५) विज्ञानभिक्षु ने अपने वेदान्तभाष्य में एक स्थल पर वेदान्तसूत्रों के शैवभाष्य वेदान्तसूत्र का निर्देश इस प्रकार किया है--

'अतएव वैष्णवाः शैवाश्चाविवेकिनो विष्ण्वाद्यतिरिक्तं परमेश्वरमविद्वांसो ब्रह्ममीमांसाशास्त्रं विष्ण्वादिपरतया व्याचक्षत इति मन्तव्यम्।'

(वि० भा० पृ० १३९)

ब्रह्मसूत्रों पर वैष्णवभाष्य रामानुज और मध्व आदि के निश्चित ही विज्ञानभिक्षु के पूर्व प्रसिद्ध थे। शैवभाष्य भी उनके सामने चाहे एक ही

१. P. C. Dewanji's Introduction to Siddhanta Bindu.
२. This writer flourished about the 15th c.A.D. according to P. C. Dewanji, A. B. Keith and M. Hiriyanna.

हों—अवश्य वर्तमान था, नहीं तो यह निर्देश कैसे होता! यह बात स्पष्ट है कि भारत का शैव सिद्धान्त बहुत प्राचीन है, किन्तु शैवमतानुकूल वेदान्त-सूत्रभाष्य नीलकण्ठ[1] का ही सर्वप्रथम है। अतः नीलकण्ठ से कम से कम सौ साल बाद या और अधिक बाद विज्ञानभिक्षु का होना निश्चित है।

इन अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर विज्ञानभिक्षु के समय की पूर्वसीमा हम निश्चित कर सकते हैं। वाचस्पति मिश्र (९वीं श० ई०), अनिरुद्ध, (लगभग ११वीं श० ई०), नीलकण्ठ, (१४वीं श० ई०) और सदानन्दव्यास (१५वीं श० ई०) के नाम या सिद्धान्तों का अथवा दोनों का निर्देश और खण्डन मण्डन करनेवाले विज्ञानभिक्षु १५०० ई० के बाद ही हुए होंगे इतना अब निस्संदेह कहा जा सकता है।

## समय की परसीमा

(१) विज्ञानभिक्षु की समय-सम्बन्धिनी पर-सीमा का निर्धारण करते समय हमारी दृष्टि सर्वप्रथम 'सांख्यसार' नामक उनके ग्रन्थ की १६२३ ई० में लिखित पाण्डुलिपि[2] पर जाती है। उसमें समय-निर्देश "सं० १६८० भादों सुदि १०" इस प्रकार से है। अतः विज्ञानभिक्षु १६२३ ई० के पूर्व हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

(२) सदानन्दयति,[3] भावागणेश,[4] नारायण तीर्थ[5] और नागेश-

---

१. The Shaiva Siddhānta rested on the two fold traditions of the Vedas and the Agamas and the systematic reconcilliation of the two was undertaken by Nilakaṇtha (fourteenth century A.D.) who wrote a commentary on the Brahmasutra, interpreting that work in the light of the Shaiva Siddhānta.

Indian Philosophy by Dr. Radha Krishnan P. 723-4.

२. The mss. of Sāṃkhyasāra by Vijñānabhikshu folio 19 size $9\frac{3}{4}'' \times 5\frac{1}{2}''$, 11 lines a page. Mss. no. 1597 c. This mss. reads as follows:

Catalogue of Sans. mss. by Eggeling Pt. IV Sl. No. 1823.

संवत् १६८० भादों सुदि १०।

३. यच्चात्रसांख्यभाष्यकृता विज्ञानभिक्षुणा समाधानत्वेन प्रलपितम्।
द्रष्टव्य—अद्वैतब्रह्मसिद्धि—पृ० २७

४. द्रष्टव्य, योग० सू० वृ० सू० पृ० १, ४, ५५।--त० या० दी० पृ० १

५. यत्रसूत्रेषुगूढार्थद्योतिकां तनुतेपराम्।
वृत्तिं नारायणोभिक्षुःसुगमां हरितुष्टये ॥३॥—यो० सि० च०—नारायण-तीर्थ, पृ० १

भट्ट[1] ने अपने ग्रन्थों में विज्ञानभिक्षु का नामोल्लेख किया है। सदानन्द यति ने तो इनके मत का खण्डन किया है किन्तु अन्य तीन विद्वानों ने इनकी बड़ी प्रशस्ति की है। भावागणेश तो इनके शिष्य ही थे और इसीलिए समसामयिक माने जाने चाहिए। अन्य तीनों लोग इनके पर्याप्त परवर्ती थे। पं० उदयवीर शास्त्री के सदानन्द यति विषयक मत खण्डित हो जाने पर और रघुनाथशिरोमणि के पर्याप्तं परवर्ती होने के कारण सदानन्दयति का समय (१७वीं शताब्दी ई० के लगभग) माना जा सकता है। नारायणतीर्थ और नागोजी भट्ट १७वीं शताब्दी के बाद के ही हैं। भावागणेश के समय के सम्बन्ध में किसी अन्य प्रबल प्रमाण के अभाव में डा० गोडे की सम्भावना भी माननीय है (१५८३-१६२३ के आस-पास)। इतने आधारों पर यह निश्चित ढंग से कहा जा सकता है कि विज्ञानभिक्षु के समय की पर-सीमा १६०० ई० मानी जा सकती है।

## समय-निर्धारण में अन्य प्रमाण

(१) डा० गोडे के द्वारा निर्दिष्ट भावागणेश विषयक सूचना भी इसी निर्णय की पुष्टि करती है। डा० दासगुप्त, डा० राधाकृष्णन्, डा० विन्तरनित्ज आदि की मान्यता भी इस निर्णय के अनुकूल है।

(२) विज्ञानभिक्षु के द्वारा ग्रन्थों में संकेतित सम्राट्[2] और सम्राट् की शासनव्यवस्था[3] भी उत्तरी भारत में तात्कालिक मुग़ल सम्राट् अकबर के शासनकाल की याद दिलाती है जिसमें कि गाँवों के अध्यक्ष आदि के द्वारा ग्राम-प्रबन्ध होता था। तथा प्रबन्ध के अनेक विभागों के अलग-अलग मन्त्री होते थे। ग्रामाध्यक्षादि भी राज्यसेवा करनेवाले होते थे और मंत्री भी। फिर भी उनमें प्राधान्य मन्त्री का ही होता था।

(३) विज्ञानभिक्षु ने अपने सांख्यभाष्य में राजा के द्वारा पुनर्निर्मित अथवा नवनिर्मित नगर (पुर) का संकेत किया है[4]। यह प्रसिद्ध घटना भी अकबर के शासनकाल में सम्पन्न हुई थी जब कि अकबर ने 'फतेहपुर-सीकरी' का निर्माण करा कर एक नई नगरी बसायी थी। चूँकि यह नगर

---

१. पातञ्जलाब्धौ रचितःसेतुर्विज्ञानभिक्षुणा महापङ्गुर्मूढतमो येन संतीर्णवानहम्। —पा० सू० वृ०—ना० भ० पृ० २३०

२. द्रष्टव्य, सां० सा०, पृ० ४७

३. " सां० प्र० भा०, पृ० ९१ और पृ० ९२

४. यथा राज्ञः पुरनिर्माणइत्यर्थः।—सां० प्र० भा० पृ० १४७।

निर्माण एक धार्मिक उपलक्ष्य में (शेख़सलीम चिश्ती के नाम पर) कराया गया था, इसलिए पूरे भारत में इस बात की ज़ोर-शोर से प्रसिद्धि हुई होगी। प्रयाग का पुनर्निर्माण भी अकबर के ही द्वारा सम्पन्न हुआ था। अतः विज्ञानभिक्षु का अकबर का समकालिक होना बहुत सम्भव है।

(४) इस प्रसंग में भाषा-सम्बन्धी प्रमाण भी सहायक रूप में ग्रहण किया जा सकता है। इसी अध्याय के स्थान-निर्णय-विषयक प्रसंग में संकलित शब्दों, और वाक्यों के आधार पर निर्णीत विज्ञानभिक्षु का हिन्दी-भाषा-भाषी होना १६वीं शताब्दी के उत्तरभारत में ही उपपन्न हो सकता है।

प्रस्तुत प्रमाणों में से कुछ हल्के और कुछ अधिक सशक्त हैं। कुछ तथ्य की ओर इंगित करते हैं, कुछ तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। इनमें से कुछ को अकाट्य भी कहा जा सकता है। इन सब का समवेत प्रभाव विज्ञान-भिक्षु के लिए प्रस्तुत किए गए १४वीं और १७वीं शताब्दी वाले मतों को सर्वथा निस्तेज कर देता है और यह निर्धारित करने के लिए विवश करता है कि आचार्य विज्ञानभिक्षु का जीवन-काल १६वीं शताब्दी ई० का अन्तिम तीन चतुर्थांश अर्थात् लगभग १५२५ ई० से १६०० ई० तक स्वीकार किया जाय।

# २ | आचार्य विज्ञानभिक्षु की रचनाएँ

## सूचित रचनाएँ

भारतीय मनीषियों की अलौकिक प्रतिभा, अध्यवसाय की प्रबल मनोवृत्ति एवं सोलहवीं शताब्दी की धर्मप्रवण किन्तु संयत सक्रियता आचार्य विज्ञानभिक्षु के व्यक्तित्व में एकाकार होकर निखर उठी हैं। उनके विस्तृत श्रवण और गम्भीर मनन ने भी उनकी प्रज्ञा को अतीव प्रखर बना दिया था। फलस्वरूप तत्त्वदर्शन के प्रति उनकी अमन्द जागरूकता ने उनकी लेखनी को अजस्र एवं सजीव प्रवाह प्रदान किया है। आत्मतेज से ज्योतित उनकी विपुल ग्रन्थराशि भारतीय वाङमय के मध्यकालीन युग के निस्सीम गौरव की पुण्य प्रतीक है। आफ्रेक्ट[1] महोदय ने उनके ग्रन्थों की सारणी इस प्रकार सूचित की है—

१—आदेशरत्नमाला L१७९७ (also called उपदेशरत्नमाला)

२—ईश्वरगीताभाष्य L२०५०

३—कठवल्ल्युपनिषदालोक L१८१२

४—कैवल्योपनिषदालोक L१८१०

५—पातञ्जलभाष्यवार्तिक या योगवार्तिक (Published)

६—प्रश्नोपनिषदालोक L२०५१

७—ब्रह्मादर्श oxf २३२a

८—भगवद्गीताटीका N. P. V. १०८

---

1. The whole list of 18 books is available in the Catalogues Catalogorum of Aufrecht in the specified heads.

L. Stands for Notices of Saṃskrita mṣṣ by R. L. Mitra, Cal. 189.

Oxf. Stands for catalogus Codicum Sans. Corum. B. B. by Aufrecht Oxford 1864.

N. P. Stands for Catalogue of Saṃskrita mṣṣ in private libraries in Northern Western Provinces, Allahabad 1877-88.

९—माण्डूक्योपनिषदालोक L१८०८

१०—मुण्डकोपनिषदालोक L१८१३

११—मैत्रेय्युपनिषदालोक L१८११

१२—योगसारसंग्रह oxf २३२ a Hall P. १२, Ben ६७ etc.

१३—विज्ञानामृत या ब्रह्मसूत्रऋजुव्याख्या । P. ५७१

१४—वेदान्तालोक (The general name of his Upnishad-dissertations.)

१५—श्वेताश्वतरोपनिषदालोक L१८०९

१६—सांख्यकारिकाभाष्य L१२७८ Bik ५३६

१७—सांख्यप्रवचनभाष्य (Published)

१८—सांख्यसार विवेक (Published)

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त विज्ञानभिक्षु-विरचित एक और ग्रन्थ की सूचना गवर्नमेण्टसंस्कृतकालेज बनारस के भूतपूर्व पुस्तकालयाध्यक्ष पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद शर्मा ने दी है। उन्होंने 'योगसारसंग्रह' की भूमिका पृ० ७ पर पाद-टिप्पणी में यह लिखा है कि—

'प्रशस्तपादभाष्यव्याख्यानं वैशेषिकवार्तिकम् भिक्षुवार्तिकनामधेयं वाराणस्यामेकस्य संन्यासिनो निकटेऽस्ति। तत्र श्लोकानां षट् सहस्राणि।[1] ॐ नमः सच्चिदानन्दमूर्तये परमात्मने। भवबन्धच्छिदे तस्मै ब्रह्मविष्णुशिवात्मने।

"जिज्ञासूनांहितार्थं परमकरुणयायत्प्रणीतं सुबोधम्
भूयोभिर्दुर्निबन्धैः परमिहकणभुक्तन्त्रमाच्छादितम् तत्।
सम्यग्बोधायनालं भवतिमतिमतां क्लेशनिर्वृत्तिकामो
भूयोविज्ञानभिक्षुः...... कुतुकाद्वार्तिकेनाधुना तत्॥"[2]

१—कणभक्षमुनेस्तन्त्रे यतिविज्ञानभिक्षुणा।
प्रशस्तभाष्यव्याख्यानव्याजेनाकारि वार्तिकम्॥[3]

इस सूचना के अनुसार विज्ञानभिक्षुप्रणीत वैशेषिकशास्त्र के विषय में 'भिक्षुवार्तिक' नाम का एक ग्रन्थ है।

---

Bik stands for Catalogue of mss in the Library of His Highness Maharaja of Bikaner.

१. प्रारम्भवाक्यमेतद्।

२. This is the second Śloka falling after the first one which ends in "ब्रह्मविष्णुशिवात्मने" in that work.

३. समाप्तिवाक्यमेतद्।

## प्रामाणिक रचनाएं

विज्ञानभिक्षु यद्यपि एक लेखनी के धनी लेखक थे किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनके नाम से अंकित अथवा उनके नाम के साथ जोड़ी गई प्रत्येक पुस्तक को हम आँख मूंद कर उन्हीं की कृति मान लें। हमें इन पुस्तकों के अस्तित्व, कृतित्व तथा कर्तृत्व की प्रामाणिकता का भी विवेचन करना चाहिए। तभी हम किसी तथ्य के विषय में निर्णय पर पहुँच सकते हैं। विज्ञानभिक्षु के सुप्रसिद्ध और निर्णीत ग्रन्थों के अन्दर जिन ग्रन्थों का उल्लेख-प्रत्युल्लेख है वे ग्रन्थ तो निस्सन्देह उन्हीं के हैं। क्योंकि अन्तरंग साक्ष्य उच्च कोटि की प्रामाणिकता का निश्चायक होता है। सांख्य-प्रवचन-भाष्य[१], सांख्यसार[२], योगवार्तिक[३], योगसारसंग्रह[४], ब्रह्ममीमांसाभाष्य[५], उपदेश-रत्नमाला[६], ब्रह्मादर्श[७] और 'श्रुतिभाष्यादि'[८] उनके इसी कोटि के निर्णीत और प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। अन्तिम ग्रन्थ, श्रुतिभाष्य के साथ लगा हुआ 'आदिषु' पद ईश्वरगीताभाष्य का बोधक हो सकता है क्योंकि वेदान्त-विषयक भाष्य उन्होंने भीं अन्य वेदान्तियों की भाँति सूत्र, उपनिषद् और गीता पर लिखे हैं। जहाँ पर 'श्रुतिभाष्यादिषु'[९] का उल्लेख है वहीं पर उसी वाक्य में उसके पहले ही ब्रह्ममीमांसा-भाष्य का अलग से नामोल्लेख है। इसलिए बहुत सम्भव है कि आदि पद से ईश्वरगीताभाष्य का ही संकेत हो। ईश्वर-

---

१. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० १२९, २१९ इत्यादि, यो० सा० सं० पृ० ३५, सांसा० पृ० १, १०, १४, १५, १६
२. „ यो० सा० सं० पृ० ६८, ३५ इत्यादि
३. „ सां० प्र० भा० पृ० ८, १६, ४८, ५२ इत्यादि, यो० सा० सं० पृ० १, २, ३५, ६ इत्यादि सां० सा० पृ० ४
४. „ यह ग्रन्थ उनकी रचनाओं में अन्तिम है अतः यह पूर्व ग्रन्थों का अनेकशः उल्लेख करता है।
५. „ सां० प्र० भा० पृ० ५,२३,३४,४४ यो० वा० पृ० ८५, २२२.सां० सा० पृ० ३२
६. „ ब्रह्ममीमांसाभाष्यम्, पृ० ६२
७. „ यो० सा० सं० पृ० ६८
८. „ यो० वा० पृ० २२२
९. 'ततश्चैकस्यैव परमात्मनो मुख्यात्मता सिध्यतीति, एतच्च सर्वं ब्रह्म-मीमांसाभाष्ये श्रुतिभाष्यादिषु च प्रपञ्चितमस्माभिः', —यो० वा० पृ० २२२

गीताभाष्य की मिलनेवाली अनेक पाण्डुलिपियों में प्राप्य समाप्तिवाक्य[१] इस सम्भावना को और भी अधिक सुदृढ़ कर देता है कि विज्ञानभिक्षु ने वेदान्त के गीताभाष्य के लिए ईश्वरगीताभाष्य ही लिखा था। साथ ही श्रीमद्भगवद्-गीता-भाष्य का न लिखना भी इसी समाप्तिवाक्य से सिद्ध हो जाता है। पुराणों के प्रति प्रदर्शित विज्ञानभिक्षु की असीमनिष्ठा[२] भी इसी तथ्य की समर्थक है।

विज्ञानभिक्षु ने 'श्रुतिभाष्यादिषु' कह कर जिन उपनिषद्भाष्यों की ओर संकेत किया है, प्राप्य पाण्डुलिपियों के आधार पर उनके ये नाम हैं: कठवल्ल्युपनिषदालोकः, कैवल्योपनिषदालोकः, प्रश्नोपनिषदालोकः, माण्डूक्योपनिषदालोकः, मुण्डकोपनिषदालोकः, मैत्र्युपनिषदालोक., श्वेताश्वतरोपनिषदालोकः, तैत्तिरीयोपनिषदालोकः[३]। इन्हीं आठ उपनिषद भाष्यों का सामूहिक नाम वेदान्तालोक है। एक प्रकार से वेदान्तालोक नामक ग्रन्थ-माला के ही ये आठों पुष्प हैं। इन भाष्यों की पुष्पिकाओं से यहीं[४] सिद्ध होता है कि वेदान्तालोक नाम का विज्ञानभिक्षु—विनिर्मित कोई अलग ग्रन्थ नहीं है अपितु प्रत्येक उपनिषद्भाष्य 'वेदान्तालोक' नामक पुस्तक-सिरीज़ का एक अंग है। आफ्रेक्ट महोदय ने भ्रान्तिवश वेदान्तालोक नाम का एक अलग ग्रन्थ गिना दिया है। इस प्रसंग में एक बात स्मरणीय है कि ईशोपनिषद्, केनोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् पर इनके भाष्य नहीं हैं जब कि प्रस्थानत्रय के अन्य भाष्यकारों ने कैवल्य जैसी छोटी उपनिषद् पर भाष्य नहीं लिखा है किन्तु प्रधान उपनिषदों

---

१. "सर्ववेदान्तसारार्थसंग्राहिण्या अतिस्फुटम्
भाष्यमीश्वरगीतायाश्चक्रे विज्ञानभिक्षुकः ।
एतेन भगवद्गीताव्याख्यापेक्षाऽपि यास्यति
शब्दादिभेदमात्रेणगीतयोरर्थसाम्यतः ॥"
इति कूर्मपुराणे ईश्वरगीतासूपनिषत्सुविज्ञानभिक्षु-कृतभाष्ये दशमोऽध्यायः ॥

२. अपने सांख्य, वेदान्त और योग तीनों प्रकार के ग्रन्थों में उन्होंने पुराणों का पुष्कल मात्रा में उद्धरण दिया है और उन्हें श्रुतिकोटिक प्रामाणिकता प्रदान की है।

३. यह पुस्तक आफ्रेक्ट ने नहीं उल्लिखित की। इस पुस्तक की एक प्रति एशियाटिक सोसायटी बंगाल में नागर अक्षरों में उपलब्ध है।—

४. "इति विज्ञानभिक्षुकृते वेदान्तालोके प्रश्नोपनिषदालोकः समाप्तः' इतिवत् सर्वषूपनिषद्भाष्येषु।

पर जिनमें ईशादि भी हैं, अपने अपने भाष्य लिखे हैं। बहुत संभव है अपने सिद्धान्तों की अनुकूलता का दृष्टिकोण ही इसका मूल कारण हो।

'सांख्यकारिकाभाष्य' नामक ग्रन्थ विज्ञानभिक्षु का लिखा हुआ नहीं है। उनके अन्य ग्रन्थों में इसकी कोई सूचना नहीं है। इस नाम की जो पाण्डुलिपि पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद जी को प्राप्त हुई थी उसके अन्त में पाण्डुलिपिलेखक के 'विज्ञानभिक्षुविचरित सांख्यभाष्यम्'[१] नामक वाक्यांश ने अधिकांश विद्वानों को इस भ्रान्ति में डाल दिया था कि यह ग्रन्थ विज्ञानभिक्षु का लिखा हुआ है। इस भ्रान्ति का निराकरण भी उसी स्थल पर है। उस ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक में यह पंक्ति आई हुई है 'भाष्यञ्चात्र गौडपादकृतम्।'[२] इस श्लोक को पढ़ लेने के बाद यह नहीं कहा जा सकता कि, सांख्यकारिकाभाष्य विज्ञानभिक्षु की रचना है।

'भिक्षुवार्तिक'[३] नामक ग्रन्थ की संभावित प्रामाणिकता का भी विचार कर लेना चाहिए। आपाततः यही धारणा होती है कि सांख्य, योग और वेदान्त पर समान रूप से लिखनेवाले आस्तिक दार्शनिक विज्ञानभिक्षु ने वैशेषिक दर्शन पर भी अवश्य लेखनी उठायी होगी। ग्रन्थ की पाण्डुलिपि में उपस्थित प्रारम्भ[४] और समाप्तिवाक्य[५] भी यह प्रमाणित करते प्रतीत होते हैं कि यह रचना विज्ञानभिक्षु की ही है। किन्तु फिर भी ग्रन्थ के सिद्धान्त इस सम्भावना को सर्वथा निर्मूल सिद्ध करते हैं। यद्यपि एक अनिश्चित नाम और पता वाले संन्यासी के पास रहनेवाली पाण्डुलिपि का पता लगा सकना असम्भव होने के कारण उस प्रति की तो जाँच नहीं की जा सकी तथापि पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद जी द्वारा उद्धृत अंश में ही ऐसे सिद्धान्त सामने उपस्थित हो जाते हैं जो विज्ञानभिक्षुसम्मत कदापि नहीं सिद्ध हो सकते—१—उस ग्रन्थ का प्रथम वाक्य यह है–'ॐ नमः सच्चिदानन्दमूर्तये परमात्मने।' अपने सांख्य, योग और वेदान्त तीनों प्रकार के सभी ग्रन्थों में विज्ञानभिक्षु ने एक स्वर से आत्मा तथा परमात्मा की आनन्दरूपता का

१. द्रष्टव्य–यो० सा० स० की भूमिका में पादटिप्पणी पृ० ६
२. ,, वही पृ० ६
३. ,, वही पृ० ७
४. ,, वही पृ० ८
५. ,, वही पृ० ८

जोरदार खण्डन किया है।[1] फिर भला विज्ञानभिक्षु इस एकाकी ग्रन्थ में परमात्मा को सच्चिदानन्द-रूप में कैसे स्वीकार करेंगे, उस रूप की वन्दना तो दूर की बात है। २—इसी श्लोक की दूसरी पंक्ति 'भवबन्धच्छिदे तस्मै ब्रह्म-विष्णुशिवात्मने' भी विचारणीय है। विज्ञानभिक्षु ने परमात्मा या ब्रह्म पद का वाच्यार्थ या प्रधान अभिधेयार्थ 'ब्रह्मा, विष्णु और शिव' मानने का प्रत्याख्यान किया है साथ ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव को जीव ही माना है, परमात्मा नहीं[2]। अतः यह पंक्ति भी विज्ञानभिक्षु के द्वारा नहीं लिखी जा सकती क्योंकि विज्ञानभिक्षु के विशाल ग्रन्थ समुदाय में उनकी एक भी बात स्ववचोव्याघात दोष से दूषित नहीं है। उनके सिद्धा त समस्त ग्रन्थों में एक-रूप हैं और अटल हैं।

वहुत सम्भव है कि किसी अन्य लेखक ने उनकी तात्कालिक प्रसिद्धि से प्रभावित होकर इस ग्रन्थ के आदि और अंत में उनका नाम डाल दिया हो ताकि ग्रन्थ का पूर्ण प्रचलन हो सके। या फिर किसी अन्य यति ने अपना नाम विज्ञानभिक्षु रक्खा हो जैसा कि एक नाम के अनेक संन्यासी हुआ करते हैं। मेरा यह निश्चित मत है कि हमारे अध्ययन के आलम्बनरूप आचार्य विज्ञानभिक्षु का यह वैशेषिकग्रन्थ नहीं है। न्याय और वैशेषिक की भूमिका को वे सांख्य योग और वेदान्त के पारमार्थिकस्तर से बहुत निचली समझते[3] हैं। न्याय वैशेषिक का यह अपमान भी इसी बात का सूचक है कि न्याय-वैशेषिक पर उनकी लेखनी नहीं उठी।

## द्विविध वर्गीकरण

विज्ञानभिक्षु की प्रमाणिक रचनाओं का वर्गीकरण हम दो आधारों पर

---

१. 'एतेन ब्रह्मणः आनन्दरूपत्वमपास्तम्'—वि० भा० पृ० ६३ और द्रष्टव्य १,६४,४८४,५७६ इत्यादि
'नानन्दं ननिरानन्दमित्यादिश्रुतिभिःस्फुटम्। आत्मन्यानन्दरूपत्वनिषेधाद्यु-क्तिसंयुतात्। उपास्यार्थशून्यत्वान्नेतिनेतिश्रुतेस्तथा। निषेधवाक्यं बल वद्विधिवाक्याद् इतिस्थितिः ॥'
(सा०सा० पृ० २९ और भी द्रष्टव्य पृ० ३०, ३५ इत्यादि)

२. अतोविष्ण्वादिदेवानां न साक्षादीश्वरावतारत्वं किन्तु अंशावतारत्वम्।
(वि०भा० पृ १३३ और द्रष्टव्य पृ० १३५, १३७)

३. 'न्यायवैशेषिकोक्तज्ञानस्यपरमार्थभूमौ बाधितत्वाच्च। सां० प्र० भा० पृ० ३

कर सकते हैं। एक प्रकाशन से आधार पर और दूसरे विषयों के आधार पर। प्रकाशन की दृष्टि से वर्गीकरण का स्वरूप यह होगा :—

(१) प्रकाशित ग्रन्थ—

१—सांख्यसारः[1]

२—सांख्यप्रवचनभाष्यम्[2]

३—योगवार्तिकम्[3]

४—योगसारसंग्रहः[4]

५—विज्ञानामृतभाष्यम्[5]

(२) अप्रकाशित ग्रन्थ—

[क] १—ईश्वरगीताभाष्यम्

२—उपदेशरत्नमाला

३—कठवल्ल्युपनिषदालोकः

४—कैवल्योपनिषदालोकः

५—मैत्रेय्युपनिषदालोकः

६—माण्डूक्योपनिषदालोकः

७—मुण्डकोपनिषदालोकः

८—प्रश्नोपनिषदालोकः

९—तैत्तिरीयोपनिषदालोकः

१०—श्वेताश्वतरोपनिषदालोकः

---

१. बिब्लियाथिका इण्डिका : एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बंगाल के अधीन कलकत्ता से प्रकाशित १८६२ ई०

२. चौखम्बा संस्कृतसीरिज़ बनारस से प्रकाशित १९२८ ई०

३. " " " " [योग की अन्य व्याख्याओं से संवलित ही] १९३५ ई०

४. थियासाफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार मद्रास से तथा हिन्दी टीका सहित मोती० बनारसी ७५ नै० ख० वाराणसी से भी— मैंने निर्देश विवरण के लिए बनारसी० संस्करण ही लिया है।

५. चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ बनारस से। (क) स वर्ग के सभी ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में आज भी उपलब्ध हैं। इनकी पाण्डुलिपियों के सम्बन्ध में विस्तृत सूचना इस ग्रन्थ के परिशिष्ट सं० १ में द्रष्टव्य है।

(इस शोध-प्रबन्ध में इन ग्रन्थों के उक्त संस्करणों का ही उपयोग निर्देश-विवरण के लिए हुआ है।)

[ख] १—ब्रह्मादर्श:[1]

इस वर्गीकरण के अनन्तर, विषय के आधार पर इन ग्रन्थों का विभाजन कर लेना चाहिए। क्योंकि इस विभाजन के द्वारा इन ग्रन्थों का परिचयात्मक विवरण और उनके सिद्धान्तों के संकलन में भी बड़ी सुविधा होगी। इस आधार पर ऐसा वर्गीकरण होगा—

१—सांख्यशास्त्र के ग्रन्थ—

१—सांख्यप्रवचनभाष्यम्

२—सांख्यसार:

२—योगशास्त्र के ग्रन्थ—

१—योगसारसंग्रह:

२—योगवार्तिकम्

३—वेदान्तशास्त्र के ग्रन्थ—

१—ब्रह्ममीमांसाभाष्यम्

२—ईश्वरगीताभाष्यम्[2]

३—उपदेशरत्नमाला[3]

४—ब्रह्मादर्श:[4]

५—कठवल्ल्युपनिषदालोक:[5]

६—कैवल्योपनिषदालोक:

---

१. महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज का कथन है कि उन्होंने स्वयं "ब्रह्मादर्श" की एक पाण्डुलिपि आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व स्व० पण्डित दामोदरलाल गोस्वामी वाराणसी के पारिवारिक 'पाण्डुलिपिसंग्रह' में देखी थी। किन्तु प्रयत्नशील होने पर भी मैं इस प्रति का दर्शन नहीं कर सका।

२. 'सर्ववेदान्तसारार्थसंग्राहिण्या अतिस्फुटम् ई० गी० भा० के अन्तिम श्लोक की इस पंक्ति से यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ वेदान्त के सारार्थ का ही संग्रह करता है।

३. यह ग्रन्थ भी वेदान्त का ही एक प्रकरण ग्रन्थ है।
में प्राप्त पाडुलिपि के आधार पर 'ब्रह्म' ही इस ग्रन्थ का विषय। वि० भा० में संकेत भी यही सिद्ध करता है।

४. यो० सा० सं० में पृ० ११२ पर विज्ञानभिक्षु ने स्वयम् इस ग्रन्थ को वेदान्त विषयक माना है।

५ उपनिषद्भाष्य तो 'वेदान्त' विषयक है ही। उपनिषद् ही तो वेदान्त हैं! इन सब का सामूहिक नाम भी वेदान्तालोक ही है।

७—मैत्रेय्युपनिषदालोकः
८—माण्डूक्योपनिषदालोकः
९—मुण्डकोपनिषदालोकः
१०—प्रश्नोपनिषदालोकः
११—तैत्तिरीयोपनिषदालोकः
१२—श्वेताश्वतरोपनिषदालोकः

## रचनाओं का क्रम

विज्ञानभिक्षु की सभी प्रामाणिक रचनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करने से यह पता चलता है कि उनकी अन्तिम रचना योगसारसंग्रह है, क्योंकि इस रचना का उल्लेख किसी भी उनकी दूसरी रचना में नहीं है। प्रत्युत[1] उसमें सांख्यसार[क], सांख्यप्रवचनभाष्य[ख], ब्रह्ममीमांसाभाष्य[ग], ब्रह्मादर्श[घ] आदि ग्रन्थों का अनेकशः उल्लेख है। उसके पहले की रचना सांख्यसार है क्योंकि इसमें[2] सांख्यप्रवचनभाष्य[क], ब्रह्ममीमांसाभाष्य[ख] और योगवार्तिक[ग] का बहुशः नामनिर्देश किया गया है। उससे पूर्व की रचना 'सांख्यप्रवचनभाष्य' होगी क्योंकि उसमें [3]योगवार्तिक[क] और ब्रह्ममीमांसाभाष्य[ख] के स्पष्ट संकेत और नामग्रहण हैं। इसी न्याय के अनुसार योगवार्तिक[4] की रचना ब्रह्ममीमांसा-भाष्य के नामोल्लेख के कारण उसके बाद ही हुई होगी। ब्रह्ममीमांसाभाष्य के साथ ही साथ श्रुतिभाष्यादि अर्थात् सभी उपनिषद्भाष्य और ईश्वरगीता-भाष्य का भी उल्लेख योगवार्तिक में हुआ है।[5] इस प्रसंग तक पहुँच कर अस्पष्टता आ जाती है कि वेदान्त के इन तीन प्रस्थानों में (सूत्र, गीता और उपनिषद् में) से किस प्रस्थान पर विज्ञानभिक्षु की लेखनी पहले और किस पर बाद में चली होगी? 'ब्रह्ममीमांसाभाष्य' एक विशाल ग्रन्थ होने के कारण उसमें नामनिर्देश की सम्भावना अधिक हो सकती थी किन्तु ऐसा न होने के कारण बुद्धि का आग्रह बहुधा यही होता है कि हम इन तीनों प्रकार की

१. द्रष्टव्य, यो० सा० सं० में क—पृ० ६८, ३५ इत्यादि, ख—पृ० ३५ इत्यादि, ग—पृ० १८, घ—पृ० ६८
२. द्र०, सां० सा० में क—पृ० १, १५, १४, १० इत्यादि, ख—पृ० ३२ इत्यादि, ग—पृ० ४ इत्यादि
३. द्र०, सा० प्र० भा० में क—पृ० ८, १०, १६, ४८, ५२ इत्यादि, ख—पृ० ५, २३, ३४, ४४, ४५, ७४, ७६ इत्यादि
४. द्र०, यो० वा० पृ० ८५, २२२ इत्यादि
५. द्र०, यो० वा० पृ० २२२

रचनाओं में सूत्रभाष्य को पहले की और उपनिषद्भाष्य तथा ईश्वरगीता-भाष्य को बाद की रचनाएँ मानें। ब्रह्मादर्श ग्रन्थ की कोई पाण्डुलिपि प्राप्त न कर सकने के कारण इस ग्रन्थ की रचना का काल यदि वेदान्त-विषयक रचनाकाल के ही बीच कहीं मान लें तो सत्य से बहुत दूर न होंगे। अब चूँकि 'उपदेशरत्नमाला' ब्रह्मसूत्रभाष्य'[1] में ही उल्लिखित है अतः यह उनकी वेदान्त-ग्रन्थों में प्रथम रचना होगी।

अन्तरंग साक्ष्यों के आधार पर निर्णीत इन ग्रन्थों के इस काल-क्रम में ग्रन्थ-रचना की पृष्ठभूमि का ऐतिहासिक आधार भी स्पष्ट और सगंत प्रतीत होता है। विज्ञानभिक्षु ने वृद्धावस्था के काफी पहले ही संन्यास के प्रति प्रदर्शित उनकी प्रौढ़ अभिरुचि[2] से ही प्रकट है। इसलिए दीर्घकालीन संन्यास में इतने अधिक ग्रन्थ लिखने का सुअवसर भो उन्हें मिल सका। उनके सारे ग्रन्थ संन्यासी जीवन में ही लिखे गए इस बात को ग्रन्थकार का नाम यतिवरविज्ञानभिक्षु, विज्ञानयति या विज्ञानाचार्य ही प्रमाणित कर देता है क्योंकि ये नाम संन्यासकाल के ही हो सकते हैं। प्रत्येक ग्रन्थ के मंगला-चरण में की गई गुरु की स्तुति और गुरु-दत्त ज्ञान की चर्चा भी इसी तथ्य को प्रमाणित करती है! 'ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय भी उनकी संन्यास—कालनिर्मिति का ही निश्चायक है। 'विज्ञानामृतभाष्य'--जो कि विज्ञानभिक्षु की प्रारम्भिक रचनाओं में से एक है--की रचना के पूर्व ही उनके गुरुवर्य का देहावसान हो चुका था। मंगलाचरण की पंक्ति में 'गुरु के द्वारा प्राप्त पद'[3] की प्राप्ति ही उनके ग्रन्थ के अध्ययन का चरमलक्ष्य है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वह पद कैवल्य या मोक्षपद ही हो सकता है जीवन्मुक्ति नहीं क्योंकि विज्ञानभिक्षु के दर्शन में चरमलक्ष्य जीवन्मुक्ति नहीं विदेहमुक्ति ही है और प्रारब्धकर्म का क्षय जीवन्मुक्ति में भी ज्ञान से नहीं हो सकता बल्कि असम्प्रज्ञात समाधि से ही होता है। 'विजित्यज्ञानकर्मभ्याम्'[4] में प्रयुक्त ल्यप् प्रत्यय भी इसी तथ्य का समर्थन करता है।

बहुत सम्भव है कि संन्यास लेने के पश्चात् अपने गुरु के कैवल्यलाभ के अनन्तर उन्होंने अपने शिष्यों को ब्रह्मविद्याविषयक उपदेश दिये हों और

---

१. द्रष्टव्य, ब्र० मी० भा० पृ० ६२
२. " " १।१।१ का भाष्य।
३, ४. 'विजित्यज्ञान-कर्मभ्यां यान्तुश्रीमद्गुरोःपदम्।' वि० भा० पृ० १

उन्हीं को जिज्ञासु विद्वानों के लाभार्थ 'उपदेश रत्नमाला' में संगृहीत कर दिया हो।[1] पर इस संग्रह को वे एक साधारण कोटि का प्रकरण ग्रन्थ ही मानते थे।[2] इसीलिए 'गुरुदक्षिणा' के रूप में उन्होंने ब्रह्ममीमांसाभाष्य[3] को ही प्रस्तुत किया है इसे नहीं। सोलहवीं शताब्दी के वेदान्तप्रधान—दार्शनिक वातावरण में उनका सर्वप्रथम वेदान्त-सूत्रों पर भाष्य लिखने के लिए लेखनी उठाना स्वाभाविक ही था। 'उपदेशरत्नमाला' गत सिद्धान्तों के सांख्य संवलित एवं योगयुक्त वेदान्तीस्वरूप को देखकर सहसा उद्विग्न अन्य वेदान्तवर्ग की आलोचनाएँ निश्चय ही बड़ी कटु और प्रतिक्रियाएँ अत्यन्त तीव्र रही होंगी। अतः अपने सिद्धान्तों के समर्थन में सूत्र, उपनिषद् और ईश्वरगीता पर भाष्य लिख कर (अपनी दृष्टि से) तथाकथित आधुनिकवेदान्तिब्रुवों के भ्रान्त मत का प्रत्याख्यान करना उनके लिए परमावश्यक था।

इसके अनन्तर सांख्य और योगशास्त्रों के मौलिक ग्रन्थों की व्याख्या करनी भी इसलिए अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुई होगी कि कहीं विद्वज्जन उनके सांख्य और योगज्ञान को केवल वेदान्तविकृत न कहने लगें और इस प्रकार से तत्त्वदर्शन के क्षेत्र में घोर सैद्धान्तिक अव्यवस्था न आ जाय। अपने सभी व्याख्याग्रन्थों की रचना के पश्चात् अपनी वाणी में अपने सारे सिद्धान्तों और समूची ज्ञानराशि को दो प्रकरणग्रन्थों में पुञ्जीभूत करने की उनकी अभिलाषा होनी स र्था स्वाभाविक थी। दोनों ग्रन्थ 'सार' ग्रन्थ हुए। उनमें से पहला 'सांख्यसार' उनके 'ज्ञान' की मूल-मंत्र-माला और दूसरा 'योगसार-संग्रह' उनके 'कर्म' की पावन-विधि है।[4] 'ज्ञान' और 'कर्म' के मार्ग से प्राप्त होनेवाले मोक्ष जैसे प्रशस्त लक्ष्य की सिद्धि के लिए दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। उनकी दृष्टि में सांख्य की सक्रिय साधना ही योग है। कदाचित् इसीलिए इन दोनों रचनाओं के काल तक में उनका उद्देश्य भी 'ईशः' 'हरिः-प्रीयताम्'[5] से आगे बढ़ गया है और 'नातोऽधिको मुमुक्षूणामपेक्ष्यो मोक्षदर्शने' के रूप[6] में प्रकट होने लगा था।

---

१. वेदान्ततत्त्वं संक्षिप्तमिदमाकर्ण्यतां बुधैः। उपदेशरत्नमाला पाण्डु-लिपि पृ० १

२. इति विज्ञानभिक्षु—विरचितमुपदेशरत्नमालाख्यवेदान्तप्रकरणंसमाप्तम्। उ० र० भा० की पुष्पिका पाण्डुलिपि।

३. ब्रह्मसूत्रऋजुव्याख्याक्रियते गुरुदक्षिणा। वि० भा० पृ० १

४. विजित्यज्ञानकर्मभ्यां यान्तुश्रीमद्गुरोःपदम्। वि० भा० पृ० १

५. द्रष्टव्य, पु० के पूर्व के श्लोक वि० भा०, यो० वा०, सां० प्र० मा०।

६. द्रष्टव्य, पुष्पिका के पूर्व का श्लोक यो० सा० सं०।

इन अन्तरंग और वहिरंग प्रमाणों की विवेचना पर आश्रित निर्णय के अनुसार उनकी रचनाओं का क्रम यह सिद्ध होता है—

१—उपदेशरत्नमाला

२—ब्रह्मसूत्रभाष्यम्

३-१०—श्रुतिभाष्यादिः (वेदान्तालोकाख्य आठों ग्रन्थ)

११—ईश्वरगीताभाष्यम्

१२—ब्रह्मादर्शः

१३—योगवार्तिकम्

१४—सांख्यप्रवचनभाष्यम्

१५—सांख्यसारः

१६—योगसारसंग्रहः

---

# रचनाओं का परिचयात्मक विवरण

## वेदान्तग्रन्थ

१. **उपदेशरत्नमाला**--पिछले अध्याय से यह स्पष्ट है कि संन्यास-ग्रहण करने के पश्चात् श्रवण और मनन की परम्परा में पूर्णतः निष्णात होकर आचार्य विज्ञानभिक्षु ने अपने शिष्य-समुदाय के लिए 'उपदेशरत्नमाला' नाम का अपना प्रथम प्रकरण प्रस्तुत किया था। 'उपदेशरत्नमाला' उनके वेदान्त सिद्धान्तों का प्रकाशक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ कुल दस खण्डों में विभक्त है। प्रत्येक खण्ड का प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है—१–ब्रह्मात्मतोपदेशः २–व्यावहारिकपारमार्थिकात्मद्वयोपदेशः ३–द्वयोःस्वरूपोपदेशः ४–अन्योऽन्य-विवेकोपदेशः ५–ब्रह्माद्वैतोपदेशः ६–ब्रह्मचिन्मात्रसत्यतोपदेशः ७–सृष्ट्यादि-प्रक्रियोपदेशः ८–ब्रह्मविद्यास्वरूपोपदेशः ९–विद्यांगोपदेशः १०–विद्याफलो-पदेशः।

उपदेशरत्नमाला में प्रमुख विषय ब्रह्म की चिन्मात्रता का प्रतिपादन है।[१] फलतः ब्रह्म की आनन्दरूपता का खण्डन भी बलपूर्वक किया गया है। ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रस्तुत इस सिद्धान्त ने तत्कालीन अद्वैतवादियों के बीच में एक प्रबल प्रक्रिया को प्रेरित किया होगा और इस ब्रह्मपरक प्रकरण[२]—ग्रन्थ की कटु आलोचना में शंकरमतानुयायिओं ने कोई कसर न रक्खी होगी। अद्वैतवेदान्ती ही नहीं अपितु कोई भी अन्य वेदान्ती— चाहे वह विशिष्टाद्वैत अथवा द्वैत सिद्धान्त का पोषक हो या द्वैताद्वैत अथवा शुद्धाद्वैत का समर्थक हो—ब्रह्मतत्त्व में आनन्दरूपता अवश्य मानता आया है। विज्ञान भिक्षु ने पहले पहल वेदान्त का ऐसा स्वरूप विद्वज्जगत् के सामने इस प्रकरण—ग्रन्थ के द्वारा प्रस्तुत किया जिसमें सांख्यसिद्धान्त वेदान्तसिद्धान्तों का स्थान ग्रहण करता हुआ दिखाई पड़ा। इसको प्रतिक्रिया दर्शन जगत् में सर्वथा स्वाभाविक थी।

---

१. ब्रह्मात्मतत्त्वविद्येयं विज्ञानेनोपदिश्यते। पा० लि० उ० र० मा०

२. इति विज्ञानभिक्षुविरचितमुपदेशरत्नमालाख्यं वेदान्तप्रकरणम् समाप्तम्। पुष्पिका पा० लि० उ० र० मा०

ऐसी परिस्थिति में वेदान्त-दर्शन का पूर्ण वास्तविक रूप प्रकाशित करने के लिए आचार्य विज्ञानभिक्षु को इसका विस्तृत विवेचन करना और तदर्थ ब्रह्मसूत्रों, उपनिषदों और ईश्वरगीता पर भाष्य लिखना आवश्यक प्रतीत हुआ होगा। वे एक असाधारण मनीषी और अपने सिद्धान्तों के प्रति असीम निष्ठावान् योगी थे। उन्होंने सूत्रोपनिषद् और गीता तीनों वेदान्त-प्रस्थानों पर भाष्य लिख कर यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया कि मूलग्रन्थों का अभिप्राय केवल उनकी विचारधारा में ही ठीक-ठीक प्रकाशित हुआ है तथा वेदान्त के विषय में केवल उन्हीं का मतवाद सर्वथा पुष्ट, युक्ति-युक्त प्रमाणसंगत और अवश्य-स्वीकार्य है।

अपनी दृष्टि में वे ही सच्चे अद्वैतवादी थे। आचार्य शंकर आदि तो अपने अखण्ड और आनन्दरूप ब्रह्मसिद्धान्त के कारण भ्रान्त प्रचारक और जगन्मिथ्यात्व-प्रतिपादन के कारण शून्यवादी बौद्धों के[1] ही समकक्ष और अद्वैतवेदान्तिब्रुव मात्र थे। अपने सूत्रोपनिषद्गीताभाष्यों में उन्होंने द्वैताद्वैत-वादियों, विशिष्टाद्वैतवादियों और द्वैतवादियों का कहीं पर भी नाम-निर्देश-पूर्वक स्पष्ट विरोध या प्रत्याख्यान नहीं किया है। वे केवल मायावादी शंकर-मतानुयायियों से ही खुल्लमखुल्ला लड़ते दीख पड़ते हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि अन्य सभी प्रकार के वेदान्ती इनकी दृष्टि में ज्ञानी दार्शनिक न होकर भक्तिमार्गी साधक थे। उनका लक्ष्य 'तत्त्वसाधना' नहीं अपि तु 'साधना का तत्त्व' था। विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में ये भक्तभाष्यकार मानवीय तथा दिव्य गुणों के समवेत रूप के पुजारी ही प्रतीत हुए। अतः उनकी दृष्टि में वे सब द्वैतवादी ही थे वेश चाहे उन्होंने विशिष्टाद्वैत का धारण किया हो और चाहे शुद्धाद्वैत या द्वैताद्वैत का। १५ वीं शताब्दी के अन्त तक में अद्वैत परम्परा के शंकरानुयायियों[2] ने और सभी प्रकार के वेदान्तियों को इतना परास्त भी कर रक्खा था कि इनके खण्डन मण्डन की आवश्यकता ही विज्ञानभिक्षु को नहीं प्रतीत हुई। शंकरानुयायियों ने अपने तीव्रतम तर्कों से केवल अपने सिद्धान्तों को ही सुसंगत सिद्धान्त सिद्ध करके वेदान्त की जो एक मात्र ठेकेदारी ग्रहण कर ली थी, विज्ञानभिक्षु ने उस भ्रान्ति के विरोध में अपनी आवाज ऊँची की और वेदान्त

---

१. न तु तद्वेदान्तमतम्।—सां० प्र० भा० पृ० २३
२. अनयैव च रीत्या नवीनानामपि प्रच्छन्नबौद्धानां मायावादिनामविद्या-मात्रस्य तुच्छस्य बन्धहेतुत्वं निराकृतं वेदितव्यम्।—सां० प्र० भा० पृ० १७
३. विद्यारण्यमुनीश्वर, सदानन्दव्यास आदि।

के मूल रूप से उन्हें भटका हुआ सिद्ध किया और स्पष्ट घोषणा की कि यह वास्तविक वेदान्त-मत[1] नहीं, अपितु नया वेदान्त या आधुनिक वेदान्त है।

## विज्ञानामृतभाष्य

इस पृष्ठभूमि में आचार्य विज्ञान भिक्षु ने वेदान्तभाष्य की परम्परा का प्रथम ग्रन्थ 'ब्रह्ममीमांसाभाष्य' उक्त निष्ठुर कसौटी के संकर्ष पर चढ़ा कर विद्वज्जगत् में प्रस्तुत किया। इस भाष्य का नाम आचार्य ने 'ऋजु-व्याख्या' रखा है। सामान्यतः भाष्यों और टीकाओं का नाम उनकी विशालता, संक्षिप्तता, विशदता अथवा सुबोधता सम्बन्धी रखा जाता है। कभी-कभी व्याख्याओं के नामकरण में हितकर्तृत्व, संतोषदायकत्व एवं प्रियरूपत्व का पुट भी ला दिया जाता है। दर्शनग्रन्थों की व्याख्याओं एवं भाष्यों के नामकरणों में ग्रन्थकार लोग अपने मतवाद का भी आधार लेते और सिद्धान्त के मूलशब्दों का भी उपयोग करते हुए देखे जाते हैं। किन्तु 'ऋजु' व्याख्या से इन विशिष्ट प्रयोजनों की व्यंजना तो होती नहीं। फिर भी 'ऋजु' शब्द का प्रयोग भाष्य की सरलता और सुबोधता के प्रति संकेत करने के साथ साथ कुछ और विशिष्ट अभिप्राय के प्रति भी इंगित करता है। वह अभिप्राय साफ़ है। विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में पूर्ववर्ती सभी 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' ऋजु होने के स्थान पर कुटिल, वक्र और विषम थे। अर्थात् सूत्रों का अर्थ निकालने में शंकर रामानुज आदि सभी भाष्यकारों ने अपने सिद्धान्त के पोषक तत्त्वों के अनुकूल तोड़-मरोड़ की है और सूत्र की स्वाभाविक मान्यताओं की अवहेलना की है। अतएव आचार्य बादरायण के यथार्थ अभिप्राय को बिल्कुल सरल रीति से व्यक्त करने के प्रयोजन को स्पष्ट करने के विचार से विज्ञानभिक्षु ने अपने भाष्य का नाम 'ऋजु-व्याख्या' रखा होगा।

## ग्रन्थ का स्वरूप

यह भाष्य बहुत विशाल है। आकार की दृष्टि से श्रीभाष्य के बाद वेदान्तसूत्रों पर सबसे बृहद् भाष्य यही है। लगभग १४ सहस्र पंक्तियाँ इस ग्रन्थ में हैं जब कि श्रीभाष्य में १६ सहस्र के लगभग पंक्तियाँ हैं। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद का पंचम सूत्र भी विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में पहले चार सूत्रों की ही भाँति बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए चतुःसूत्री के स्थान पर इन्होंने पञ्चसूत्री की महत्ता स्वीकार की है[2]। आचार्य शङ्कर, रामानुज, मध्व और निम्बार्क ने चतुःसूत्री पर विशिष्ट, विशद एवं

---

१. नेदं व्यासदर्शनम्।—वि० भा० पृ० ८५।

२. पञ्चसूत्र्यां समासेन पूर्वाचार्यैः प्रवर्तितः।
वेदान्तनगरीमार्गो विज्ञानार्केण दर्शितः॥—वि० भा० पृ० १३९

विस्तृत भाष्य लिखा है । सारे प्रतिपाद्य विषयों का संक्षिप्त परिचय इसी चतु;सूत्री-भाष्य में कर देने की परम्परा थी । आचार्य वल्लभ ने त्रिसूत्री भाष्य की योजना अपनायी थी । परन्तु यह "त्रिसूत्री" और "चतु:सूत्री" का अन्तर नाममात्र का था क्योंकि वल्लभ ने "जन्माद्यस्य यत:" वे० सू० १।१।२ और "शास्त्रयोनित्वात्" वे० सू० १।१।३ इन दोनों सूत्रों को एक करके ही प्रस्तुत किया है । इस प्रकार से "तत्तु समन्वयात्" सूत्र के भाष्य के अन्त में उन्होंने "इति त्रिसूत्रीभाष्यम्" लिखा है । आचार्य विज्ञानभिक्षु ने इन चारों सूत्रों के सदृश महत्त्व पाँचवें सूत्र 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' को भी प्रदान किया है । इस परम्परा-परिवर्तन का कारण कदाचित् यह था कि इस पाँचवें सूत्र द्वारा ईश्वरकर्तृत्वादि विषयों के प्रतिपादन में उनका विशेष संरम्भ दीख पड़ता है । उन्हें अपने मतवाद के—जो कि सांख्ययोग और वेदान्त का मिलन बिन्दु है, अर्थात् संसार का ईश्वरकर्तृकत्व-मण्डन और अनिर्वचनीयतावाद-खण्डन रूप है—प्रतिपादन के लिए यह सूत्र भी पहले चार सूत्रों की ही भाँति विशेष महत्त्वपूर्ण लगा । इसी कारण से उन्होंने पञ्चसूत्री भाष्य का पृथङ्-निर्देश किया है । इस प्रयोग का आधार उन्होंने पूर्वाचार्यों की मान्यता बतायी है। परन्तु अभी तक कोई ऐसी आचार्य-परम्परा उपलब्ध नहीं हुई जिसमें इस प्रकार से चतु:सूत्री के स्थान पर पञ्चसूत्री का उपयोग हुआ हो ।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रस्तुत मङ्गलाचरण में ही उन्होने ग्रन्थगत विषय की संक्षिप्ततम सूचना दे दी है कि वेदान्तप्रतिपाद्य 'ब्रह्म' सकल-संसारव्यापी हैं । चिद्रूप जीव और अचिद्रूप प्रकृति उसकी शक्तियाँ हैं । इन शक्तियों से शक्तिमान् वह ब्रह्म चिन्मात्र है[1] । उन्होंने प्रथम सूत्र के भाष्य में यह भलीभाँति स्पष्ट किया है कि वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है न कि जीवब्रह्मैक्य, जैसा कि शङ्करमतानुयायी मानते हैं ।[2] पूर्ण ग्रन्थ,भाँति-भाँति के तर्कों और प्रमाणों के द्वारा प्रस्तुत शाङ्करमत के खण्डन से भरा पड़ा है । हर प्रासङ्गिक स्थल में शाङ्करमत का प्रबल खण्डन दिया गया है । एक ही प्रकार के विचार का खण्डन अनेक स्थलों पर करने के कारण पुनरुक्ति की भी कमी नहीं हैं । शङ्कराचार्य के अग्राह्य मतों का पूर्णरूपेण खण्डन किए बिना वे आगे नहीं बढ़ते । पादों और अध्यायों के प्रारम्भ में विगत पाद और अध्याय के प्रतिपाद्य विषय की सूक्ष्म-सूचना पूरे ग्रन्थ में दी गयी है । इस प्रकार से सिद्धान्तों को हृदयङ्गम करने में अद्भुत सहायता मिलती है ।

---

१. सर्वत्र यो यत्र सर्वं यश्चसर्वमतो भवेद् ।
चिदचिच्छक्तये तस्मैनमश्चिन्मात्ररूपिणे ।।—वि० भा० पृ० १

२. अस्यशास्त्रस्य जीवब्रह्मैक्यविषयत्वे लिङ्गाद्यभावात् ।—वि०भा०पृ०३१

ग्रन्थ के अन्त में कुछ श्लोक हैं जिनसे पूर्व लगभग पाँच पृष्ठो में पूरे भाष्य का सारांश दिया हुआ है। इन श्लोकों में ज्ञानभावना से ओतप्रोत ब्रह्म की स्तुति है। इस स्तुति में भक्तिभाव से भीने हृदय के उद्गार नहीं हैं प्रत्युत बुद्धिबल के प्रकाशक तर्कों के आधार पर सर्वशक्तिमान् ईश्वर से कैवल्यप्राप्ति की कामना ही प्रकट होती है।[1]

## उपनिषद्भाष्य

उपनिषदों के भाष्य में कोई विषेष संरम्भ नहीं दिखायी पड़ता। साधारण किन्तु सुबोध भाषा में वाक्यों की स्पष्ट व्याख्या की गयी है। इन ग्रन्थों का आकार बहुत पृथुल नहीं है। खण्डन-मण्डन की परम्परा भी बहुत स्वल्प मात्रा में समुपलब्ध होती है। वे ही वेदान्तसिद्धान्त जो सूत्रभाष्य में स्पष्ट किये गये हैं यहाँ पर भी सुगम शैली में प्रस्तुत हैं। इन भाष्यों में सबसे बड़ा ''श्वेताश्वतरोपनिषदालोक'' और सबसे छोटा ''मैत्रेय्युपनिषदालोक'' है।

## ईश्वरगीताभाष्य

उपनिषद्भाष्यों के अनन्तर ईश्वरगीताभाष्य का परिचय आवश्यक है। इस ग्रन्थ का आकार बड़ा है। यह गीता श्रीमद्भगवद्गीता से भिन्न है। ईश्वरगीता कूर्मपुराण के द्वितीय भाग के प्रारम्भिक ११ अध्यायों का ही नाम है। इस गीता में भगवान् महादेव या शिव बदरिकाश्रम में एकत्र सनत्कुमार आदि ब्रह्मज्ञानियों को वेदान्त का उपदेश करते हैं। इस गीता का नाम शिवगीता या उत्तरगीता भी है।[2] इसका प्रतिपाद्य विषय पूर्णतः वेदान्त ही है। विज्ञानभिक्षु ने इसका विशेषण ''वेदान्तसारार्थसंग्राहिणी'' दिया है। विज्ञानभिक्षु ने इस पर भाष्य लिख कर वेदान्तियों द्वारा गीता-भाष्य लिखने की परम्परा का पालन भी किया है। और साथ ही अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन

---

१. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ६२८

२. ईश्वरगीता और उत्तरगीता के नाम से भ्रम न होना चाहिए। क्योंकि शंकर ने अपने भाष्य में कहीं कहीं 'तथाचोक्तमीश्वरगीतायाम्'' कह कर श्रीमद्भगवद्गीता को ही उद्धृत किया है। एक ''उत्तरगीता'' नामक ६ अध्यायों का ग्रन्थ गौडपादकृत-भाष्य सहित गुजराती प्रेस बम्बई से भी प्रकाशित हुआ है। कूर्मपुराण वाली शिवगीता ही विज्ञानभिक्षु को उत्तरगीता और ईश्वरगीता नाम से इष्ट है। अन्य गीताएँ नहीं।

करने के लिए उपयुक्ततर क्षेत्र की प्राप्ति का भी लाभ किया है।[1] उनकी दृष्टि में श्रीमद्भगवद्गीता और ईश्वरगीता में पूर्णतः अर्थसाम्य है। केवल शब्दों का अन्तर है। इसलिए एक पर लिखा गया भाष्य दूसरी के अर्थों का भी पूर्ण प्रकाशक है।

इस भाष्य में भी विज्ञानभिक्षु ने अपने वेदान्त-सिद्धान्तों का प्रकाशन उसी रूप में किया है। दूसरे अध्याय के भाष्य से सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रारम्भ होता है। ब्रह्म और जीव का अंशांशिभाव तथा अविभाग पर आधारित भेदाभेदवाद तो मङ्गलाचरण[2] के श्लोक से ही परिलक्षित होने लगता है। शक्ति रूप जीव और शक्तिमान् रूप ब्रह्म का अभेद तो पूरे ग्रन्थ का मूलमन्त्र बन गया है। ब्रह्म को इस ग्रन्थ में भी संसार का अधिष्ठानकारण सिद्ध किया गया है और संसार ब्रह्म की शक्तिभूतप्रकृति का परिणामरूप। सारांशतः उनका अभेदात्मक अद्वैत-वेदान्तसिद्धान्त इस ग्रन्थ में बड़े ही रोचक ढङ्ग से प्रस्तुत हुआ है।

वेदान्त-ग्रन्थों की कोटि में निर्दिष्ट ब्रह्मादर्श नाम के ग्रन्थ का परिचय देना असम्भव है क्योंकि बड़े प्रयास के पश्चात् भी इसकी कहीं कोई पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं हो सकी है। इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का ज्ञान अवश्य हो जाता है योग-सारसंग्रह के निर्देश से। निश्चय ही इस ग्रन्थ में भी ब्रह्म या ईश्वर का ही वर्णन हुआ[3] है किन्तु प्रतिपादन की परिपाटी क्या रही होगी, यह नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः यह भी उपदेशरत्नमाला की ही भाँति वेदान्त का एक प्रकरण-ग्रन्थ है।

---

१ सर्ववेदान्तसारार्थसंग्राहिण्या अतिस्फुटम्।
भाष्यमीश्वरगीतायाश्चक्रे विज्ञानभिक्षुकः॥
एतेन भगवद्गीता व्याख्यापेक्षाऽपि यास्यति।
शब्दादिभेदेमात्रेण गीतयोरर्थसाम्यतः॥
—ई० गी० भा० पाण्डुलिपि, समाप्तिश्लोक

२. मङ्गलाचरण, ई० गी० भा० पां० लि०।

३. ब्रह्मप्रकरणे ब्रह्मादर्शादावीश्वरोऽपि च।
वर्णितो वर्ण्यतेऽत्र ग्रन्थसंक्षेपकाम्यया॥—यो० सा० सं० पृ० ६८

# सांख्य-ग्रन्थ

## प्रेरणाएँ

विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में यदि वेदान्तशास्त्र श्रुतिवाक्यों का श्रवण कराता है और योगशास्त्र निदिध्यासन का प्रकार बताता है तो सांख्यशास्त्र श्रुतवचनों का मनन कराने वाला है।[1] श्रवण के द्वारा आत्मज्ञान का स्पष्ट संकेत सुलभ होता है। मनन के विना उस तत्त्व का सम्यग् बोध नहीं होता। बिना भली भाँति तत्त्व का बोध हुए परमार्थसाधनापरायण साधक ध्यान या निदिध्यासन में सफल कदापि नहीं हो सकता।[2] इसलिए सांख्यशास्त्र तत्त्वबोध या तत्त्वज्ञान कराने की क्षमता के कारण अपनी अक्षुण्ण महत्ता रखता है। सांख्यशास्त्र ही तत्त्वज्ञान के विषय में सबल उपपत्तियाँ प्रस्तुत करता है[3] और दुर्बोध तत्त्व के अशेष प्रपंचों का सांगोपाङ्ग विवेचन भी करता है। इसीलिए तत्त्वदर्शन या आत्मसाक्षात्काररूपी परम-पुरुषार्थ की साधना का ग्रन्थों द्वारा उपदेश करने में तत्पर विज्ञानभिक्षु के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वे सांख्यशास्त्र पर भी अपनी लेखनी उठावें। यद्यपि अपने वेदान्तभाष्य में तत्त्वों का बड़ा व्यापक और विशद विवेचन उन्होंने पहले ही कर रखा था। फिर भी वेदान्त का प्रमुख प्रतिपाद्य ब्रह्म या ईश्वर होने के कारण ईश्वरातिरिक्त तत्त्वों जैसे प्रकृति, पुरुष आदिकों का केवल ब्रह्म के सम्बन्ध से ही वर्णन हुआ है। प्रकृति, पुरुष आदि के पूर्ण-स्वरूप का विवेचन, उनसे संसार की उत्पत्ति का पूर्ण-प्रकार-निरूपण तथा ज्ञान के विवेक ख्याति आदि सारे आवश्यक रूपों का स्पष्ट वर्णन करना अनिवार्य और अपरिहार्य था। अतः सांख्यशास्त्र के मूलाधार-ग्रन्थ सांख्यसूत्रों पर विज्ञानभिक्षु ने भाष्य लिखना प्रारम्भ किया। एक प्रश्न

---

१. तस्य श्रुतस्य मननार्थमथोपदेष्टुं सद्युक्तिजालमिह सांख्यकृदाविरासीत्। —मंगलाचरण, सां० प्र० भा०।

२. श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥—स्मृतिः, वि० भि० द्वारा सां० प्र० भा० पृ० १ पर उद्धृत।

३. तत्र श्रुतिभ्यः श्रुतेषु पुरुषार्थतद्धेतु, ज्ञानतद्विषयात्मस्वरूपादिषु श्रुत्यविरोधिनीरूपपत्तीःषडध्यायीरूपेण विवेकशास्त्रेण कपिलमूर्तिर्भगवानुपदिदेश।—सां० प्र० भा० पृ० २

यहाँ पर और उठता है कि सांख्य के मूलग्रन्थ के रूप में जब शंकरार्य तथा वाचस्पति मिश्र आदि अनेक मनीषियों ने व्याख्या के लिए 'सांख्यकारिका' को ही चुना था तो विज्ञानभिक्षु ने उस पर भाष्य न लिखकर 'सांख्यसूत्रों' पर भाष्य क्यों लिखा ?

इस प्रश्न का सामाधान सांख्यप्रवचनभाष्य के मङ्गलाचरण में विज्ञानभिक्षु ने स्वयं प्रस्तुत किया हैं। उनका विश्वास था कि जो कपिलमुनि सांख्यशास्त्र के आदि वक्ता थे—उनके द्वारा प्रणीत सांख्यसूत्र की लोकप्रियता उस समय नहीं थी क्योंकि इन सूत्रों के आधार पर लिखे गये षष्टितन्त्र[1] आदि पृथुल ग्रन्थ लुप्त हो गये थे। समय के फेर से मूलसांख्य के भाष्यादि ग्रन्थों के लुप्त हो जाने के कारण कलामात्रावशिष्ट अर्थात् केवल सूत्ररूपों में बचा हुआ सांख्यशास्त्र लोगों के दृष्टि-पथ में था।[2] वाचस्पतिमिश्र आदि ने इसीलिए क्षीण तेज वाले, छः अध्यायों में विभक्त सांख्य-सूत्रों पर भाष्य न लिखकर ईश्वर-कृष्ण-विरचित सांख्यकारिका पर टीकाएँ या व्याख्याएँ लिखी हैं। विज्ञानभिक्षु ने जो कि शास्त्र के मूल रूप का आधार लेना ही पसंद करते थे इसीलिए कारिकाओं पर भाष्य न लिखकर सूत्रों पर भाष्य लिखना अधिक पसन्द किया। इस रीति से वे सांख्य-शास्त्र का मूल रूप भी प्रस्तुत कर सकते थे और साथ ही कालकवलित सांख्य-शास्त्र का उद्धार भी कर सकते थे। इसीलिए कलावशिष्ट सांख्यशास्त्ररूपी चन्द्रमा की कलाओं की अपने वचनामृतों से पूर्ति करने का दावा भी उन्होंने किया है।

इससे यह धारणा न बना लेनी चाहिए कि संख्याकारिकाओं की प्रामाणिकता वे सूत्रों से कहीं कम समझते थे प्रत्युत वे अपने भाष्य में अनेक स्थलों पर[3] सांख्यकारिकाओं को उसी श्रद्धा और प्रामाणिकता के साथ उद्धृत करते हैं जैसे पञ्चशिखाचार्य के वचनों को। तात्पर्य यह कि कपिल-सूत्रों को प्रकाश में लाने और उसे बोधगम्य बनाने का उनका निश्चय ही सांख्यप्रवचन भाष्य लिखने में

---

१. षष्टितन्त्र के सम्बन्ध में भी विद्वानों के अनेक मत हैं। मुझे पं० उदयवीर शास्त्री का मत युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इसीलिए उसी आधार पर मैंने ऊपर की पंक्तियाँ लिखी हैं। पूरे विवेचन के लिए द्रष्टव्य 'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृ० २०४-२७३, पं० उदयवीर शास्त्री।

२. कालार्कभक्षितं सांख्शास्त्रं ज्ञानसुधाकरम्।
कलावशिष्टं भूयोऽपि पूरयिष्ये वचोऽमृतैः ॥ ५ ॥
—मङ्गलाचरण सांख्यप्रवचनभाष्य।

३. द्रष्टव्य, सां०प्र०भा पृ० ६ , ६४, ६१, ६२, ६३ इत्यादि।

प्रधान कारण है न कि सांख्यकारिका के प्रति उनकी कोई हीन-भावना। एक बात इस प्रसंग में और उल्लेखनीय है कि सांख्यकारिका में पूरे सांख्यतत्त्वों के प्रकाशन करने का अवसर भी नहीं था क्योंकि आत्मतत्त्व या पुरुषतत्त्व का पूर्ण विवेचन जितना कि सांख्यशास्त्र को अभिमत है सांख्यकारिका में नहीं दिया गया,[२] इसलिए भी उनको सांख्य-सूत्रों पर भाष्य लिखना अनिवार्य था। ऐसा उन्होंने स्वयं सांख्यसार के मङ्गलाचरण में प्रकट किया है। 'सांख्य-प्रवचन-भाष्य' में सभी ज्ञान के तत्त्वों का और सभी तत्त्वों के ज्ञान का विवेचन किया गया है। सांख्य की सारी प्रक्रिया सांख्य-कारिका और सांख्य-प्रवचन-भाष्य में दी गयी है। इन दो ग्रन्थों से भी जो सांख्य की प्रक्रिया बच जाती है उसका तथा आत्मतत्त्व या पुरुष का प्राधान्येन विवेचन करने के लिए विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसार (विवेक) नाम के प्रकरण ग्रन्थ की भी सर्जना की।[३] इस ग्रन्थ के द्वारा प्रकृति-तत्त्व और पुरुषतत्त्व का विवेक भी बड़ी ही विशाल पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत किया गया है। 'विवेक' ही इस ग्रन्थ का प्रमुख प्रतिपाद्य है। इसलिए मङ्गलाचरण में इस ग्रन्थ को विज्ञानभिक्षु ने सांख्यसारविवेक भी नाम दिया है। इन दोनों ग्रन्थों के विषय-सन्निवेश पर विधिवत् विचार आगे किया जायगा। यहाँ तो इन ग्रन्थों के लिखने के प्रयोजन अर्थात् आन्तरिक प्रेरणा और बहि:प्रेरणाओं का ही विचार करना अभीष्ट है।

वेदान्त-भाष्य लिखते समय विज्ञानभिक्षु ने कहा था कि सांख्यशास्त्रज्ञान के सभी स्वरूपों का विवेचन करने के कारण प्रमाणों पर भी पूर्ण मत प्रकाशित करता है। योगशास्त्र तो प्रधानतः क्रियात्मक विज्ञान है जिसमें साधक को साधना की समुचित गतिविधियों का निर्देश किया जाता है। अतः प्रमाणों की पूरी प्रणाली का ज्ञान योग में भी सांख्य से ही लेना है।[४] इस कारण प्रमाणों की परम्परा का पूर्ण ज्ञान प्रस्तुत करने के लिए भी सांख्य शास्त्र पर ग्रन्थ लिखना विज्ञानभिक्षु के लिए एक प्रबल आन्तरिक प्रेरणा का प्रतिफल था।

'विज्ञानामृतभाष्य' लिखने से अद्वैतवेदान्त जगत् में मची हुई हलचल में भाँति-भाँति की प्रतिक्रियाओं का मुखरित होना स्वाभाविक था। जिन सांख्य

१. सांख्यकारिकया लेशादात्मतत्त्व विवेचितम्। मङ्गलाचरण सां० सा०
२. मङ्गलाचरण सांख्यसार, श्लोक सं० २, ३, ४।
३. सांख्यसारविवेकोऽतो विज्ञानेन प्रपञ्चयते'। सां० सा० का मङ्गलाचरण।
४. 'स्वशास्त्रे ज्ञानोत्पत्तिप्रक्रियाया अभावेन तयोः प्रक्रियैव ग्राह्या अन्तरङ्गत्वात्। वि० भा० पृ० ७३—७४।

ग्रौर योग के सिद्धान्तों के सन्निवेश ग्रौर समर्थन से ग्रद्वैतवेदान्त का स्वरूप विज्ञानभिक्षु ने शाङ्करभाष्य के पर्याप्त विरुद्ध प्रस्तुत किया था, शङ्करानुयायियों ने उस सांख्ययोगज्ञान पर भी छींटाकशी जी खोल कर की होगी। बहुत संभव है कि प्रतिक्रिया के ग्रावेश में उन लोगों ने यह स्पष्ट रीति से कहना प्रारम्भ किया हो कि विज्ञानभिक्षु ने सांख्य के जिस स्वरूप की दुहाई वेदान्तभाष्य में दी है वह सांख्य का वास्तविक स्वरूप ही नहीं है। क्योंकि ग्राचार्य वाचस्पति मिश्र ग्रादि ने सांख्य के समग्र सिद्धान्त को जिस रूप में ग्रपनी 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' ग्रादि में प्रकाशित किया है उससे विज्ञानभिक्षु के सांख्य-सिद्धान्त बहुत भिन्न हैं।[1] विज्ञानभिक्षु के सांख्य-सिद्धान्त इस ग्राधार पर विरोधियों के द्वारा स्वोत्प्रेक्षितमात्र क़रार दिये गये होंगे। इसलिए विज्ञानभिक्षु को ग्रपने सांख्य-ज्ञान को मौलिक कापिल सांख्य से ग्रविरुद्ध सिद्ध करना भी तत्काल ग्रनिवार्य प्रतीत हुग्रा होगा। योगवार्तिक लिख कर के ग्रपने योगसिद्धान्तों को उन्होंने पतञ्जलि ग्रौर व्याससम्मत सिद्ध ही कर रखा था। ग्रतः रचनाग्रों के काल क्रम से 'सांख्यप्रवचन-भाष्य' लिखने की बाह्य प्रेरणा का भी उन्होंने स्वागत किया ग्रौर वाचस्पतिमिश्र ग्रादि ग्रद्वैतवेदान्तियों तथा ग्रनिरुद्ध नामक ग्रद्वैतवेदान्तोन्मुख सभी सांख्यटीकाकारों के भ्रान्त ग्रौर ग्रसंगत मतवादों के निरास पूर्वक सांख्यसूत्रों का ग्रतिशय महनीय भाष्य प्रस्तुत किया।

'सांख्यप्रवचनभाष्य' लिखने के पश्चात् पारमार्थिक भूमि में प्रशस्त तीनों ग्रास्तिक दर्शनों के सूत्रों की व्याख्या की परम्परा पूरी हो गयी थी। सांख्य-योग-वेदान्त के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में ग्रब उन पर कोई उँगली नहीं उठा सकता। उनका मतवाद एक सुनिश्चित, ग्रविकल तथा सुस्थिर स्वरूप धारण कर चुका था। उनका ग्राचार्यत्व सर्वसाधारण में स्थापित हो गया था। ग्रतः शिष्यों पर ग्रर्थं के विवेचनपूर्ण प्रतिपादन का विशाल उपक्रम करने की ग्रावश्यकता उन्हें नहीं थी। ये तीनों ग्रन्थ पर्याप्त थे उनके सिद्धान्त के ग्रशेषविशेषों को समझाने के लिए। ग्रब एक नैसर्गिक प्रतिक्रिया होती है कि ग्रपने सिद्धान्तों के समन्वित रूपों का संक्षिप्त प्रकाशन किया जाय। जिसे शिष्यगण सदा स्मरण रख सकें ग्रौर प्रधान तथा सारभूत बातों के लिए पूरे तीनों ग्रन्थों का बार-बार ग्रालोडन-विलोडन करने का ग्रायास उन्हें न करना पड़े। इस ग्रान्तरिक प्रतिक्रिया का प्रतिफल उनके 'सांख्यसार' ग्रौर 'योगसारसंग्रह' नाम के ग्रन्थ हैं। इनमें से 'सांख्यसार' उनके ज्ञान के सिद्धान्तों का संक्षिप्ततम संस्करण है।[2] ग्रौर 'योगसार

---

१. द्रष्टव्य 'सांख्यसिद्धान्त' द्वितीय-पटल, इसी ग्रन्थ में पृ० सं० १३८—१७८।
२. सांख्यसार-विवेकोऽतो विज्ञानेन प्रपञ्च्यते। मङ्गलाचरण-सां० सा०

संग्रह' योगसाधना की विधियों का सूक्ष्म संकलन । 'सांख्यसार' वस्तुतः तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी उनके सारे सिद्धान्तों का मुकुटमणि है ।

## सांख्यप्रवचनभाष्य का स्वरूप

सांख्यसूत्रों के छह अध्याय हैं। इस कारण से इस सूत्र-ग्रन्थ को षडध्यायी भी कहा गया है । विज्ञानभिक्षु ने भी कहीं-कहीं इस सूत्र-ग्रन्थ को षडध्यायी नाम दिया है । इसी सूत्र-ग्रन्थ पर विज्ञानभिक्षु का सांख्य-प्रवचन—भाष्य लिखा गया है । इस सांख्य-भाष्य के द्वारा लुप्तप्राय सांख्यशास्त्र का उद्धार प्रमुख प्रयोजन है । साथ ही चिति या पुरुष को चिदचिद्ग्रन्थियोंसे छुड़ाना अर्थात् पुरुष का कैवल्य-पथ प्रशस्त करना, उसके सांसारिक-बन्धनों से विमुक्त स्वरूप को प्रदर्शित करना उनका वास्तविक प्रयोजन है ।[1] मंगलाचरण के अन्तिम श्लोक में अपने इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य भी उन्होंने 'सर्वात्मनामवैधर्म्यम्' कह कर प्रकाशित किया है । अर्थात् पुरुष का सच्चा सांख्यसम्मत स्वरूप-निर्धारण करना इस ग्रन्थ का प्रमुख विषय है ।

भाष्य प्रारम्भ करते ही इस ग्रन्थ की महत्ता और इस शास्त्र का अन्य मुख्य आस्तिक दर्शनशास्त्रों से अविरोध प्रकट किया गया है। यहीं पर उनकी यह धारणा भी स्पष्ट हो गयी है कि सांख्यशास्त्र की महत्ता और विशेषता विवेक-प्रतिपादन में है, ईश्वर-प्रतिषेधवाले अंश में नहीं । ईश्वरप्रतिषेध तो सांख्य की दुर्बलता और अग्राह्य सीमा है ।[2] इस ग्रन्थ का प्रथम अध्याय अपेक्षाकृत विशाल है। इसमें कुल १६४ सूत्र हैं जिन पर विज्ञानभिक्षु ने बड़े मनोयोग से विस्तृत भाष्य प्रस्तुत किया है। इस अध्याय को उन्होंने 'विषयाध्याय' कहा है। अध्यायान्त में विज्ञानमिक्षु के स्वनिर्मित दो श्लोक हैं जिनमें विषयों की संक्षिप्त सूची है ।

द्वितीय अध्याय में सृष्टि-प्रक्रिया वर्णित है। इसमें कुल ४७ सूत्र हैं । इसका नाम उन्होंने 'प्रधानकार्याध्याय' दिया है। विषय-सूची देनेवाला श्लोक यहाँ मी अन्त में अन्य समी अध्यायों की भाँति दिया गया है। ८४ सूत्रोंवाले तृतीय

---

१. चिदचिद्ग्रन्थभेदेनमोचयिष्येचितोऽपि च ।
सांख्यभाष्यमिषेणास्मात् प्रीयतां मोक्षदो हरिः ।। ६
—मङ्गलाचरण सां० प्र० भा०

२. तद्विवेकांश एव सांख्यज्ञानस्य दर्शनान्तरेभ्य उत्कर्षं प्रतिपादयति नत्वीश्वरप्रेतिषेधांशेपि ।—सां० प्र० भा० पृ० ३

तथा ३२ सूत्रोंवाले चतुर्थ अध्याय को क्रमशः 'वैराग्याध्याय' और 'आख्यायिकाध्याय' नाम दिया है। यहीं तक में पूरे सांख्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का संकलन समाप्त हो जाता है।[1] अतः पंचम अध्याय में पूर्वपक्षों का निरास ही प्रधानतः किया गया है। इसमें १३० सूत्र हैं। इसका नाम विज्ञानभिक्षु ने 'परपक्षनिर्जयाध्याय' रक्खा है। अध्यायान्त के श्लोक ने इस अध्याय की संगति परपक्षनिराकरण पूर्वक स्व-सिद्धान्त-दृढीकरण के द्वारा लगायी है। इसके बाद ७० सूत्रों वाला छठवाँ तथा अन्तिम अध्याय 'तन्त्राध्याय' नाम से व्याख्यात हुआ है। इस अध्याय की अन्विति विज्ञानभिक्षु के मत में शिष्यों को असन्दिग्ध और अविपर्यस्त उक्तार्थों का दृढ़तर बोध कराने के कारण स्थूणानिखननन्याय से है।[2] ग्रन्थान्त में कपिल की प्रामाणिकता का शाङ्कर सिद्धान्त के खण्डन-पूर्वक निर्धारण जोरदार शब्दों में किया गया है। अन्तिम दो श्लोकों के द्वारा कपिल के उपकार, कृतित्व का रूपक द्वारा स्तवन[3] तथा अपने भाष्य की प्रामाणिकता की परिपुष्टि की गयी है।[4] सांख्यशास्त्र की परम्परा में इस भाष्य की अद्वितीय महत्ता है।

## सांख्यसार का स्वरूप

विज्ञानभिक्षु के समस्त सिद्धान्तों का संक्षिप्त संकलन इस ग्रन्थ में हुआ है। उनके सारे विचारों का समन्वित संस्करण हमें इस ग्रन्थ में देखने को मिलता है। उनके दर्शन का सम्यग् बोध प्राप्त करने के लिए यह एक ग्रन्थ पर्याप्त है। इस प्रकार से यह ग्रन्थ न केवल सांख्यशास्त्र का एक मात्र अद्वितीय ग्रन्थ है अपि तु मोक्षमार्ग को प्रशस्त करने की अन्यतम कुञ्जी भी है। इतने सूक्ष्म कलेवर में सारे तत्त्व-विचारों का प्रभावपूर्ण सन्निवेश उनकी सफल व्याख्या-शैली का स्तुत्य आदर्श है। मङ्गलाचरण में ही उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह ग्रन्थ

---

१. स्वशास्त्रसिद्धान्तः पर्याप्तः। सां० प्र० भा० पञ्चमाध्याय की उत्थानिका।

२. उक्तार्थानां हि पुनस्तन्त्राख्ये विस्तरे कृते शिष्याणामसन्दिग्धाविपर्यस्तो दृढतरो बोध उत्पद्यत इत्यतः स्थूणानिखननन्यायादनुक्तयुक्त्याद्युपन्यासाच्च नात्र पौनरुक्त्यं दोषाय।—सां० प्र० भा० पृ० १५१

३. सांख्यकुल्याः समापूर्य वेदान्तमथितामृतैः।
कपिलर्षिर्ज्ञानयज्ञे ऋषीनापाययत् पुरा ॥१॥—सां प्र० भा० पृ० १६८

४. तद्वचः श्रद्धया तस्मिन् गुरौ च स्थिरभावतः।
तत्प्रसादलवेनेदं तच्छास्त्रं विवृतं मया ॥ २ ॥—सां० प्र० भा० पृ० १६८

जहाँ एक ओर सांख्यकारिका और सांख्यप्रवचनभाष्य का पूरक है वहाँ विज्ञानभिक्षु के सारे तात्त्विक विचारों की घनीभूत मूर्ति और उनके सांख्ययोगवेदान्त-समन्वय का सुरुचिपूर्ण प्रतिफल भी है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने मङ्गलाचरण के तुरन्त बाद चार पाँच पंक्तियों वाले एक वाक्य में अपने मोक्ष सिद्धान्त का डिण्डिमनाद प्रस्तुत किया है। यही वाक्य उनके सिद्धान्तों का बीजमन्त्र[1] है। इस लघुकाय ग्रन्थरत्न के 'पूर्वभाग' और 'उत्तरभाग' नाम से दो प्रमुख माग हैं। पूर्वभाग की रचना गद्यमयी और उत्तरभाग की रचना बिल्कुल पद्यमयी है। इस अन्तर का कारण भी विज्ञानभिक्षु ने उत्तरभाग की रचना के प्रारम्भ में ही दे दिया है कि शिष्यों के स्मरण रखने की सुविधा से यह भाग पद्यमाला में प्रस्तुत किया गया है।[2]

ग्रन्थ का पूर्वभाग तीन परिच्छेदों में विभक्त है। इन परिच्छेदों के नाम विषयों के आधार पर इस प्रकार हैं[3]—

१—विवेकख्यातिजन्य परमपुरुषार्थ का परिच्छेद

२—मोक्षहेतु-विवेकख्याति का परिच्छेद

३—विवेकख्यातिप्रतियोगी प्रकृत्यादिपदार्थस्वरूपों का परिच्छेद

इन्हीं विषयों का इन परिच्छेदों में क्रमशः सूक्ष्म एवं संक्षिप्त शब्दों में विशद एवं स्पष्ट विवेचन किया गया है। परम पुरुषार्थभूतमोक्ष अभ्यर्हित होने के कारण प्रथम परिच्छेद में विवेचित किया गया है। उसके बाद क्रम-प्राप्त विवेकख्याति के स्वरूप का निर्वचन किया गया है। इसके बाद क्रम-प्राप्त विवेक-ख्याति के प्रसङ्ग में स्वतः उपस्थित होने वाले प्रकृति और तद्विकसित तत्त्वों के स्वरूपों का साङ्ग विवेचन हुआ है।

---

१. आत्मानात्मविवेकसाक्षात्कारात् कर्तृत्वाद्यखिलाभिमाननिवृत्या तत्कार्यरागद्वेषधर्माधर्माद्यनुत्पादात् पूर्वोत्पन्नकर्मणाम् चाविद्यारागादिसहकार्युच्छेदरूप दाहेनविपाकानारम्भकत्वात् प्रारब्धसमाप्त्यनन्तरं पुनर्जन्माभावेन त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरूपो मोक्षो भवति इति श्रुतिस्मृतिडिण्डिमः।—सां० सा० पृ० २

२. अथशिष्यैः सुखेनैव ग्रहीतुं पद्यमालया। विवेकस्यानुयोग्यात्मा पुरुषाख्यो निरूप्यते ॥१॥—सां० सा० पृ० २२

३. द्रष्टव्य, प्रत्येक परिच्छेद की पुष्पिका।—सां० सा० पू० भा०।

इस क्रम की विवक्षा में पुरुषतत्त्व का स्वरूप और उसका प्रकृति से विविक्तत्व तथा साधना का मार्ग अवशिष्ट रह जाता है। इन सब बातों का पूर्ण प्रकाशन 'उत्तरभाग' में किया गया है। इस भाग का विभाजन विषयभेद के आधार पर ७ परिच्छेदों में हुआ है। इन सातों परिच्छेदों का नाम इस प्रकार रक्खा गया है।[1]

१—पुरुषस्वरूपपरिच्छेदः

२—आत्मानात्मनोःसत्यासत्यत्ववैधर्म्यपरिच्छेदः

३—आत्मानात्मनोःचिदचित्ववैधर्म्यपरिच्छेदः

४—आत्मानात्मनोः प्रियाप्रियत्ववैधर्म्यपरिच्छेदः

५—आत्मवैधर्म्यगणपरिच्छेदः

६—राजयोगप्रकार-परिच्छेदः

७—जीवन्मुक्तिपरममुक्तिः इति द्वयोः परिच्छेदः

पूरे उत्तरभाग में पुरुषतत्त्व के स्वरूप का निश्चय, अनात्मपदार्थों से उसके वैधर्म्य का निर्धारण तथा 'राजयोग' रूपी साधनामार्ग एवं परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष के ऐहिक एवम् आमुष्मिक रूपों (अर्थात् जीवन्मुक्ति और परममुक्ति) का स्वरूप सविस्तार प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार से इस ग्रन्थ का उत्तरभाग अपने आप में एक पूर्ण ग्रन्थ है। इसीलिए इसकी अवतारणा पद्य रूप में की गयी है। बीच बीच में विरोधी दार्शनिकों के मतवादों का खण्डन भी पद्यों के द्वारा सुललित रीति से कर दिया गया है।[2] अपने सिद्धान्तों की स्थापना के लिए बड़े प्रसिद्ध योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थों के श्लोकों को भी ज्यों का त्यों रख दिया गया है।[3] विज्ञानभिक्षु ने परग्रन्थगृहीत श्लोकों का उद्धरण देकर अपनी स्वाभाविक सरलता और अपनी तत्त्वमात्रैकबद्धदृष्टि का भी परिचय दिया है।

---

१. द्रष्टव्य, प्रत्येक परिच्छेद की पुष्पिका।—सां० सा० उ० भा०।

२. नन्वेवमेकतैवास्तु लाघवादात्मनां खवत्।
धीष्वेव सुखदुःखादिवैधर्म्यादिति चेन्न तत्।२३।—सां० सा० पृ० २४ इत्यादि।

३. परव्यसनिनीनारी व्यग्रापि गृहकर्मणि।
तदेवाऽऽस्वादयत्यन्तर्नरसङ्गरसायनम् ॥१५॥ इत्यादि।
—सां० सा० पृ० ४० इत्यादि।

# योगवार्तिक

## प्रेरणाएँ

योगशास्त्र पर लेखनी उठाने के लिए भी आचार्य विज्ञानभिक्षु के सामने नितान्त प्रेरक वातावरण समुपस्थित था। उनके गुरु भी प्राधान्येन योगी थे क्योंकि इनको उन्होंने योगमार्ग में ही प्रथमतः दीक्षित किया था। योगसारसंग्रह में पतञ्जलि और व्यास की वन्दना करते समय "अन्यान् गुरून्" पदों से विज्ञानभिक्षु ने कदाचित् "आदरार्थे बहुवचनम्" के अनुसार अपने गुरु की ही अभिवन्दना की है। अतः योगशास्त्र की ओर इनकी अभिरुचि और उसमें इनका पारङ्गतत्व स्वभाविक ही था। इन्हें स्वयं योगशास्त्र के सिद्धान्तों के प्रति असीम श्रद्धा तथा अमित विश्वास था। "ऋजुभाष्य" लिखते समय अनेकशः योगसूत्रों का तथा भाष्य-सम्मतियों का बड़ी निष्ठा से उद्धरण दिया गया है। इतना ही नहीं ऋजुभाष्य में प्रथम सूत्र के भाष्य में ही कम से कम तेरह बार योग की दुहाई दी गयी है। इसी स्थल में पातञ्जल सूत्र को अपने मत के समर्थन में इस धारणा या ढङ्ग से उपन्यस्त किया गया है[1] जैसे उसकी अकाट्यता स्वतः सिद्ध हो। "ऋजुभाष्य" में ही शङ्करादि जगन्मिथ्यात्ववादी अद्वैत-मतावलम्बियों का खण्डन करने के लिए तथा उन्हें प्रच्छन्न-बौद्ध एवं वेदान्तिब्रुवादि उपाधियों से भूषित करने के लिए एकमात्र योग-भाष्य की पंक्तियों का सहारा लिया गया है।[2]

विज्ञानभिक्षु योग के प्रति इतना अधिक आश्वस्त थे कि उनकी दृष्टि में योग ही एकमात्र सर्वसम्पन्न दर्शन है। शेष सभी दर्शन उसके अङ्गमात्र प्रतीत होते थे।[3]

---

१. न च सति मूले तद्विपाकोजात्यायुर्भोगा इति पतञ्जलसूत्रेण क्लेशसत्व एव कर्मविपाको भवतीति वचनात्कथं विदुषाभोगः स्यादितिवाच्यम्। —ब्र० सू० विज्ञानामृतभाष्यम् पृ० २१

२. इति सिद्धं योगभाष्ये व्यासैरेवमवघृतत्वात्।—वि० भा० पृ० ८८
तदाद्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानमितियोगसूत्रात्। वही पृ० ७७
योगजधर्माणां शास्त्रसिद्धाचिन्त्यशक्तित्वाद्। वही पृ० ७२

३. गङ्गाद्याः सरितो यद्वदब्धेरंशेषु संस्थिताः।
सांख्यादिदर्शनान्येवमस्यैवांशेषु कृत्स्नशः ॥४॥—यो० वा० मङ्गलाचरणम्।

योग के सिद्धान्त इन्हें सारे वेदों के सारभूत लगते थे[१]। अतः उनकी निर्वि-चिकित्सित घोषणा है कि मुमुक्षुओं की एकमात्र गति योगशास्त्र ही है, "मुमुक्षूणामिदं गतिः,—यो० वा०। इस प्रकार की धारणा रखने पर स्वाभाविक ही है कि वे योग पर लिखने के लिए अत्यन्त उत्कटता से आकृष्ट हुए हों।

यद्यपि वेदान्तसूत्रों का भी उन्होने योगसम्मत ही अर्थ किया था और सांख्य-शास्त्र की मान्यता योगाविरुद्ध ही है फिर भी योग-शास्त्र दोनों शास्त्रों की अपेक्षा उन्हें अधिक अनुकूल लगा। क्योंकि वेदान्तप्रतिपादित ज्ञानराशि की प्राप्ति के उपायों का पर्यवसान—"आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यःमन्तव्यः निदिध्यासितव्यश्च' के अनुसार निदिध्यासन में ही है। जो केवल सम्प्रज्ञातयोग की ही भूमि है। अतः योग के बिना वह विकलाङ्ग ही है। सांख्य में सब कुछ स्वारस्य होने पर भी सेश्वरता का अभाव है। अतः भक्तिभावनाभावित विज्ञानभिक्षु के अन्तस्तल में सांख्य वह आदरपूर्ण स्थान न बना सका जो योग ने प्राप्त किया था।

ब्रह्मसूत्र-भाष्य लिखने के लिए उनके मन में उतनी तीव्र प्रेरणा नहीं थी जितनी कि बाह्य अनिवार्यता। गुरुदक्षिणा के रूप में अथवा वेदान्तिब्रुवों के मतों का खण्डन करने के लिए ही प्रधानतः 'ऋजुभाष्य' का प्रथम उपन्यास किया गया था। पर योगवार्तिक लिखने की प्रेरणा उतनी बाहरी नहीं है जितनी कि उनकी आन्तरिक चेतना। इस योगामृत को निकाल कर योगीन्द्रों के अमृतपान के लिए उपस्थित करने को आचार्य विज्ञानभिक्षु लालायित थे[२]। ऋजुभाष्य के द्वारा पाखण्डासुरयूथपों को जीतने के पश्चात् ही इस अमृतपान का आनन्द उठाया जा सकता था इसीलिए इस वार्तिक की रचना का अवसर अब आया था। अतः अपनी प्रतिभा के प्रखर प्रसार को योगवार्तिक के रूप में प्रकाशित करने का उन्होंने सफल संकल्प किया।

अपने द्वारा प्रस्तुत किये गये दोनों अमृतों—"विज्ञानामृत" एवम् "योगामृत" में भी उन्होंने उत्कर्ष परम्परा पात्र-भेद से प्रकट करने की चेष्टा की है। विज्ञाना-मृत नामक अमृतरस सामान्य भूदेवों के पान करने के लिए उपस्थित किया गया था,

---

१. सर्ववेदार्थसारोऽत्र वेदव्यासेन भाषितः। योगभाष्यमिषेणातो मुमुक्षुणामिदंगतिः॥ ६॥ यो० वा० मङ्गलाचरण।

२. अन्तर्यामिगुरूद्दिष्टज्ञान-विज्ञान-भिक्षुणा। ब्रह्मसूत्रऋजुव्याख्या क्रियते गुरुदक्षिणा ॥ २॥ वि० भा० मङ्गलाचरण। विजित्यज्ञानकर्मभ्यां यान्तु श्रीमद्गुरोः पीत्वैतद्बलवन्तस्ते पाखण्डासुरयूथपान्। पदम् ॥ ५॥—वि० भा० मङ्गलाचरण।

जब कि योगामृत उनमें से कतिपय लब्धप्रतिष्ठ, स्वनामधन्य योगीन्द्रों के लिए, साधारण योगियों के लिए नहीं उपन्यस्त हुआ है।[1]

इन आन्तरिक अनिवार्यताओं के ही अनुकूल कुछ बाह्य परिस्थितियाँ भी ऐसी थीं जिन्होंने "योगवार्तिक" जैसे दिव्यग्रन्थरत्न की सर्जना के सद्यःसमारम्भ में योगदान किया। अन्यमतखण्डनप्रधान रचना (विज्ञानामृतभाष्य के रूप में) करने पर अभी विज्ञानभिक्षु का स्वरूप लोकमत में वैतण्डिक की ही भाँति उद्भासित हुआ था उस स्वरूप की पूर्णता अपने मत के परिपुष्ट उपन्यास के द्वारा ही सुलभ थी। तभी उनका पूर्ण आचार्य-रूप विद्वज्जनों में मान्य होता। अतः योगवार्तिक की रचना उनके लिए अत्यन्त आवश्यक थी जिसके द्वारा अपने विचारों का उपदेश वे विधेयरूप में कर सकते थे।

योगशास्त्र में सूत्र एवं भाष्य पर सुविस्तृत व्याख्या लिखने के लिए क्षेत्र भी पर्याप्त था। क्योंकि वाचस्पतिमिश्र-कृत तत्त्ववैशारदी में भी कई अभाव उन्हें खटकते थे। प्रथम तो यह कि वाचस्पति मिश्र में योगानुभव उतना नहीं था जितना कि तर्कशक्ति से विषय की सिद्धि का प्रयास। द्वितीय यह कि भोजराज ने स्वयं यद्यपि उन त्रुटियों से बचने की बड़ी चेष्टा की थी पर संक्षिप्त शैली के कारण तथा केवल सूत्रों पर वृत्ति लिखने के कारण उनका वांछनीय परिमार्जन नहीं हो सका था। इसलिए योगवार्तिक लिख कर उन त्रुटियों से रहित एक बोधगम्य तथा निरवद्य व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए उचित अवसर था।

अतः वार्तिककार आचार्यभिक्षु ने अवसर की चेतना से सर्वथा अनुप्राणित होकर योगवार्तिक का प्रणयन बड़े धूम-धाम से यह कहते हुए किया है कि —ब्रह्ममीमांसा और सांख्य शास्त्र में केवल ज्ञान का ही प्रधानतः विचार किया गया है और ज्ञान के साधनभूत योग का संक्षेपतः वर्णन किया गया है। ज्ञानजन्य चरमयोग (असम्प्रज्ञात) का लेशमात्र भी विचार नहीं किया गया है इसलिए

---

१. (क) ज्ञानामृतं गुरोः प्रीत्यै भूदेवेभ्योनुदीयते।—वि० भा० ३।२
कुतर्कान्विञ्चयित्वेदं पीयताममृतेप्सुभिः॥—वि० भा० ४।२
(ख) वेदव्यासमुनीन्द्र-बुद्धि-खनितः योगीन्द्रपेयामृत :।
भूदेवैरमृतं तदत्र मथितुं विज्ञान-विज्ञै रिह।—यो० वा० मंगलाचरण।

२. दुर्बोधं यदतीव तद्विजहतिस्पष्टार्थमित्युक्तिभिः।
स्पष्टार्थेष्वति विस्तृतिं विदधति व्यर्थैःसमासादिकैः॥
अस्थानेऽनुपयोगिभिश्च बहुभिर्जल्पैर्भ्रमं तन्वते।
श्रोतॄणामिति वस्तुविप्लवकृतः सर्वेऽपि टीकाकृतः॥—६॥ रा० मा० वृ०

दोनों प्रकार के योगों का प्रतिपादन करनेवाले योगशास्त्र का प्रणयन महर्षि पतञ्जलि ने सूत्र रूप में किया है ।[1] अतः द्विविधयोग का सम्पूर्ण ज्ञान सुलभ कराने के लिए योगवार्तिक प्रस्तुत किया गया है ।

## योगवार्तिक का स्वरूप

इन प्रेरणाओं से अनुप्राणित आचार्य विज्ञानभिक्षु ने योगसूत्रभाष्य पर वार्तिक की सर्जना करने के लिए अपनी मँजी हुई लेखनी उठायी और अद्भुत सफलता के साथ उक्तानुक्त-दुरुक्त प्रसंगों का बड़ी सूक्ष्मता और सुस्पष्टता से चिन्तन प्रस्तुत किया है । आदि में भव्य और भावपूर्ण मङ्गलाचरण है। प्रथम श्लोक में परब्रह्म की वन्दना की गयी है । जिसमें भक्त और भगवान् का शुद्ध स्वरूप तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध की दार्शनिक झाँकी दिखायी गयी है। द्वितीय श्लोक में सिन्धु-विमन्थन के रूपक के द्वारा ग्रन्थ का महत्त्व एवं प्रयोजन प्रतिपादित किया गया है । तृतीय तथा चतुर्थ श्लोकों में योगशास्त्र की महनीयता का अङ्कन है ।

योगवार्तिक सूत्र तथा भाष्य के आधार पर चार भागों अथवा पादों में विभक्त है । भाष्यकार के लिए वाचस्पतिमिश्र के ही समान इन्होंने भी भगवान् बादरायण की संज्ञा प्रदान की है ।[2] योगशास्त्र में आये हुए पदों का यथासम्भव व्युत्पत्ति प्रदर्शन-सहित अर्थ बताने की चेष्टा की गयी है। सर्वत्र 'ननु' और 'अथ' इत्यादि के द्वारा शंका का उत्थापन करके उसका सुबोध समाधान कराने का प्रयास किया गया है ।

जहाँ पाठ-भेद मिले हैं, उनका भी अर्थ स्पष्ट किया गया है। यदि किसी भी भिन्न पाठ की संगति पर उन्हें आपत्ति हुई तो उसका भी प्रसङ्गादिनिर्देश-पूर्वक उन्होंने समीचीन खण्डन किया है ।[3] तत्त्ववैशारदीकार आचार्य वाचस्पति-

---

१. ब्रह्ममीमांसासांख्यादिषु च ज्ञानमेव विचारितं बाहुल्येन, ज्ञानसाधनमात्रस्तु योगः संक्षेपतः, ज्ञानजन्ययोगस्तु संक्षेपतोऽपि तेषु नोक्तोऽतोऽतिविस्तरेण द्विविधयोगंऽप्रतिपिपादयिषुर्भगवान् पतञ्जलिः प्रतिज्ञातवान् ।

—योगवार्तिक पृ० ५, ६

२. 'अथयोगानुशासनम्' तदिदं सूत्रमारभ्य समग्रं शास्त्रं सर्वलोकहिताय भगवान् बादरायणो व्याचष्टे ।—यो० वा० पृ० ६

३. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ४०, पृ० ३९ इत्यादि । यथा—
पञ्चमी-पाठस्तु लेखक-प्रमादात्प्रत्यक्षसिद्धेऽनुमितिवैयर्थ्यादिति ।

मिश्र के उपयुक्त मतों को तो उन्होंने निस्संकोच अपनाया है। यहाँ तक कि कभी-कभी वाचस्पति मिश्र के वाक्यादि ज्यों के त्यों अपना लिये गये हैं। द्वितीय पाद के प्रारम्भ में आया हुआ उत्थानिकारूप वाक्य-विन्यास तत्त्ववैशारदी से ही लेकर ज्यों का त्यों आचार्य विज्ञानभिक्षु ने उस स्थान पर अपने वार्तिक में प्रयुक्त कर दिया है।[1] परन्तु जहाँ उन्होंने वाचस्पति मिश्र को अनभिमत अर्थ करते देखा है वहाँ सच्चे सत्यान्वेषक की भावना से उसे त्याग कर उपयुक्त एवं तद्भिन्न अर्थ ही रखा है। और पाठकों की पूर्वाग्रहजन्य भ्रान्ति को मिटाने के लिए तत्त्ववैशारदीकार को आड़े हाथों भी लिया है। पूरा 'योगवार्तिक' इस प्रकार के खण्डन-मण्डनों से भरा हुआ है।[2]

प्रथम पाद के अन्त में सांख्य एवं योगशास्त्र की अत्यन्त गवेषणापूर्ण किन्तु संक्षिप्त तुलना के द्वारा दोनों का साम्य तथा वैषम्य स्पष्ट किया गया है और योग को सांख्य का ही प्रकर्षेण वचन अर्थात् सांख्य-प्रवचन बताया है। स्थान-स्थान पर अपने चरमसिद्धान्तों की सङ्गति बताते रहने का क्रम उन्होंने पालन किया है।[3]

---

१. 'ननु प्रथमपादेनैव—आह उद्दिष्ट इति'। द्रष्टव्य तत्त्ववैशारदी और योग-वार्तिक पृ० २३३

२. उदाहरणार्थ---'कश्चित्तु संवेगो वैराग्यमितिव्याचष्टे तत्र योगिनोनवधात्-वानुपपत्तेः।—यो० वा० पृ० ३१ ओर ६१

३. 'तदेव क्रियायोगस्य मोक्षज्ञानादिव्यापारकथनात्कर्मयोगो ज्ञानादिसाधनतया ज्ञानाद्यङ्गमेव न साक्षान्मोक्षहेतुरितिसिद्धान्तः इति।—यो० वा० पृ० १४२

# योगसारसंग्रह

## प्रेरणाएँ

ग्रन्थों के पौर्वापर्य को निर्णीत करते हुए यह सिद्ध किया जा चुका है कि उनके अन्तिम ग्रन्थ क्रमशः 'सांख्यसार' एवं 'योगसारसंग्रह' हैं। सांख्यसार उनका शुद्धविवेक-विषयक प्रबन्ध है।[1]

'योगसारसंग्रह' में इस परिपाटी का परिपाक प्रतिफलित हुआ है। समग्र विवेक तथा विशाल अनुभव की आधार-शिला पर ही मोक्ष साधना की प्रक्रिया का ज्योतित प्रकाश करनेवाले इस गन्थरत्नस्तम्भ का भव्य निर्माण किया गया है।

निरन्तर उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थप्रणयन करते रहने से आचार्य की शैली का भी परिमार्जन हो चला था। उनकी वाणी की प्रभावोत्पादकता और नैसर्गिक ओजस्विता में भी अधिकाधिक सतर्कता और स्फीतता संक्रान्त हो चुकी थी। वाग्विस्तार के लोभ में भी वांछनीय क्षीणता आ गयी थी। अतः उन्होंने अपनी प्रौढतम मान्यताओं को सुरुचिपूर्ण शैली में संकलित करने का संकल्प किया और अपनी मौलिक विचारधाराओं को योगसारसंग्रह में सन्निविष्टि कर दिया है।

ग्रन्थ के आरम्भ में आए हुए तृतीय श्लोक में आचार्य विज्ञानभिक्षु ने स्वयं यह संकेत किया है कि योगवार्तिक के द्वारा सुलभ किए गए अमृतरसधार का भी सार-भाग अर्थात् उसका भी उत्तमांश इस ग्रन्थकलश में मुमुक्षुओं के पान करने के लिए सन्निहित किया गया है।[2]

प्रक्रिया बताने वाले अथवा साधना की रीति बतानेवाले ग्रन्थ में केवल शास्त्रप्रमाण और अनुमानप्रमाण पर आधारित रहने से विषय का पूर्ण तथा संशयहीन प्रतिपादन नहीं हो सकता। योगवार्तिक की रचना करते समय विज्ञान-भिक्षु साधना के मार्ग पर आरूढ ही थे उस मार्ग को पार नहीं कर चुके थे।

---

१. सांख्यसारप्रकरणे विवेको बहुवर्णितः।—यो० सा० सं० पृ० ११२

२. वार्तिकाचलदण्डेन मथित्वा योगसारम्।
उद्धृत्यामृतसारोऽयं ग्रन्थकुम्भे निधीयते ॥ ३ ॥—यो० सा० सं० मंगलाचरण

अतः तब तक विवादास्पद स्थलों पर शास्त्रप्रमाणों एवं बुद्धि-बल के अनुमान तर्क आदि उपादानों का ही उन्हें सहारा था। अतः दो-टूक निर्णय करनेवाली शक्ति की कमी से उनकी लेखनी में वह सशक्तता उन्हें अपने आप में नहीं प्रतीत होती थी, जिसकी आवश्यकता इतने महत्त्वशाली, अनुभवसापेक्ष तथा जटिलशास्त्र का प्रतिपादन करने के लिए अनिवार्य होती है। योगसारसंग्रह लिखने के समय तक वे उस साधनामार्ग को पार कर चुके थे और एक जीवन्मुक्त की स्थिति में थे। उनके पास अनुभव का अक्षय्य भाण्डार हो गया था, अतः बड़ी सादगी और निर्विचिकित्सा के साथ वे विचारों का प्रतिपादन करने में समर्थ थें। जिन स्थलों को तात्कालिक विद्वज्जनों के द्वारा अथवा तत्काल-सुलभ-विद्वल्लेखमाला के आधार पर संशयात्मक समझा जाता था उन पर आचार्य की अनुभवात्मक और ऐकान्तिक मति होती थी और उस मति की स्थापना करते समय वे कभी-कभी 'स्वानुभवसिद्धत्वाच्च'[1] की घोषणा भी कर देते थे।

उनकी धारणा थी कि जितनी आवश्यक वस्तुएँ योगसाधना-सम्बन्धिनी हैं उन सबका एक संक्षिप्त उपन्यास कर दिया जाय और इस प्रकार से यह एक अनिवार्य ग्रन्थरत्न सब साधकों के पास रहे और उनके लिए अधिकाधिक उपादेय सिद्ध हो।[2] ग्रन्थ की परिसमाप्ति के किंचित्पूर्व उन्होंने यह स्पष्ट कह भी दिया कि इसके अतिरिक्त मोक्षमार्ग के पथिकों के लिए योगदर्शन में और कुछ ज्ञातव्य है भी नहीं।

योगदर्शन ही उनकी दृष्टि में सर्वोच्च एवं सबका आकर दर्शन[3] है। इसलिए कदाचित् अपने ग्रन्थरचना-अभियान का मङ्गलमय पर्यवसान वह योगदर्शन के ही किसी ग्रन्थ की रचना में करना चाहते थे। इसीलिए यह उनकी अन्तिम तथा सर्वश्रेष्ठ रचना साधकों के लिए विनिर्मित हो सकी है।

---

१. एवमेवासंप्रज्ञातयोगेनापि भोगहेतुवासनारूपः कर्मणां सहकार्यैवोच्छिद्यते व्युत्थानसंस्काराणां निरोधसंस्कारैर्बलवत्तरैरुच्छेदस्य सूत्रभाष्याभ्यामुक्तत्वात्स्वानुभवसिद्धत्वाच्च।—यो० सा० सं० पृ० १४

२. योगशास्त्रस्य सारार्थःसंक्षेपेणायमीरितः।
नातोऽधिको मुमुक्षूणामपेक्ष्यो योगदर्शने॥—यो० सा० सं० पृ० ११२

३. गङ्गाद्याः सरितो यद्वदब्धेरंशेषु संस्थिताः।
सांख्यादिदर्शनान्येवमस्यैवांशेषु कृत्स्नशः॥ ४॥—यो० वा० मंगलाचरण

## योगसारसंग्रह का स्वरूप

यह संग्रह अत्यन्त लघु आकार का है। प्रारम्भ में मंगलाचरण के तीन श्लोक हैं उसके बाद सरल सुबोध एवं प्राञ्जल गद्य में योगशास्त्रगत विषयों का सूक्ष्म आकलन किया गया है। योगशास्त्र में स्वीकृत किये गये चारों पादों के आधार पर इस ग्रन्थ में भी प्रथमोंऽशः, द्वितीयोंऽशः, तृतीयोंऽशः और चतुर्थोंऽशः नाम से चार भाग किये गये हैं।

प्रथम अंश में समाधिपादगत विषयों का संक्षिप्त संकलन है। द्वितीय अंश में साधनपाद-गत विषय और समाधिपाद के अवशिष्ट विषय जैसे चित के परिकर्म आदि संगृहीत हैं। तृतीय अंश में संयमजन्य सिद्धियाँ विभूतिपाद तथा प्रारम्भिक कैवल्यपाद के आधार पर गिनायी गयी है। चतुर्थ अंश में कैवल्य[1] पाद का आश्रय लेते हुए कैवल्य में आनन्द की कल्पना करनेवाले 'नवीन वेदान्तिब्रुवों' का सबल तथा संक्षिप्त खण्डन भी किया गया है। सभी अतिरिक्त दर्शनों के मोक्ष से अपने कैवल्य का अविरोध भी स्फुट किया गया है।[2]

इसके बाद उन्होंने चतुर्थांश में 'तदेवं कैवल्यं संक्षेपेण प्रतिपादितम्' कह कर छः श्लोक लिखे और अपने अशेष मतवादों के प्रकाशक स्वरचित ग्रन्थों का विवरण दिया। स्फोट तथा मनोवैभव आदि जिन विषयों पर किसी भी पूर्ववर्ती ग्रन्थ में उन्होंने अपनी लेखनी नहीं उठायी थी उनके विषय में इसी चतुर्थ अंश के चरम भाग में संक्षिप्त एवं सारात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है[3]।

ग्रन्थान्त में योगशास्त्र के प्रति आत्मीयता का सशक्त प्रदर्शन करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु शिष्यों के लिए यह शिक्षा दे जाते हैं कि ऐसे ही अन्य अवान्तरसिद्धान्त जो हम योगियों को मान्य हैं और सांख्यादि में प्रतिषिद्ध हैं—

---

१. योगसूत्राणि-चतुर्थपाद के १, २, ३, ४, ५ सूत्र।

२. यत्तु नवीना वेदान्तिब्रुवा नित्यानन्दावाप्तिं परममोक्षं कल्पयन्ति तदेव च वयं न मृष्यामहे।—यो० सा० सं० पृ० २०९

३. अथ त्रिविध.........................विशेषात्।—यो० सा० सं० पृ० १०८,१०९

सोपपत्ति सिद्ध समझने चाहिए[1]। इसके पश्चात् ग्रन्थ की परिसमाप्ति हो जाती है। इस ग्रन्थ के अन्त में कोई श्लोक नहीं हैं। अन्त में केवल यह मिलता है कि 'समाप्तश्चायं ग्रन्थः' श्रीभगवदर्पणमस्तु'। यह उनका चरम ग्रन्थ है। कदाचित् इसकी रचना करके उन्होंने चिरसमाधि ग्रहण कर ली थी। सांख्यसार की शैली पद्यमयी है जब कि योगसारसंग्रह में गद्य की ही प्रधानता है। यह गद्य भी सीधा-सादा, सरल और सुबोध है।

---

१. तेनाप्यसाधितःस्फोटशब्दो धीवैभवं तथा।
संक्षेपात्साध्यतेऽस्माभिःसांख्यदोषनिरासतः ॥—यो० सा०सं०पृ० ११३
एवमन्येऽपि अस्मच्छास्त्र-सिदान्ताः सांख्यादिप्रतिषिद्धाःसुबुद्धिभिरुपपादनीया इति दिक्।—यो० सा० सं० पृ० १२५

# रचनाओं की शैली

विज्ञानभिक्षु अपने दार्शनिक मतवाद की निष्ठा से ओत-प्रोत मनस्वी लेखक थे। उन्हें सांख्य, योग और वेदान्त इन तीनों प्रमुख आस्तिक दर्शनों के एक-मार्गाभिमुख सन्देश को विद्वज्जनमानसपटल पर अंकित करना था। सोलहवीं शताब्दी तक वेदान्त-दर्शन की अनेक धाराएँ भी प्रस्फुटित हो चुकी थीं जिनके अलग-अलग स्वरों की अलाप विविध स्थलों में गूंज रही थी। दार्शनिक और धार्मिक दोनों दृष्टियों से वेदान्त जनमानस के अधिक सम्पर्क में आ गया था। कदाचित् इसीलिए दार्शनिक और धार्मिक दोनों दृष्टियों से मतमतान्तर का आश्रय भी वेदान्त ही बना हुआ था। इस पृष्ठभूमि में दोनों दृष्टियों से मत-मतान्तर का आश्रय ही बना हुआ था। नियतिविधान के द्वारा प्रतिष्ठित विज्ञान-भिक्षु ने समन्वय की स्वरलहरी का कोमल राग छेड़ा। सांख्य, योग और वेदान्त तीनों दर्शनों के प्रतिपाद्य तत्त्वों को अविरुद्ध ढंग से एकीकृत किया। तीनों का विरोधी अंश त्याग कर तीनों के प्रमुख और सपरिहार रूपों का समन्वय प्रस्तुत किया।

कार्य नितान्त दुष्कर और प्रतिभापेक्षी था। तात्कालिक विद्वानों ने चकित होने के सारे चिह्न प्रकट किये होंगे। उनमें से अनेक ने विज्ञानभिक्षु की समझ और सूझ-बूझ को अज्ञान का अनल्पजल्पन और किसी विक्षिप्त का प्रलपन कह कर तिरस्कृत करना प्रारम्भ किया होगा। सांख्य, योग और वेदान्त तीनों की अब तक की गयी व्याख्याओं के अनुयायी विद्वानों ने एक स्वर से विज्ञानभिक्षु पर तीनों दर्शनों को न समझ सकने का तिरस्कारपूर्ण आरोप लगाना प्रारम्भ किया होगा। ऐसी स्थिति में विज्ञानभिक्षु ने इन तीनों शास्त्रों के मूल ग्रन्थों को चुना और उन पर व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं, ताकि यह सिद्ध हो सके कि पूर्ववर्तिनी व्याख्याएँ सीधी, सरल और वास्तविक अर्थ की प्रकाशिका नहीं हैं अपितु सम्बन्धित व्याख्याताओं के दुराग्रहों की मूर्तियाँ और पूर्वाग्रहों की प्रतिमाएँ हैं। तात्कालिक पूर्वाग्रही विद्वानों को शान्त करने तथा उदीयमान जिज्ञासुओं को सन्मार्ग प्रदर्शित करने के लिए भी यही मार्ग उन्हें श्रेयस्कर समझ पड़ा होगा। एक बात इस प्रसङ्ग में अविस्मरणीय है कि विज्ञानभिक्षु दार्शनिक चेतना के परिमार्जन में कृत-संकल्प तत्त्व-वेत्ता थे। भक्तिभावना में आमतविभोर भगवद्-भक्त नहीं। उनका सन्देश बुद्धि-परीक्षणों के अनन्तर सत्य का साक्षात्कार करने

के लिए था भावना के प्रतीक बिन्दुओं की स्मृतियों में डूबने और तिरने के लिए नहीं। इसलिए उनकी समग्र रचनाओं का लक्ष्य-केन्द्र सर्वसाधारण जन-सम्मर्द न होकर भारतीय दर्शन-परायण-विद्वद्वर्ग था। उन्होंने तात्कालिक अनुयायियों के लिए नहीं तात्कालिक शास्त्रप्रचारक गुरुओं के समझाने के लिए अपने ग्रन्थों की रचना की। उन्होंने विद्वज्जगत् का विशिष्ट बौद्धिकस्तर दृष्टि में रखकर ही सारे ग्रन्थगत-तत्त्वों का प्रतिपादन किया है। इसीलिए सारे रचना-काल में उन्होंने संस्कृत माध्यम ही अपनाया है, हिन्दी माध्यम नहीं।

व्याख्या ग्रन्थ गद्य में लिखे गए हैं। 'योगसारसंग्रह' नामक प्रकरणग्रन्थ भी गद्य में है। 'सांख्यसार' नामक प्रकरण ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध गद्य में और उत्तरार्द्ध पद्य में है। उनके गद्य और पद्य सरल तथा प्रभावपूर्ण संस्कृत के उत्कृष्ट नमूने हैं। नव्यन्याय की शैली से पूर्णतया परिचित होने पर भी उनकी भाषा में 'अवच्छेद्य-अवच्छेदक-अवच्छिन्न' का जाल नहीं देखने को मिलता। न ही, आचार्य वाचस्पति मिश्र की भाँति शब्दगतानुप्रास-संवलित[1] पदावली की योजना ही उन्हें प्रिय लगी। वे बड़े सीधे ढंग से, बड़ी सरल संस्कृत में, बड़ी महत्त्वपूर्ण बातें कहते हैं।

उनकी सहज सरल संस्कृत परवर्ती ग्रन्थों में सरलतर होती गयी है। सांख्यसार[2] और योगसार-संग्रह में नितान्त सरल शब्द और अत्यन्त छोटे वाक्यों का प्रयोग किया गया है। योगसार-संग्रह में तो समस्तपदों का प्रायः अभाव ही है। जैसे 'परं वैराग्यमुच्यते'[3] या इदानीमभ्यासस्यान्तरङ्गसाधनं परिकर्मादिकमुच्यते'[4] इत्यादि वाक्य। जहाँ कहीं समास हैं भी वे नितान्त स्फुट और द्विपद समास ही हैं। प्रारम्भिक ग्रन्थों में भी लम्बे-लम्बे समास अधिक नहीं हैं। जो हैं भी वे विलष्ट नहीं हैं। इस प्रकार प्रसाद-गुण-सम्पन्न भाषा लिखने में वे आचार्य शंकर की समता सफलतापूर्वक करते हैं।

---

१. इह खलु प्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयिताऽवधेयवचनो भवति प्रेक्षाताम्। अप्रतिपित्सितमर्थं तु प्रतिपादयन् नायं लौकिको नापि परीक्षकः इति प्रेक्षावद्भिरुन्मत्तवदुपेक्ष्येतेति।—सां० त० कौ० पृ० ३
तत्रव्यक्तं पृथिव्यादि स्वरूपतःपांसुलपादोहालिकोपि प्रत्यक्षतःप्रतिपद्यते।
—सां त० कौ० पृ० ५८

२. विवेकमेव सद्युक्तया मत्वा तदनुभूयते।
राजयोगं यथा कुर्यात् समासेन तदुच्यते॥—सां सा० पृ९ ३६

३. द्रष्टव्य, यो० सा० सं० पृ० २६

४. यो० सा० सं० पृ० २६

भाषा की प्रभावोत्पादकता का उन्हें सदा ध्यान रहता है। उनके वाक्य मतमतान्तर का खण्डन करते समय बड़े जोशीले और सीधी चोट करनेवाले होते हैं। इसीलिए 'शत' और 'सहस्र' आदि शब्दों का वे बहुत अधिक प्रयोग करते हैं। 'योगग्रन्थसहस्राणाम्'[1] या 'वाक्यशतेभ्यः'[2] और 'अहं गौर' इत्यादि भ्रमशतान्तःपातित्वेन',[3] 'भ्रमशतान्तःपातित्वेनाप्रामाण्यशंकास्कन्दितत्वाच्च'[4] 'शतशःसाधितत्वेन'[5] इत्यादि प्रयोग तो यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। खण्डन करते समय उनकी यह जोशीली शैली कभी-कभी उग्र रूप भी धारण कर लेती है इस उग्रता में वे विद्वज्जनमर्यादा का उल्लंघन भी कर जाते थे। उदाहरणार्थ शंकराचार्य का मत-खण्डन करते समय वे बहुधा 'आधुनिकवेदान्तिनः' 'वेदान्तिब्रुवा', 'प्रच्छन्नबौद्ध :' 'अपरे वैनाशिकाः' और यहाँ तक कि 'मूढाः' 'शुष्कतार्किकाः' 'दिग्भ्रान्ताः' भी कह जाते हैं।[6] उनके मत को तो एक स्थल पर विज्ञानभिक्षु ने 'कलिकृतः अपसिद्धान्तः' भी कह डाला है।[7] इसी प्रकार 'सांख्यप्रवचनभाष्य' में एक स्थल पर सांख्यसूत्रवृत्तिकार अनिरुद्ध का मत खण्डित करते समय 'यत्तु कश्चिदविवेकी वदति'[8] का भी प्रयोग किया गया है। यह निर्मर्याद असहिष्णुता विज्ञानभिक्षु की शैली का एक अपरिहार्य दोष है। फिर भी यह एक ऐसा दोष है जो कतिपय भारतीय दार्शनिकों को छोड़ कर अन्य सब में पाया जाता है। यहाँ तक कि मध्व और रामानुज आदि के ग्रन्थ भी इस प्रकार के कटु वाक्यों से भरे पड़े हैं।

उनकी शैली का सबसे महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य उनकी अर्थबोध कराने की तत्परता है। इसीलिए सिद्धान्तों का उन्होंने विश्लेषणात्मक प्रतिपादन किया है। सिद्धान्त-गत शब्दों का शुद्ध अर्थ लेने के लिए वे प्रायः व्युत्पत्तिप्रधान शैली अपनाते हैं। शब्दों की व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति बताते हैं जैसे 'वृत्तिर्वर्तनजीवने' इति हि यौगिकोऽयं शब्दः। जीवनं च स्वस्थितिहेतुर्व्यापारः। 'जीवबलप्राण-

---

१. यो० वा० पृ० ४५६
२. यो० वा० पृ० १६१
३. सां० प्र० भा० पृ० १५
४. सां० प्र० भा० पृ० ७०
५. वि० भा० पृ० २४
६. सां० प्र० भा० यो० वा० अनेक स्थलों पर।
७. वि० भा० पृ० २६
८. सां० प्र० भा० पृ० ९२

धारणयोरित्यनुशासनात्'[1] इन पंक्तियों में जोवन शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ निकाला गया है। ऐसे ही जीव शब्द का अर्थ निकालने का प्रयास द्रष्टव्य है—जीवबलप्राणनयोरितिव्युत्पत्या जीवत्वंप्राणित्वम् तच्चाहङ्कारवतामेव सामर्थ्याति-शयप्राणधारणयोर्दर्शनात्।[2] अहङ्कार शब्द का शुद्ध अर्थ लेने के लिए भी 'कुम्भं करोति इति कुम्भकार:' इतिवत्समास:—'अहङ्कारोतीत्यहङ्कार:'[3] कुम्भकारवत् व्याकरण का आश्रय लिया गया है। इसी प्रकार से स्थान-स्थान पर 'मध्यमपद-लोपीसमास:'[4] और 'लम्बकंठवत्तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहि:'[5] 'करणलक्षणं चात्र फलायोगव्यवच्छिन्नत्वम्'[6] 'चितीसंज्ञाने इति व्युत्पत्या चेतनोऽत्राभिज्ञ:[7] और 'सर्वदैवनामधातुस्थले मूलधात्वर्थेन सहैव कारकाणामन्वयव्युत्पत्ते:'[8] इत्यादि वाक्यांश विज्ञानभिक्षु की व्याकरणात्मक शैली का परिचय देते हैं।

उनकी शैली की इस अर्थप्रत्यायनप्रवणता ने उनकी रचनाओ में 'एकतथ्य का अनेकश:कथन', 'देशी शब्दों का प्रयोग' और 'लिखितांश का सारांश बार-बार देना' प्रचुर मात्रा में देखने को मिलता है। उनके प्रत्येक ग्रन्थ के मूल-भूत सिद्धान्तों की पुनरुक्ति हर ४-६ पृष्ठ बाद आप से आप हो जाती है। जैसे आत्मा अखण्ड नहीं है, 'यह बात' सांख्य-प्रवचन भाष्य के मङ्गलाचरण के प्रथम श्लोक से प्रारम्भ होकर पूरे ग्रन्थ में बीसों बार कही गयी है। साहित्य आदि के ग्रन्थों में इसे शैली-दोष भले ही माना जाय किन्तु दार्शनिक-सिद्धान्त की स्थापना करनेवाले ग्रन्थों में ,यह दोष नहीं, अपितु शिष्यव्युत्पत्ति की अपेक्षा से गुण ही समझा जाता है। इसी प्रकार 'संकोच'[9] 'झटिति'[10] 'तुल्यायव्ययत्वम्'[11] 'प्रथमदलार्थ:'[12] सिद्धान्तदलार्थ:'[13] आदि देशीय प्रभावों से परिपूर्ण शब्दों का प्रयोग भी उनकी शैली को जन-मन के सम्पर्क में

---

१. सां० प्र० भा० पृ० १४५
२. सां प्र० भा० पृ० १६५
३. सां० प्र० भा० पृ० ८३
४. सा० यो० वा० पृ० २२०, २०२
५. यो० वा० पृ० २४
६. यो० वा० पृ० २९
७. सा० प्र० भा० पृ० ८१
८. वि० भा० पृ० २५
९. यो० वा० पृ० १३१
१०. यो० वा० पृ० ३३६
११. सां० प्र० भ० पृ० १५३
१२. यो० वा० पृ० ८६
१३. सां० प्र० भा० पृ० १५७

लाने के कारण सबल और लचीली बनाता है। प्रतिपादित अर्थ का सारांश देने की उनकी दो रीतियाँ हैं। 'विज्ञानामृतभाष्य', 'सांख्यप्रवचनभाष्य' और 'योगवार्तिक' में अध्यायों और पादों के आदि में गद्य में विगत अध्यायों और पादों के प्रतिपादित विषयों का संक्षिप्त उपसंहार और प्रतिपाद्य विषयों की सारवती सूचना वे स्पष्ट शैली में देते हैं। बीच-बीच में भी प्रतिपाद्य सिद्धान्त का संक्षेप में कथन करते जाते हैं।[1] पादों के अन्त में पूरे विषय का पुनः संक्षिप्त निर्देश सरल श्लोकों में करना भी वे नहीं भूलते।[2] प्रकरण ग्रन्थ में तो विषयों का सारभूत रूप ही दिया गया है। सांख्य और वेदान्त भाष्यों में तो पूरी शास्त्र-प्रक्रिया ही संक्षिप्त शब्दों में कह दी गयी है। इस प्रकार से विज्ञानभिक्षु के मन्तव्य के सम्बन्ध में कहीं कोई बात संशयात्मक स्थिति में नहीं रह पाती। जो कुछ उन्हें कहना था वह उन्होंने स्पष्ट-रूप से डंके की चोट पर कहा है। उनकी सुबोध शैली के प्रभाव से उनके सिद्धान्त दर्पण की भाँति उज्ज्वल और प्रकाशमान हैं।

उनकी व्याख्याओं का एक अन्य वैशिष्ट्य है तर्कपरायणता। वे ऐसी किसी बात को कह कर इतिकर्तव्यता का अनुभव नहीं करते, जिसे किसी शास्त्र ने या किसी विशिष्ट आचार्य ने वास्तविक या तात्त्विक मान रक्खा हो। उस बात को वे तर्क की कसौटी पर परखते हैं। उसके सम्बन्ध में अनुमानादि तर्कों के द्वारा पूर्ण निरीक्षण उपस्थित करते हैं और तभी उसकी सत्यता को स्वीकार करते हैं। किसी योग-संबंधी विप्रतिपत्ति पर तर्कों के साथ-साथ वे अपने अनुभवों का पुट देकर भी उसे स्पष्ट और निश्चित करते हैं।[3]

दूसरा प्रधान गुण उनकी शैली का उनकी उद्धरणप्रियता है। श्रुतियों और स्मृतियों तथा पुराणों के लम्बे-लम्बे और छोटे-छोटे हर प्रकार के असंख्य उद्धरण उनके ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। किसी भी बात की प्रामाणिकता प्रदर्शित करने के लिए श्रुतिस्मृति-वाक्यों का उपयोग उनकी शैली का अनिवार्य अङ्ग है। उनकी व्याख्यायें प्रतिपृष्ठ ऐसे उद्धरणों से भरी पड़ी हैं। इससे उनकी शैली की शब्दप्रमाणप्रवणता प्रकट होती है। किन्तु कहीं-कहीं इन उद्धरणों को अनावश्यक

---

१. प्रमाता चेतनःशुद्धः इत्यादि।—सां० प्र० भा० पृ० ४८ इत्यादि

२. हेयहाने तयोर्हेतू इति व्यूहा यथाक्रमम्।
चत्वारःशास्त्रमुख्यार्था अध्यायेऽस्मिन्प्रपञ्चिताः॥
—सां० प्रा० भा० पृ० ७० इत्यादि

३. स्वानुभवसिद्धत्वात्।—यो० सा० सं० पृ १४

धारणयोरित्यनुशासनात्'[1] इन पंक्तियों में जोवन शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ निकाला गया है। ऐसे ही जीव शब्द का अर्थ निकालने का प्रयास द्रष्टव्य है— जीवबलप्राणनयोरितिव्युत्पत्या जीवत्वंप्राणित्वम् तच्चाहङ्कारवतामेव सामर्थ्यातिशयप्राणधारणयोर्दर्शनात्।[2] अहङ्कार शब्द का शुद्ध अर्थ लेने के लिए भी 'कुम्भं करोति इति कुम्भकार:' इतिवत्समास:—'अहङ्कारोतीत्यहङ्कार:'[3] कुम्भकारवत् व्याकरण का आश्रय लिया गया है। इसी प्रकार से स्थान-स्थान पर 'मध्यमपदलोपीसमास:'[4] और 'लम्बकंठवत्तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहि:'[5] 'करणलक्षणं चात्र फलायोगव्यवच्छिन्नत्वम्'[6] 'चितीसंज्ञाने इति व्युत्पत्या चेतनोऽत्राभिज्ञ:[7] और 'सर्वदैवनामधातुस्थले मूलधात्वर्थेन सहैव कारकाणामन्वयव्युत्पत्ते:'[8] इत्यादि वाक्यांश विज्ञानभिक्षु की व्याकरणात्मक शैली का परिचय देते हैं।

उनकी शैली की इस अर्थप्रत्यायनप्रवणता ने उनकी रचनाओ में 'एकतथ्य का अनेकश:कथन', 'देशी शब्दों का प्रयोग' और 'लिखितांश का सारांश बार-बार देना' प्रचुर मात्रा में देखने को मिलता है। उनके प्रत्येक ग्रन्थ के मूल-भूत सिद्धान्तों की पुनरुक्ति हर ४-६ पृष्ठ बाद आप से आप हो जाती है। जैसे आत्मा अखण्ड नहीं है, 'यह वात' सांख्य-प्रवचन भाष्य के मङ्गलाचरण के प्रथम श्लोक से प्रारम्भ होकर पूरे ग्रन्थ में बीसों बार कही गयी है। साहित्य आदि के ग्रन्थों में इसे शैली-दोष भले ही माना जाय किन्तु दार्शनिक-सिद्धान्त की स्थापना करनेवाले ग्रन्थों में ,यह दोष नहीं, अपितु शिष्यव्युत्पत्ति की अपेक्षा से गुण ही समझा जाता है। इसी प्रकार 'संकोच'[9] 'झटिति'[10] 'तुल्यायव्ययत्वम्'[11] 'प्रथमदलार्थ:'[12] सिद्धान्तदलार्थ:'[13] आदि देशीय प्रभावों से परिपूर्ण शब्दों का प्रयोग भी उनकी शैली को जन-मन के सम्पर्क में

---

१. सां० प्र० भा० पृ० १४५
२. सां प्र० भा० पृ० १६५
३. सां० प्र० भा० पृ० ८३
४. सा० यो० वा० पृ० २२०, २०२
५. यो० वा० पृ० २४
६. यो० वा० पृ० २९
७. सा० प्र० भा० पृ० ८१
८. वि० भा० पृ० २५
९. यो० वा० पृ० १३१
१०. यो० वा० पृ० ३३६
११. सां० प्र० भ० पृ० १५३
१२. यो० वा० पृ० ८६
१३. सां० प्र० भा० पृ० १५७

लाने के कारण सबल और लचीली बनाता है। प्रतिपादित अर्थ का सारांश देने की उनकी दो रीतियाँ हैं। 'विज्ञानामृतभाष्य', 'सांख्यप्रवचनभाष्य' और 'योगवार्तिक' में अध्यायों और पादों के आदि में गद्य में विगत अध्यायों और पादों के प्रतिपादित विषयों का संक्षिप्त उपसंहार और प्रतिपाद्य विषयों की सारवती सूचना वे स्पष्ट शैली में देते हैं। बीच-बीच में भी प्रतिपाद्य सिद्धान्त का संक्षेप में कथन करते जाते हैं।[1] पादों के अन्त में पूरे विषय का पुनः संक्षिप्त निर्देश सरल श्लोकों में करना भी वे नहीं भूलते।[2] प्रकरण ग्रन्थ में तो विषयों का सारभूत रूप ही दिया गया है। सांख्य और वेदान्त भाष्यों में तो पूरी शास्त्र-प्रक्रिया ही संक्षिप्त शब्दों में कह दी गयी है। इस प्रकार से विज्ञानभिक्षु के मन्तव्य के सम्वन्ध में कहीं कोई बात संशयात्मक स्थिति में नहीं रह पाती। जो कुछ उन्हें कहना था वह उन्होंने स्पष्ट-रूप से डंके की चोट पर कहा है। उनकी सुवोध शैली के प्रभाव से उनके सिद्धान्त दर्पण की भाँति उज्ज्वल और प्रकाशमान हैं।

उनकी व्याख्याओं का एक अन्य वैशिष्ट्य है तर्कपरायणता। वे ऐसी किसी बात को कह कर इतिकर्तव्यता का अनुभव नहीं करते, जिसे किसी शास्त्र ने या किसी विशिष्ट आचार्य ने वास्तविक या तात्त्विक मान रक्खा हो। उस बात को वे तर्क की कसौटी पर परखते हैं। उसके सम्बन्ध में अनुमानादि तर्कों के द्वारा पूर्ण निरीक्षण उपस्थित करते हैं और तभी उसकी सत्यता को स्वीकार करते हैं। किसी योग-संबंधी विप्रतिपत्ति पर तर्कों के साथ-साथ वे अपने अनुभवों का पुट देकर भी उसे स्पष्ट और निश्चित करते हैं।[3]

दूसरा प्रधान गुण उनकी शैली का उनकी उद्धरणप्रियता है। श्रुतियों और स्मृतियों तथा पुराणों के लम्बे-लम्बे और छोटे-छोटे हर प्रकार के असंख्य उद्धरण उनके ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। किसी भी बात की प्रामाणिकता प्रदर्शित करने के लिए श्रुतिस्मृति-वाक्यों का उपयोग उनकी शैली का अनिवार्य अङ्ग है। उनकी व्याख्यायें प्रतिपृष्ठ ऐसे उद्धरणों से भरी पड़ी हैं। इससे उनकी शैली की शब्दप्रमाणप्रवणता प्रकट होती है। किन्तु कहीं-कहीं इन उद्धरणों को अनावश्यक

---

१. प्रमाता चेतनःशुद्धः इत्यादि।—सां० प्र० भा० पृ० ४८ इत्यादि

२. हेयहाने तयोर्हेतू इति व्यूहा यथाक्रमम्।
चत्वारःशास्त्रमुख्यार्था अध्यायेऽस्मिन्प्रपञ्चिताः॥
—सां० प्रा० भा० पृ० ७० इत्यादि

३. स्वानुभवसिद्धत्वात्।—यो० सा० सं० पृ १४

विस्तार प्रदान कर उन्होंने अपनी शैली की प्राञ्जलता पर कुठाराघात भी कर लिया है। शैली का यह गुण यहाँ दोष बन जाता है। उनकी शैली ऐसे स्थलों पर उपहासास्पदता की सीमा तक पहुँच कर दिखावापन से युक्त, पण्डितम्मन्यता से बोझिल और पुरातन-पन्थिनी प्रतीत होती है। कहीं कही यह दोष और अधिक मुखर हो उठता है जब वे इन उद्धरणों की भी लम्बी-चौड़ी व्याख्या भी वहीं पर देने लगते हैं।[1] फल यह होता है कि मुख्य सिद्धान्त का विवेचन गौण हो जाता है।

श्रुतियों के अतिरिक्त उनके उद्धरणों के आकर ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता,[2] मोक्षधर्म,[3] वसिष्ठसंहिता,[4] मनुस्मृति,[5] अनुगीता,[6] न्यायवैशेषिक, सांख्ययोग और वेदान्त के सूत्र,[7] तथा अन्य अनेक सूत्र और स्मृतियाँ[8] हैं। पुराणों की प्रामाणिकता के प्रति भी विज्ञानभिक्षु की असीम निष्ठा है अतः स्मृतियों के ही समान वे पुराणों को भी यत्र-तत्र सर्वत्र उद्धृत करते हैं। अन्य किसी भी भारतीय दर्शन के व्याख्याकार ने पुराणों को ससम्मान इतनी विस्तृत योजना के साथ अपने ग्रन्थों में नहीं उद्धृत किया है। पुराणों में भी विज्ञानभिक्षु की सर्वाधिक श्रद्धा कूर्मपुराण,[9] मत्स्यपुराण,[10] वायुपुराण,[11]

१. यो० सा० सं० पृ० ५० इत्यादि।
२. यो० सा० सं० पृ० २७, २४
३. यो० सा० सं० पृ० २३ इत्यादि।
४. वि० भा० पृ० ४९
५. वि० भा० पृ० ८
६. यो० सा० सं० पृ० २३ इत्यादि।
७. सां० प्र० भा० पृ० ३८, २९, २८ इत्यादि।
८. सां० प्र० भा० पृ० २ इत्यादि।
९. सा० सा० पृ०२,१६,१७,१८ । यो० सां० सं० पृ० २२, २३, २४, ५७। सां० प्र० भा० पृ० ३ ४०, ५१, ८०, ९०, १५४ यो० वा० १३९, १६२, २१०, २४३, २५३, २७२, २८१, ४१५ वि० भा० पृ० ३७, ९७, ९९, १०१, १०९, ११२ १३६ इत्यादि।
१०. सां० सा० पृ० ५, १६ यो० सा० सं० पृ० २२, २३ सां० प्र० भा० पृ० ८३ यो० वा० पृ० ८४ वि० भा० पृ० १३०, १३४ इत्यादि।
११. सां० प्र० भा० पृ० ८३, यो० वा० पृ० ५८, ५९

गरुडपुराण,[1] विष्णुपुराण,[2] मार्कण्डेयपुराण,[3] नारदीयपुराण,[4] भागवतपुराण,[5] पद्मपुराण[6] तथा लिङ्गपुराण[7] पर है क्योंकि अधिकतर इन्हीं के लम्बे-चौड़े उद्धरण नामनिर्देश पूर्वक अनेक स्थलों पर दिये गये हैं। यद्यपि इस प्रकार की शैली में पण्डितम्मन्यता और बहुज्ञता-प्रदर्शन की झलक मिलती है, तथापि सांख्ययोग और वेदान्त-सिद्धान्तों के समन्वय का मूल पोषण इन पुराणों से ही प्रारम्भ होता है। इस कारण विज्ञानभिक्षु को अपने मत के समर्थन में इन पुराणों को उद्धृत करना न केवल स्वाभाविक है, प्रत्युत अनिवार्य भी था। समन्वय की कड़ियाँ पुराणों में ही प्रस्तुत होने लगी थीं। अतः आस्तिक दर्शनों के समन्वय के किसी भी परवर्ती प्रयास का मूलाधार ये पुराण ही बन सकते थे। इस प्रकार १६ वीं शताब्दी की धार्मिक जनता में अपने सिद्धान्तों को प्रचारित करने के लिए पुराण-प्राप्य-पोषण से उन्हें वंचित रखना विज्ञानभिक्षु की भूल ही होती।

उनकी शैली के एक और उत्कृष्ट वैशिष्टय की ओर इङ्गित करना भी अप्रासङ्गिक न होगा। वह वैशिष्टय प्रतिपक्षखण्डन के अवसर पर दिखायी पड़ता है। हम इसे शैली की 'संवादात्मकता' नाम दे सकते हैं। इस शैली में लिखे गये

---

१. द्रष्टव्य—यो० सा० सं० पृ० ३८, ३९ सा० प्र० भा० पृ० १०२, ११५, यो० वा० पृ० ८३, १३७ १४८, २८१, २८३, २९४, २८६, २८७। वि० भा० पृ०
२. द्रष्टव्य—सां० सा० पृ० १३, १५ यो० सा० सं० पृ० ६१, १००। सां० प्र० भा० पृ० ४, २३, ३५, ३९, ५५ ६०, ६३, ७३, ११७, १५२, १५३, १५५ यो० वा० पृ० २०, ३५, ६२, ७३, ८४, १६५, १७७, २०३, २०७, २५३, २६९, २७७, ३११, ३४२. ३४३, ३८९, ४१५, ४१७, ४४९। वि० भा० पृ० ७, ३७, ६० इत्यादि।
३. द्रष्टव्य—सा० प्र० भा० पृ० ३८, ११८। यो० वा० पृ० १७, २५९, २७१। वि० भा० पृ० ९९
४. द्रष्टव्य—यो० सा० सं० पृ० ६६, ७३, ७९, सां० प्र० भा० पृ० १११, यो० वा० पृ० ६७, ८७ ३४३ वि० भा० पृ० १२२;१३४ इत्यादि।
५. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ३४, यो० वा० पृ० २५४, वि भा० पृ० १२३ इत्यादि।
६. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ४
७. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ८५, वि० भा० पृ० १४८ इत्यादि।

स्थलों का विषय आँखों के सामने अभिनीत सा होने लगता है। उनके भाष्य-ग्रन्थों और वार्तिक में इस शैली के अनेक नमूने देखने को मिलते हैं। इन्हें पढ़ने[1] पर लगता है कि विज्ञानभिक्षु प्रत्यक्ष-उपस्थित प्रतिपक्षी की खबर ले रहे हैं। इस विशेषता के कारण शैली की सजीवता बहुत अधिक बढ़ जाती है।

उद्धरणों के प्रसङ्ग में एक बात कहने को रह ही गयी कि विज्ञानभिक्षु केवल दार्शनिक या धार्मिक ग्रन्थों का ही सहारा नहीं लेते वरन् कालिदास[2] और माघ[3] जैसे साहित्यिक धुरन्धरों की रचनाओं में भी अपनी उक्तियों का समर्थन ढूंढ़ लेते हैं और तत्सम्बद्ध पंक्तियों को उद्धृत कर देते हैं। संक्षेप में उनकी व्याख्या-शैली में संक्षिप्तता, सजीवता, सरलता, सप्रमाणोक्ति, सुबोधता, सुरुचि-पूर्णता आदि सभी ऐसे गुण उपस्थित हैं जिनसे कि उनके ग्रन्थ भारतीय दर्शन में सदा महान् आदर की दृष्टि से देखे जायेंगे।

---

१. 'आयातं मार्गेण'--सां० प्र० भा० पृ० २३
२. 'विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया । यो० वा० पृ० २१३ पर उद्धृत।
३. 'बुद्धेर्भोग इवात्मनि'।—सां० प्र० भा० पृ० ५५ पर उद्धृत।

## द्वितीय पटल

## [ सिद्धान्त–संकलन ]

# अध्याय १

# आचार्य विज्ञानभिक्षु के दर्शन की रूपरेखा

# विज्ञानभिक्षु के दर्शन की आधारभित्ति

आचार्यविज्ञानभिक्षु निष्ठावान् आस्तिक थे। वेदों पर उन्हें अमिट विश्वास और अटूट श्रद्धा थी। वेदों पर मूलतः आधारित स्मृतियों तथा उनसे अनुप्राणित पुराणों ने भी उन्हें एक महनीय सीमा तक प्रभावित और प्रेरित किया है। वेद, स्मृति और पुराणरूपी आर्ष-धरोहर का प्रतिफल हमें उन दार्शनिक विचारधाराओं के रूप में मिलता है जिन्हें हम 'भारतीय आस्तिक-दर्शन' नाम देते हैं। मोक्षमार्ग की उपादेयता के दृष्टिकोण से वेदान्त, सांख्य और योग इन आस्तिक दर्शनों में अधिक प्रसिद्ध और पूर्ण माने गये हैं। यद्यपि इन तीनों शास्त्रों के अपने-अपने विशिष्ट संदेश हैं, अलग-अलग मान्यताएँ हैं, और अनेक प्रसंगों में परिस्फुट मतभेद भी हैं, तथापि मूलाधार की अभिन्नता, प्रयोजन की एकता और सफलता की समानता के कारण विज्ञानभिक्षु ने तीनों दर्शन-परम्पराओं में एक ही सतत प्रकाशमान तथा सर्वथा अविरुद्ध सत्य का साक्षात्कार किया है।

यही तीनों दार्शनिक सिद्धान्त उनके दार्शनिक मतवाद के मूल केन्द्र हैं। उनके सिद्धान्तों का भव्य भवन इन्हीं के सामञ्जस्य पर विनिर्मित है। यद्यपि ये तीनों दार्शनिक धारायें उनकी दृष्टि में भी अलग-अलग मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में अमोघ और पर्याप्त हैं तथापि तीनों का समन्वय, जो उनका दार्शनिक मतवाद कहा जा सकता है—सुगम, सरल, रोचक और सद्यः फलदायी होने के कारण अधिक श्रेयस्कर है। इस समन्वय के प्रति उनकी निस्सीम आस्था है। दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय सर्वत्र वे इस समन्वय के लिए जागरूक हैं। इस प्रकार से इन सिद्धान्तों की संवलित त्रिवेणी का सङ्गम ही उनके दार्शनिक मतवाद का केन्द्र-बिन्दु है।

## समन्वय की प्रवृत्ति

वह कौन-सी आवश्यकता, आन्तरिक या बाह्य थी जिसने विज्ञानभिक्षु को इन तीनों दर्शनों में समन्वय की दृष्टि रखने को प्रेरित किया। विज्ञानभिक्षु प्रधानतः योगी थे। योग और सांख्य का तात्त्विक या वैचारिक स्तर अधिकांशतः

अभिन्न प्रसिद्ध ही है।[1] इसीलिए वे सांख्य-योग-सिद्धान्तों के मूलतः अनुयायी रहे। १६ वीं शताब्दी का समय दर्शनों की ख्याति की दृष्टि से वेदान्त-प्रधान युग था। अतः वेदान्त के प्रभावों से उस समय अपने को अछूता रखना किसी भी मनीषी के लिए न केवल असम्भव था अपितु जनमत से वैचारिक-सम्पर्क-शून्यता का हेतु भी बन सकता था। इस कारण वेदान्त का पारायण और उसकी शिक्षा भी विज्ञानभिक्षु के लिए अनिवार्य रूप से ग्राह्य थी। वेदान्त-धाराओं में भी प्रतिष्ठा दार्शनिक स्तर पर अद्वैतवेदान्त की ही थी। वेदान्त-सूत्रों में सांख्य और योग के प्रति तीव्र उपेक्षा उपलब्ध थी।[2] शङ्कर आदि भाष्यकारों ने तो इस गूढ उपेक्षा को अधिक कटुतर एवं स्पष्टतर बना दिया था।[3] विज्ञानभिक्षु के सामने एक विकट समस्या थी कि शाङ्करवेदान्त के प्रभविष्णु संस्थान के समक्ष वे अपने अभीष्ट सांख्य-योग-सिद्धान्तों की बलि चढ़ा दें अथवा शाङ्करवेदान्त को अपने प्रौढ़ तर्कों से जर्जर करने का यत्न करें।

इसमें से पहली बात तो उनके स्वभाव के विरुद्ध थी, सर्वथा अरुचिकर थी, अतः उनके लिए सर्वथा अग्राह्य थी। रही दूसरी बात। उसमें कठिनाई यह थी कि योगभाष्यकार बादरायण व्यास को विज्ञानभिक्षु वेदान्त-सूत्र का कर्ता समझते थे।[4] बादरायण व्यास के वेदान्त-सूत्रों पर भला अब वे कैसे उँगली उठाते। इस अभिन्न-कर्तृकत्व के विश्वास से उन्हें संदेह का कोई अवकाश ही न रह गया। कदाचित् पुराणों के प्रति उनकी प्रथित आस्था का भी यही कारण

१. सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।—गीता ५।४
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपिगम्यते।—गीता ५।५

२. स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्।
—ब्र० सू० २।१।१

एतेन योगः प्रत्युक्तः। —ब्र० सू० २।१।३

३. अतश्चसिद्धमात्मभेद-कल्पनयापि कपिलस्य तन्त्रवेदविरुद्धं वेदानुसारि-मनुवचनविरुद्धं च न केवल स्वतन्त्रप्रकृतिकल्पनयैवेति।—ब्र० सू०, शां० भा० पृ० ४४३
एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन योगस्मृतिरपिप्रत्याख्याता द्रष्टव्ये-त्यतिदिशति।—ब्र० सू० शां० भा० पृ० ४४४

४. सर्ववेदार्थसारोऽत्र वेदव्यासेन भाषितः।
योगभाष्यमिषेणातो मुमुक्षूणामिदं गतिः॥—यो० वा० पृ० ३

था कि पुराणों के कर्ता भी उनकी दृष्टि में यही व्यास थे। इसलिए उन्होंने सांख्ययोग के विरोध का उत्तरदायी वेदान्त-सूत्र को नहीं, अपितु उस पर किये गये भाष्यों को ही ठहराया और उनकी भर-पेट भर्त्सना अपने ग्रन्थों में की है।

सांख्य, योग और वेदान्त सिद्धान्तों के समन्वय की इस विशेष प्रेरणा के अतिरिक्त उनके मस्तिष्क में इस समन्वय का एक अन्य साधारणकारण भी सदा समुपस्थित रहा होगा। वह है उनका यह सोचना कि सभी शास्त्र, जो आस्तिक हैं, वेदों पर आधारित हैं तथा आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं, उनका प्रणयन महर्षियों ने किया है और उन सबका आधार केवल श्रुतियाँ ही हैं। अतः सांख्य, योग, वेदान्त, मीमांसा, न्याय और वैशेषिक छहों दर्शन अविरुद्ध और परस्पर संगत होने चाहिए।[१] किन्तु मीमांसा, न्याय और वैशेषिक मुख्यतः केवल चिन्तन, मनन की शैली के प्रतिपादन में दत्तचित हैं, अतः परमार्थ भूमि पर उनके विचार केवल इङ्गित मात्र हैं, विस्तृत और सांग विवेचन के साथ प्रस्तावित नहीं हुए हैं। अतः न्याय, वैशेषिक को परमार्थिक स्तर पर विज्ञानभिक्षु ने बाधित या अनुपयुक्त बताया है।[२] किन्तु इन दर्शनों को भी भ्रान्त या विरोधी कहीं नहीं ठहराया है।[३] इस प्रकार से यद्यपि पारमार्थिक तत्त्वविचार की दृष्टि से उनका समन्वयवाद सांख्य, योग और वेदान्त तक ही सीमित है। परन्तु इस शुद्ध-समन्वय की समर्थक बृहत्तर सीमाएँ न्याय, वैशेषिक एवं मीमांसा इन तीनों आस्तिक दर्शनों, स्मृतियों और पुराणों तक प्रसृत हैं। इनकी रचनाओं के प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर इस विशाल समन्वय-सागर की तरंगे श्लोकों और पंक्तियों के उद्धरण के रूप में दीख पड़ती हैं।

---

१. आर्षज्ञानानि सर्वाणि वेदान्तानां कलाः स्मृताः।
श्रुत्यवान्तरवाक्यानामृते नास्ति ह्यसङ्गतिः॥—वि० भा० पृ० ९०

२. न्यायवैशेषिकोक्तज्ञानस्य परमार्थभूमौ बाधितत्वाच्च।—सां० प्र० भा० पृ० २

३. न चैतावता न्यायाद्यप्रामाण्यम। विवक्षितार्थे देहाद्यतिरिक्तकोशे बाधाभावाद् 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायात्॥—सां० प्र० भा० पृ० २

# समन्वय का स्वरूप

समन्वय की अनेक रीतियाँ हो सकती हैं। जिन वस्तुओं का समन्वय किया जाता है उनमें से किसी को प्रधान मान कर उसी के अनुकूल शेष वस्तुओं को बना लेना एक रीति है। दूसरी रीति यह हो सकती है कि समन्वीयमान वस्तुओं में से प्रत्येक में प्रधान तत्त्व चुन-चुन कर गौण बातों को छोड़ दिया जाय। इसी प्रकार समन्वय की अन्य रीतियाँ हो सकती हैं। भले ही समन्वय की सफलता और निर्दोषता की दृष्टि से कोई एक शैली अन्य शैलियों की अपेक्षा अधिक ग्राह्य हो। विज्ञानभिक्षु ने सांख्य, योग और वेदान्त शास्त्रों का समन्वय जिस रूप में प्रस्तुत किया है वह यहाँ पर विवेचनीय है। इस समन्वय में उन्हें कितनी सफलता मिली है इस बात का विचार हम समीक्षा वाले अध्याय में करेंगे।

विज्ञानभिक्षु ने तीनों समन्वीयमान दर्शनों पर भाष्य या वार्तिक लिखा है, और तीनों दर्शनों में पूर्ण आत्मीयता तथा अनुभूति की दृष्टि रखी है। तीनों दर्शनों के लिए उन्होंने अनेक स्थलों पर 'अस्मच्छास्त्रे' 'अस्मन्मते', 'स्वाशास्त्रे'[1] इत्यादि पदों से अभिहित किया है। तीनों शास्त्र उनके अपने हैं। तीनों उनके लिए प्रधान हैं। उनका मूल विश्वास यह है कि जिन ऋषियों ने श्रुतियों के आधार पर तथ्यों का प्रतिपादन किया है वे सभी दिव्य-दृष्टि वाले तथा ऋतम्भराप्रज्ञा-पूर्ण थे। अतः उनकी बातें न तो भ्रान्त हो सकती हैं और न ही परस्पर विरोधिनी। उनकी यही निष्ठा उनके समन्वय-सिद्धान्त का बीज-मन्त्र है। इन शास्त्रों के सिद्धान्त आपाततः परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। पूर्ववर्ती प्रथित व्याख्याताओं ने सांख्य, योग और वेदान्त के मतभेदों को और अधिक बढ़ा-चढ़ा कर प्रतिपादित भी किया था। इस समस्या का समाधान सर्वप्रथम उन्होंने सांख्यप्रवचनभाष्य की प्रारम्भिक पंक्तियों में कर देना नितान्त उचित समझा और बड़ी सुरुचिपूर्ण शैली में तीनों शास्त्रों का विशेष रूप में और सभी आस्तिक शास्त्रों का सामान्य रूप से अविरोध प्रतिपादित किया है।[2]

---

१. द्रष्टव्य—सां० प्र० भा० पृ० १७, यो० सा० सं० पृ० १२५, वि० भा० पृ० ७३ इत्यादि।

२. तस्मादास्तिकशास्त्रस्य न कस्याप्याप्रामाण्यं विरोधो वा, स्वस्वविषयेषु सर्वेषाम् अबाधात् अविरोधाच्चेति ॥—सां० प्र० भा० पृ० ५

इस समाधान से एक नयी समस्या उठ खड़ी होती है। यदि तीनों शास्त्रों में विरोध नहीं है और तीनों शास्त्र दर्शन विषय के ही हैं तो तीनों में केवल एक बात की ही पुनरुक्ति हुई होगी। दर्शन जैसे विषय में तथ्य का ही मूल्य होता है न तो भाषा की आलङ्कारिकता का उसमें कोई विशेष महत्त्व है और न उसमें कलात्मक नवीनता के ही लिए कोई गुञ्जायश है। फिर आखिर एक ही सत्य को सांख्य, योग और वेदान्त—इन धाराओं में ढालने की पिष्टपेषण-परायणप्रवृत्ति महर्षियों ने क्यों दिखायी होगी ?

इस समस्या का समाधान सरल और सीधा है। विज्ञानभिक्षु का कहना है तीनों शास्त्रों के प्रतिपाद्य विषय भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि तीनों शास्त्रों का स्तर पारमार्थिक है फिर भी पारमार्थिक स्तर पर ही विषय-भेद है। उनके मत में न्याय, वैशेषिक (मीमांसा भी) व्यावहारिक स्तर के विषयों का तत्त्वज्ञान उपस्थित करते हैं इसलिए पारमार्थिक स्तरवाले सांख्य, योग और वेदान्त से उनका न तो कोई विरोध है, न पुनरुक्ति है और न ही न्यायादिकों की अप्रामाणिकता है[1] क्योंकि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह नियम है। प्रत्येक शास्त्र में जो गौण विषय हैं उनके सम्बन्ध में तीनों शास्त्रों के जो मतभेद हैं विज्ञानभिक्षु ने उनका स्पष्ट उल्लेख उचित अवसरों पर निस्संदेह किया है, किन्तु उन आंशिक मतभेदों के कारण समूचे शास्त्र से विरोध मानना उन्हें स्वीकार नहीं है। जैसे सांख्य की निरीश्वरता और सांख्य योग का स्वतंत्र-प्रधान-कारणतावाद आदि सिद्धान्त योग और वेदान्त से विरुद्ध हैं। उन अंशों को विज्ञानभिक्षु ने त्याज्य बताया है और उन अंशों में सांख्य को उन्होंने दुर्बल भी कहा है। अतः आँख मूँद कर उन्होंने समन्वय नहीं किया। अपि तु त्याज्य अंशों का परिहार करते हुए उन्होंने तीनों शास्त्रों का मौलिक सामञ्जस्य प्रदर्शित किया है। अतः व्यावहारिक तत्त्व-ज्ञान में न्यायादि की प्रामाणिकता अक्षुण्ण और संदेहातीत है।[2] पारमार्थिक स्तर के दर्शनों के प्रतीयमान विरोधों के सम्बन्ध में विज्ञानभिक्षु का मत, कि वेदान्त में प्रधान विषय 'ईश्वर अथवा ब्रह्म'[3] है, सांख्य का मुख्य

१. न चैतावता न्यायाद्यप्रामाण्यं विवक्षितार्थे देहाद्यतिरिक्तांशे बाधाभावाद्।—सां० प्र० भा० पृ० ८

२. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० १

३. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ३३—३५।
किञ्च ब्रह्ममीमांसायाः ईश्वर एव मुख्यो विषय उपक्रमादिभिरि धृतः।।
—सां० प्र० भा० पृ० ३

विषय 'प्रकृतिपुरुषविवेक'[१] है और योग का प्रधान विषय प्रकृतिपुरुषविवेक को उत्पन्न करनेवाला तथा उससे उत्पन्न होनेवाला 'द्विविध-योग' है'[२]। इन तीनों में से प्रत्येक शास्त्र के इन प्रधानप्रतिपाद्य विषयों की पारमार्थिक पृष्ठ-भूमि में वे तत्त्व भी गौण रूप से आ ही जाते हैं जिनका विवेचन तदतिरिक्त दो शास्त्रों में प्रधान तत्त्व के रूप में हुआ होता है।

यह सम्भव नहीं है कि इन गौण तत्त्वों की चर्चा लाये बिना अपने-अपने प्रधानप्रतिपाद्य विषय का विवेचन इनमें से कोई शास्त्र कर सके, क्योंकि ब्रह्म का वर्णन बिना प्रकृति, जीव अथवा विवेक की पृष्ठभूमि के संभव नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानजनक और ज्ञानजन्य योग का निर्वचन भी ज्ञान के ज्ञेयभूत ब्रह्म, पुरुष और प्रकृति की पृष्ठभूमि के बिना सर्वथा असम्भव है। इसलिए विज्ञान-भिक्षु की दृष्टि में परमार्थ भूमि के लिए अनिवार्यतः उपयोगी इन तीनों दर्शनों की न परस्पर विरोधिता है, न अप्रामाणिकता है, न पुनरुक्ति है और न ही निरर्थकता है। प्रत्युत एक दूसरे के प्रति पूरकता है। पूर्णज्ञान की प्राप्ति तीनों दर्शनों के सेवन से ही सम्भव है। उनके दर्शन-क्षितिज पर यदि सांख्य एकान्तिक साधना का सहारा प्रस्तुत करता है, तो वेदान्त उस एकान्तिकता को सार्व-भौमिकता की विराट् पीठिका पर उतार कर मुक्ति-साधना का मार्ग प्रशस्त करता है। योग दोनों प्रकार के सैद्धान्तिक निर्देशों की क्रियात्मक प्रस्तावना है। चाहे निरीश्वर सांख्य-साधना हो अथवा सेश्वरवेदान्त-साधना दोनों को योग के धरातल पर उतरना ही पड़ता है। क्योंकि तदापादित सम्प्रज्ञात योग के बिना ज्ञान या विवेक की उत्पति संभव नहीं[३] और ज्ञान के बिना मुक्ति कहाँ ?[४] अतः विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में योगशास्त्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।[५] बिना उसके

---

१. सांख्यशास्त्रस्य तु पुरुषार्थंतत्साधन-प्रकृतिपुरुषविवेकावेव मुख्यो विषयः।
—सां० प्र० भा० पृ० ४

२. ब्रह्ममीमांसासांख्यादिषु च ज्ञानमेव विचारितं बाहुल्येन ज्ञानसाधन-मात्रस्तु योगः संक्षेपतः ज्ञानजन्ययोगस्तु संक्षेपतोऽपि तेषु नोक्तोऽतोऽति-विस्तरेण द्विविधम् योगं प्रतिपिपादयिषुर्भगवान्पतञ्जलिः शिष्यावधाना-यादौयोगानुशासनं शास्त्रमारम्यतया प्रतिज्ञातवान्।।—यो० वा० पृ० ५

३. तथासंप्रज्ञातयोगे...............इति सूत्रेण।—वि० भा० पृ० ६

४. ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।—ऋग्वेद

५. गङ्गाद्याः सरितो यद्वदब्धेरंशेषु संस्थिताः।
सांख्यादिदर्शनान्येवमस्यैवांशेषु कृत्स्नशः।।—यो० वा० पृ० ३

सांख्य और वेदान्त दोनों प्रकार की साधनाएँ निष्फल ही होंगी। कदाचित् इसी कारण से उनकी श्रद्धा सब ग्रन्थों से अधिक 'योगसूत्र और योगभाष्य' पर ही परिलक्षित होती है। किन्तु इससे उनके समन्वय-सिद्धान्त में लेशमात्र भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। किसी भी सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए वे अन्य दो दर्शनों में आये हुए उस प्रसंग के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए समर्थन करते हैं। इस प्रकार से तीनों शास्त्र उनकी दृष्टि में एक विराट् चरम सत्य के विभिन्न अङ्गों के पारमार्थिक व्याख्यान हैं, जिनमें पारमार्थिक अभिन्नता, परस्पर पूरकता और एकनिष्ठा है।

# वर्गीकरण की रीति

इस समन्वयात्मक दृष्टि के फलस्वरूप विज्ञानभिक्षु के दार्शनिक सिद्धान्तों का साक्षात्कार तत्तद्-विषयों के प्राधान्य के अनुसार वेदान्त, सांख्य और योग तीनों शास्त्रों के व्याख्या-ग्रन्थों में होता है। परमार्थभूमि के सभी तत्त्वों का पूर्ण विवेचन किसी भी एक शास्त्र के ग्रन्थ में उन्होंने मुख्य रूप से नहीं किया। जिस शास्त्र का जो मुख्य प्रतिपाद्य है उसका उस शास्त्र में विशद एवं विस्तृत विवेचन किया है।[1] यद्यपि अन्य विषयों का भी जो अन्य शास्त्रों में प्रधान किन्तु उस शास्त्र में गौण हैं—वर्णन सम्बन्धित अवस्था में उन्होंने उस शास्त्र में भी किया है, किन्तु वह संक्षिप्त रीति से। इस प्रकार यद्यपि उनके सांख्य, योग और वेदान्त सभी ग्रन्थों में अलग-अलग भी उनके पूरे समन्वित दर्शन की झलक मिल जाती है तथापि उसकी पूरी झाँकी देखने के लिए विषय-प्राधान्य की दृष्टि से ही उनके तीनों शास्त्र-ग्रन्थों का अनुशीलन करना समीचीन और श्रेयस्कर होगा और तभी उनके मतवाद के सम्बन्ध में निर्विचिकित्सित और निर्भ्रान्त ज्ञान सुलभ होगा।

किसी दार्शनिक के सभी सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने के लिए आजकल प्रायः यह शैली अपनायी जाती है कि विषय को चरमतत्त्वमीमांसा,[2] संसारमीमांसा,[3] प्रमाणमीमांसा,[4] मनोविज्ञान,[5] आचारशास्त्र[6] आदि विभागों में बाँट कर प्रस्तुत किया जाता है। और उस दार्शनिक के अनेक ग्रन्थों से इस विभाजन के अनुरूप सामग्री छाँट-छाँट कर उपस्थित की जाती है। विज्ञानभिक्षु के सम्बन्ध में भी

---

१. व्यवहारे वयं योगाः तत्वषड्विंशगोचरे।
भेदस्तुवीक्ष्यते बालेरूपासावाक्यमोहितैः॥
पुं प्रकृत्योर्विवेकेन जीवत्वैश्वर्यबाधतः।
चितिमात्रैकरूपात्मवादे सांख्याश्च यादृशाः॥
महाप्रलयकालीनं ब्रह्माद्वैतं तदात्मता।
ब्रह्मणःसृष्टिरित्यादि चास्माकमधिकं मतम्॥—वि०भा०पृ० ८९-९०

२. Ontology ३. Cosmology
४. Epistemology ५. Psychology
६. Ethics

यही रीति अपनायी जा सकती है; किन्तु उनके सिद्धान्तों का स्वरूप प्रस्तुत करने में एक अन्य शैली अधिक ग्राह्य, उनकी दृष्टि में प्रत्येक शास्त्र भिन्न विषय का प्रतिपादक है। इसलिए वेदान्तशास्त्र के ग्रन्थों में उनके ब्रह्म, जीव, माया, जगत्प्रपञ्च-सम्बन्धी विचार[1] हैं। सांख्यशास्त्र के ग्रन्थों में उनके प्रमाण, पुरुष, प्रकृति, अविद्या, सम्बन्धी विचार[2] और योगशास्त्र के ग्रन्थों में साधना के मार्ग, योग के रूप, योगज-सिद्धियाँ, मन की स्थितियाँ आदि विचार[3] प्रधान रूप से प्रकाशित हैं। इसलिए इन अलग-अलग विषयों से सम्बन्धित उनके सभी सिद्धान्तों को प्रकट करने के लिए उनके दर्शन को इस प्रकार भी विभाजित कर सकते हैं —

१—विज्ञानभिक्षु के वेदान्त-सिद्धान्त

२—विज्ञानभिक्षु के सांख्य—सिद्धान्त

३—विज्ञानभिक्षु के योगसिद्धान्त

इस वर्गीकरण को अपनाने से जहाँ हमें प्रथम प्रकार के वर्गीकरण से प्राप्त फल की पूर्णतः सिद्धि हो जाती है, वहीं वेदान्त, सांख्य और योग शास्त्रों के प्रति विज्ञानभिक्षु के योगदान का आकलन करने तथा उन शास्त्रों के अन्य व्याख्याताओं के सिद्धान्तों से इनके सिद्धान्तों की तुलना करने की भी बड़ी सुविधा मिल जाती है। साथ ही इस वर्गीकरण से उनके ग्रन्थों का अलग-अलग अध्ययन प्रस्तुत करने का मन्तव्य भी सिद्ध हो जाता है। अगले तीन अध्यायों में इसी वर्गीकरण के आधार पर उनके दार्शनिक-सिद्धान्तों का स्वरूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

---

१. चरमतत्त्वमीमांसा, ईश्वरमीमांसा और संसारमीमांसा।

२. आत्मतत्त्वमीमांसा प्रमाणशास्त्र एवं विवेक-विज्ञान।

३. आचारशास्त्र, मनोविज्ञान एवं साधना-शास्त्र।

## अध्याय २

# आचार्य विज्ञानभिक्षु के वेदान्त-सिद्धान्त

# ब्रह्ममीमांसा के अनुबन्धचतुष्टय

## अधिकारी

आचार्य विज्ञानभिक्षु द्विजातियों को सामान्य रूप से और ब्राह्मणों को विशेष रूप से ब्रह्मज्ञान का अधिकारी समझते हैं। ब्रह्मज्ञान का अमृतरूपी अपना भाष्य उन्होंने ब्राह्मणों के लिए अर्पित किया हैं।[1] इन द्विजातियों में भी ब्रह्मविद्या का अधिकार कतिपय प्रशिक्षित लोगों को ही है। उनकी स्पष्ट धारणा है कि ब्रह्मविद्या के सच्चे अधिकारी वे लोग हैं जो—

वेदान्त शास्त्र का अर्थबोध कर सकने के लिए उपयोगी शमदमादि-साधन-सम्पत्ति से युक्त हों।[2] जिनमें अटूट गुरु-भक्ति की भावना भरी हो। जो नित्य कर्म और तप आदि से सम्पन्न हों।[3] जिनमें ब्रह्म अथवा चरमतत्त्व के प्रति वास्तविक जिज्ञासा हो। साथ ही जो कर्मफल के प्रति विरक्त हों अर्थात् निष्काम कर्म करनेवाले हों।

शांकरमतावलम्बियों के द्वारा अभिमत शमदमादिसम्पन्न सर्वकर्म-संन्यासी को ब्रह्मज्ञान का सच्चा अधिकारी मानना ठीक नहीं है। क्योंकि संन्यास का अर्थ सर्वकर्मत्याग हरगिज़ नहीं है। गौतमीय-तन्त्रादि ग्रन्थों में भी संन्यासियों के सर्वकर्मत्याग का खण्डन प्रतिपादित किया गया है।[4] श्रुति-प्रतिपादित

---

१. ज्ञानामृतं गुरोः प्रीत्यै भूदेवेभ्यो नु दीयते।३।—वि० भा० पृ० ९

२. द्रष्टव्य, विज्ञानामृतभाष्य पृ० २७

३. यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाःप्रकाशन्ते महात्मनः, इति श्रुतिः। इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन। न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ इत्यादि स्मृतेश्च।—वि०भा० पृ० २८ पर उद्धृत।

४. गौतमीयतन्त्रे च—केवलंसततं श्रीमच्चरणाम्भोजभाजिनाम्।
संन्यासिनां मुमुक्षूणां तामसः कथितोविधिः॥

तथा—
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥
—वि० भा० पृ० ९ पर उद्धृत

गुरूपगमन में भी समित्पाणित्वलिङ्ग से भी होम का बोध होता है।[1] प्रशान्त-चित्तादिपदों से भी केवल विद्याग्रहण के लिए उपयोगी या अनिवार्य शम का निर्देश किया है क्योंकि अर्जुनादि कर्मपरायण लोगों को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया गया है।[2] इस प्रकार से ब्रह्मविद्या-ग्रहण या ब्रह्मोपदेश-श्रवण के अधिकारी के लिए सर्वकर्मत्याग की स्थिति स्वीकार करना सर्वथा दूषित सिद्धान्त है।[3]

श्रवण के अनन्तर मनन होता है और मनन के पश्चाद् निदिध्यासन का क्षेत्र प्रारम्भ होता है। श्रवण एवं मनन की गयी ब्रह्मविद्या का पूर्ण अभ्यास निदिध्यासन-वेला में ही होता। सर्वाधिक महत्त्व की यही वेला होती है। अतः इसके लिए सच्चा अधिकारी कौन है—आचार्य विज्ञानभिक्षु ने इस सिद्धान्त को भी स्पष्ट किया है। श्रवण-मनन की गयी ब्रह्मविद्या के अभ्यास का सच्चा अधिकारी वह है जो—

योगशास्त्र में बताये गये अङ्गों [अष्टाङ्ग योग] की साधना से सम्पन्न है। श्रवण और मनन के द्वारा जिसे कोमलकण्टकन्याय से शास्त्र-ज्ञान उत्पन्न हो गया है। जिसे नित्यानित्यविवेक आर्ि चारों साधनों की सिद्धि है।[3] जो शान्त, दान्त है और योगविरोधी कर्मों से उपरति रखता है।[4]

ब्रह्मविद्याभ्यास या निदिध्यासन के अधिकारियों के दो भेद हैं—१—मन्दाधिकारी, २—उत्तमाधिकारी। मन्दाधिकारी वे हैं जो गृहस्थाश्रम से लेकर त्रिदण्ड्याश्रमपर्यन्त किसी स्थिति में रहकर ब्रह्मविद्याभ्यास करें, और परमहंस लोग उत्तमाधिकारी कहलाते हैं।[5]

---

१. समित्पाणित्वलिङ्गेन होमावगमाच्च।—वि० भा० पृ० १५
२. अर्जुनादिकर्मिभ्योऽपि ब्रह्मविद्योपदेशदर्शनादिति।—वि०भा० पृ० १५
३. तस्मात्सर्वकर्माणि संन्यस्य श्रवणं कुर्यादिति अपसिद्धान्तःकलिकृतः एव।—विज्ञानामृतभाष्य पृ० २६
४. शास्त्रोक्तविद्याभ्यासे पुनरधिकारी योगशास्त्रोक्तयोगाङ्गादिसम्पन्नः श्रवणमननाभ्यां कोमल कण्टककन्यायेनोत्पन्नज्ञानो नारदीयोक्तनित्यानित्यविवेकादिसाधनचतुष्कवान, शान्तो-दान्त उपरत इत्याद्युक्तश्रुतेः तत्रचोपरतिर्योगविरोधिकर्मभ्यः उपरम इति।—वि० भा० पृ० २८
५. तत्रापि मन्दाधिकारी गृहस्थादिस्त्रिदण्डिपर्यन्तः उत्तमाधिकारी च परमहंसः।—वि० भा० पृ० २८

ये अधिकारी अपने अधिकार के अनुकूल मोक्ष की साधना में प्रवृत्त होते हैं। उस साधना का विज्ञानभिक्षु के मन में क्या स्वरूप होता है यह 'साधना और साधकोंवाले' प्रकरण में बताया जायगा।

## ब्रह्मविद्या के विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध

आचार्य शंकर इत्यादि वेदान्तशास्त्र का विषय जीवब्रह्मैक्य मानते हैं। इस मान्यता का विरोध करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु यह सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं कि गीता के वाक्य[1] से ही पता चल जाता है कि ब्रह्मसूत्रों का विषय ब्रह्म है, ब्रह्मजीवैक्य नहीं। यदि ब्रह्मसूत्रकार को वही मानना अभीष्ट होता तो इस शास्त्र में पहला सूत्र 'अथातो जीव-ब्रह्मैक्यजिज्ञासा' ही होता। इसलिए इस शास्त्र का विषय 'ब्रह्म' ही मानना चाहिए। ब्रह्म-सूत्रों में जो जीव का निरूपण हुआ है वह प्राणादि-निरूपण की भाँति ब्रह्म-शेषतया गौण रूप से ही हुआ है।[2] यदि यह कहा जाय कि वेदान्त के महावाक्यों का प्रतिपाद्य तो ब्रह्मात्मता ही है। तो इसका उत्तर यह है कि ब्रह्मात्मता या ब्रह्मजीवैकात्मता तो ब्रह्म के पूर्ण ज्ञान से स्वयम् आक्षिप्त हो जाती है। अतः इस शास्त्र का विषय असंदिग्ध रूप से ब्रह्म ही है।

अन्य सभी आस्तिकदर्शनों की भाँति वेदान्तशास्त्र का भी परम प्रयोजन मोक्ष-लाभ ही है। इसमें सभी आचार्यों का ऐकमत्य है। इस परम प्रयोजन भूत मोक्ष-लाभ के स्वरूप के विषय में जो मतभेद हैं वे मोक्षवाले अध्याय में प्रकट किए जाएँगे। सब शास्त्रों की भाँति यहाँ पर भी विषय और शास्त्र का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध समझना चाहिए।

---

१. ब्रह्मसूत्रपदैश्चैवहेतुमद्भिर्विनिश्चितैः। इति गीतावाक्ये न सूत्राणांब्रह्म-विषयतामात्रावगमात्।—वि० भा० पृ० ३१

२. जीवनिरूपणं चात्र ब्रह्मशेषतयैव प्राणादिनिरूपणवद्। —वि० भा० पृ० ३१

# ब्रह्म

## सत्ता-सिद्धि

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने प्रकृति और पुरुष दोनों से अतिरिक्त ब्रह्म की सत्ता स्वीकार की है। प्रकृति और पुरुष ब्रह्म की अन्तर्लीन शक्तियाँ हैं।[1] ब्रह्मा, विष्णु, महेश, हिरण्यगर्भ और नारायण इत्यादि साक्षात् ब्रह्म नहीं हैं।[2] ये तो ब्रह्म की व्यक्त शक्तियाँ हैं। कितने भी उच्च कोटि के क्यों न हों ब्रह्म-विष्णवादि हैं तो जीव ही। ब्रह्म के लिए पर्यायवाची शब्द ईश्वर है। जीव नहीं, विज्ञानभिक्षु ने ब्रह्म को परमेश्वर, महेश्वर और ईश्वर कहा है। अन्य पदों से इस परमतत्त्व का बोध नहीं होता।[3] ब्रह्म की सत्ता में श्रुतियाँ और स्मृतियाँ प्रमाण हैं।[4] निदिध्यासन के द्वारा भी योगि-जनों ने ब्रह्म का साक्षात्कार किया है अतः प्रमाण-रूप से योगज-प्रत्यक्ष को भी स्वीकार किया जा सकता है।[5] आचार्य विज्ञानभिक्षु ने ब्रह्म या ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए अनुमान का भी आश्रय ग्रहण किया है[6] जिससे कि तीनों प्रकार के प्रबल प्रमाणों

---

१. परमेश्वरादन्तर्लीनप्रकृतिपुरुषाण्यखिलशक्तिकाद्।—वि० भा० पृ० ३२
काल और अदृष्ट आदि भी प्रकृत्यादि से उपलक्षित अस्तित्व वाली ब्रह्म की अन्तर्लीन शक्तियाँ ही हैं, ऐसा ही समझना चाहिए।

२. अतोविष्णवादिदेवानां न साक्षादीश्वरावतारत्वम्।—वि० भा० पृ० १३३, १३५ और १३७ भी इस विषय में द्रष्टव्य हैं।

३. परब्रह्मण्येव रूढ़िः ब्रह्मशब्दस्योक्ता। तथा विष्णुपुराणेऽपि परमेश्वर एव ब्रह्मशब्दस्य शक्तिरुक्ता।—वि० भा० पृ० ३७

४. तत्र श्रुतयः स्मृतयश्च प्रायेण प्रमाणत्वेनोपन्यसनीयाः।—वि० भा० पृ० ७०

५. योगिप्रत्यक्षादिकमपि ब्रह्मणि प्रमाणं भवति। 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि श्रुतिः।
—वि० भा० पृ० ७०

६. कदाचिच्च संशयस्थलेऽनुमानमप्युपन्यसनीयम् 'उपपत्तेश्चे' त्यादिसूत्रैः।
—वि० भा० पृ० ७०

के द्वारा सिद्ध किये गये तत्त्व के विषय में किसी को संदेह करने का अवकाश न रह जाय। ब्रह्मसिद्धिविषयक अनुमान का स्वरूप यह है[1]—

पहली कड़ी—बुद्धि इत्यादि सारे कार्य उपादान-गोचर-प्रत्यक्ष-जन्य हैं।

(१) कार्य होने के कारण,
घटादि की भाँति

(कार्य में उपादान गोचरप्रत्यक्ष वृत्ति ही हेतु बनती है चैतन्य नहीं प्रयत्न-लाघव की दृष्टि में)

दूसरी कड़ी—बुद्धि, इत्यादि सारे कार्यों का मूल कारण, कारणसत्त्व है।

(२) उपादानगोचरवृत्तीच्छाकृतिमज्जन्य होने से,
अतः कारणसत्त्व की सत्ता सिद्ध हो जाती है।

तीसरी कड़ी—इस कारण-सत्त्व का भोक्ता कोई एतदतिरिक्त सत्ता है।

(३) इसके अन्य से भोग्य होने के कारण,
[अर्थात् इसके इच्छाकृतिमत्वादि के कारण]
जीवोपाधि की भाँति।

इस प्रकार से कारणसत्त्व के भोक्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता का स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है।[2] कारणसत्त्व का भोक्ता कारणसत्त्वातिरिक्त ईश्वर या ब्रह्म है—यह निश्चित होता है। श्रुति-स्मृतियों से श्रवण करके, ऊपर कहे गये अनुमान से मनन करने के पश्चात् योग के द्वारा भूमिकाओं के क्रम से मन की सहायता से ब्रह्म का अशेषविशेषतः साक्षात्कार किया जा सकता है।[3] इस मान्यता की पुष्कल पुष्टि श्रुतियाँ भी करती है।[4]

## ब्रह्म का स्वरूप

यद्यपि ब्रह्म अतीन्द्रिय है तथापि योगज-प्रत्यक्ष से उसके स्वरूप की प्रतीति हो सकती है। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि अवस्तुभूतविशेष मान कर

---

१. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ७१
२. कारणसत्त्वभोक्तृतया ईश्वरोऽनुमेयइति।—वि० भा० पृ० ७०
३. शब्दादिमात्रेण सामान्यतो ज्ञाने जाते योगेन भूमिकाक्रमात् स्वयं मनसा ब्रह्म अशेषविशेषतः साक्षात्क्रियत इत्यवगमात्।—वि० भा० पृ० ७१
४. अन्यथा 'वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः' मनसैवानुद्रष्टव्यम्' एतदप्रमेयं ध्रुवं तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय' इत्यादिश्रुतिविरोधापत्ते-रिति।—वि० भा० पृ० ७१

योगज-प्रत्यक्ष संभव है और दूसरा यह कि योगजधर्म की शक्ति अचिन्त्य है, ऐसा सभी शास्त्र मानते हैं।[१] मन को विभु[२] मानने पर मन का सर्वत्र संयोग हो सकता है और उसे परिच्छिन्न मानने पर भी योगज प्रत्यासत्ति के द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार, सर्वथा सम्भव है[३]। शांकरमतावलम्बी वेदान्तियों के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म में वृत्तिव्याप्यत्व की स्वीकृति और फलव्याप्यत्व [अर्थात् अनुभव-व्याप्यत्व] का निषेध सर्वथा अप्रामाणिक है।[४] अनुभवव्याप्यत्व न स्वीकार करने पर ब्रह्म के सम्बन्ध में कोई व्यवहार ही, (श्रवणमननिदिध्यासन आदि कोई व्यवहार सम्भव नहीं हो सकेगा। यह कहना कि वह स्वप्रकाश है इसलिए तद्विषयक व्यवहार) सम्भव है—भी भ्रान्ति ही है। इसमें निरर्थक कल्पनागौरव है।[५] उनका यह कहना कि कर्मकर्तृ विरोध की आशङ्का से और स्वप्रकाशत्व की अन्यथानुपपत्ति से ब्रह्मानुभवरूप व्यवहार में स्वविषयानुभव हेतु नहीं सम्भव है। इसका जोरदार खण्डन करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु ने कहा है कि—

हम ब्रह्म की प्रक्षेपत्वरूप स्वप्रकाशता नहीं मानते हैं और न ही हम जीव ब्रह्म का अखण्डत्व मानते हैं जिससे कि जीव के ब्रह्मज्ञान में कर्मकर्तृ विरोध पड़ सके। सच तो यह है कि अखण्डात्मा माननेवालों के लिए भी ।सांख्ययोगोक्त जीव की स्वसाक्षात्कारक्रिया के द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार मानने में भी कर्मकर्तृ-विरोध नहीं पड़ता। अतः स्वप्रकाश होने पर भी ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार योग के द्वारा किया जा सकता है और तभी उसके स्वरूप की झाँकी देखने को प्राप्त हो सकती है।[६]

ब्रह्म चिन्मात्र है।[७] चैतन्य या चेतनता ब्रह्म का गुण नहीं है अपितु द्रव्य-विशेष है।[८] इसमें धर्म और धर्मी का विभाग नहीं है। इस चिन्मयता अर्थात् ज्ञान-मात्रैकरूपता के कारण ब्रह्म को शास्त्रों में सर्वज्ञ भी कहा जाता है। ब्रह्म आनन्द

---

१. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ७२
२. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ७२
३. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ७२
४. तत्रैतादृशकल्पनायां प्रमाणादर्शनात्।—वि० भा० पृ० ७२
५. तद्विषयकज्ञानस्यतद्व्यवहारहेतुत्वकल्पने गौरवात्।—वि० भा० पृ०७३
६. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ७३-७४
७. तस्मै नमश्चिन्मात्ररूपिणे।—वि० भा० पृ० १
८. चैतन्यं चात्मनो न गुणःकिन्तु द्रव्यविशेष एव धर्मधर्मिविभागशून्यश्चेतन इतिचैतन्यमिति चोच्यते।—वि० भा० पृ० ६२

स्वरूप नहीं है। अतः उसमें सच्चिदानन्दरूपता की कल्पना भ्रान्ति है। जो चिन्मात्र है वह चैतन्य के अतिरिक्त आनन्दादि रूप नहीं हो सकता[1]। श्रुतियों के द्वारा एकरस प्रतिपादित किये जाने के कारण ब्रह्म में ज्ञानरूपता और आनन्द-रूपता का प्रकार-भेद नहीं माना जा सकता[2]। ब्रह्म में आनन्दमयता श्रुतियों ने केवल भेदपरता के निश्चय कराने के लिए प्रतिपादित की है जैसे 'स एको ब्रह्मण आनन्दः। विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयश्च।'[3] इत्यादि। इतना ही नहीं, श्रुतियों ने ब्रह्म की आनन्दरूपता का स्फुट प्रत्याख्यान भी किया है।[4] स्मृतियों ने भी ब्रह्म को सुखरहित अर्थात् आनन्दशून्य बताया है।[5] आनन्दादि वस्तुतः 'प्रधान' के धर्म हैं। स्थूल-दृष्टिवाले उपासकों के लिए ही ब्रह्म की उपाधिभूत 'प्रधान' के धर्म कहीं-कहीं श्रुतियों में ब्रह्म के सम्बन्ध में कह दिए गए हैं। आनन्दयुक्तता भी वैसे ही कही गयी समझी जानी चाहिए। इस प्रकार से ब्रह्म आनन्द स्वरूप नहीं है अपितु आनन्द उसका औपाधिक धर्म है।[6]

ब्रह्म वस्तुतः अक्षर है। कूटस्थनित्य है। और निर्गुण है। जीवों और सकल प्रकृतिप्रसूतपदार्थों का लयाधार होने के कारण वह अन्तर्यामी भी कहा जाता है। यह ब्रह्म ही अन्तिम सत्ता है क्योंकि सभी पुरुष उसके अंश हैं[7] अर्थात् उसकी शक्ति-मात्र हैं। सकल बोधों और भोगों का साक्षिमात्र होने से ही वह भोक्ता कहलाता है। योगशास्त्र में बताए गए ईश्वर के लक्षण[8] में भी इस प्रकार के साक्षित्व रूप भोक्तृत्व का कोई निषेध नहीं है। इससे स्पष्ट है

---

१. एतेन ब्रह्मणः आनन्दरूपत्वमपास्तम्' नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वेविरोधा-दिति सांख्यसूत्रोक्तन्यायाच्च।'—वि० भा० पृ० ६३

२. ज्ञानत्वसुखत्वरूपं प्रकारभेदश्च त्वयापि नेष्यते एकरसत्वश्रुति-विरोधाच्च।—वि० भा० पृ० ६३

३. वि० भा० प० ६४ पर उद्धृत श्रुतिवाक्य।

४. नानन्दं न निरानन्दं विद्वान् हर्षशोकौ जहाति।—वि० भा० प० ६४ पर उद्धृत।

५. अदुःखमसुखं ब्रह्मभूतभव्यभवात्मकम्।—वि०भा०पृ० ६४ पर उद्धृत।

६. ब्रह्मणि तु आनन्द हिरण्मयत्वादयः प्रधानादित्यादिधर्मा अध्यानाय-सम्यग्ध्यानायैवोक्ताः श्रुतिषु।—वि० भा० पृ० ४८४

७. नित्यत्वादिनासजातीयत्वस्योपपादिततया जीवो ब्रह्मणोंऽशः पितुरिव पुत्रः।—वि० भा० पृ० ३६१

८. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टःपुरुषविशेषःईश्वरः।—यो० सू० १। १५

कि जीव के भोग से यह ईश्वर-भोग सर्वथा विलक्षण है।[१] ब्रह्म विभु है। निरतिशयबृंहत्वात् ही से तो उसे ब्रह्म या परब्रह्म कहा गया है। ब्रह्मपद पङ्कजादि की भाँति योगरूढ ही समझना चाहिये। इसलिए शाङ्करमत के विपरीत ब्रह्मशब्द का मुख्यार्थ जीव कभी नहीं हो सकता। हिरण्यगर्भादि का भी बोध ब्रह्मशब्द के मुख्यार्थ के रूप में जीव कभी नहीं हो सकता। हिरण्यगर्भादि जीवों के लिए जहाँ कहीं भी ब्रह्मशब्द का प्रयोग हुआ है वह विभुत्वसर्वाधारत्वादि गुणों के योग के कारण गौण रूप में ही।[२]

## ब्रह्म की उपाधि

यद्यपि ब्रह्म या ईश्वर नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभाव है तथापि पुरुष और प्रकृतिरूपिणी अपनी अन्तर्लीन शक्तियों के द्वारा होनेवाली सृष्टि इत्यादि समस्तव्यवहारकाल में वह उपाधियुक्त या उपाधिविशिष्ट होता है। विशुद्धसत्त्वा माया ही उसकी उपाधि बनती है।[३] स्मरणीय यह है कि ईश्वर भी विभु हैं और उसकी उपाधि भी विभु है और दोनों का संयोग भी नित्य है। इसलिए सृष्टि, स्थिति और लय की परम्परा निर्बाध रीति से चलती रहती है। चूँकि विना उपाधि के माने ईश्वर का इच्छादिकर्तृत्व सिद्ध नहीं होता इसलिए इच्छादिकर्तृत्वानन्यथानुपपत्या ईश्वरोपाधि की सत्ता सिद्ध होती है।[४] ईश्वरोपाधि की जीवोपाधि से विलक्षणता स्पष्ट और निश्चित है। ईश्वर में कारणोपाधि और जीवों में कार्योपाधि रहती है।[५] ईश्वरोपाधि नित्य विशुद्धसत्व की है अतः ईश्वर के उपाधि भोग के लिए किसी इन्द्रिय या अंतःकरण की आवश्यकता नहीं होती।[६] ईश्वरोपाधिभूत विशुद्धसत्त्वा माया[७] को अविद्या नहीं कहा जा

---

१. नत्वीश्वरो जीववत्कामजन्यं सुखंभुंक्ते इति दिक्।—वि० भा० पृ०१८५

२. अन्यजीवेषु ब्रह्मशब्दप्रयोगोंऽशांश्यभेदोविभुत्वसर्वाधारत्वादिगुणयोगाद्वेति बोध्यम्।—वि० भा० पृ० ३८

३. किन्तु केवलम् नित्यज्ञानेच्छानन्दादिमत्सदैकरूपम् कारणसत्वमेवतस्योपाधिः। ईश्वरगीताभाष्यम्, पाण्डुलिपिः।

४. न हि चिन्मात्रस्योपाधिद्वारतांविना इच्छादिकं सोऽकामयत तदात्मानं स्वयमकुरुतेत्यादि प्रयुक्तं सम्भवतीति।—वि० भा० पृ० ९८

५. कार्योपाधिरयं जीवःकारणोपाधिरीश्वरः। इतिश्रुतिः—वि० भा० पृ० ९७ पर उद्धृत

६. ब्रह्मकरणवन्नभवति कुतः भोगादिप्रसङ्गात् [जीववत्सुखदुःखादिभोगस्य रागद्वेषादेश्च प्रसङ्गादित्यर्थः।—वि० भा० पृ० ३१९

७—ईश्वरोपाधिर्मायाख्य उक्तः।—वि० भा० पृ० ९९

सकता अविद्या तो जीवोपाधि का अङ्ग है। यह माया प्रकृति का एक रूप अवश्य है। इस ईश्वरोपाधि का रूप स्पष्ट करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु ने प्रतिपादित किया है कि यह नित्यज्ञान, नित्येच्छा एवं नित्यानन्द से युक्त रहती है। इसे माया कहते हैं अविद्या नहीं।[1] यह ईश्वर के सत्यसंकल्पादि की आधारभूत है। ईश्वर की अन्तरङ्ग है। इसकी प्रमुख विशेषता तो यह है कि यह अपरिणामिनी है।[2] कदाचित् इसके अपरिणामित्व गुण के ही कारण विष्णुपुराण में इसे प्रकृति से भिन्न सत्तावाली माना है। किंतु आचार्य विज्ञानभिक्षु ने इसका प्रवेश प्रकृति के ही अंतर्गत माना है।[3]

## ब्रह्म के दो रूप

यद्यपि ब्रह्म अविकारी और चिन्मात्र है फिर भी अधिष्ठान रूप से वह जगत् का उपादान कारण बनता है[4] क्योंकि प्रकृति के माध्यम से उसकी कारणता अक्षुण्ण है।[5] उपाधि में विकार-पूर्ण कृत्यों की निमित्त-कारणता मानने में कोई अनिष्टापत्ति नहीं है। सोपाधि ब्रह्म के दो शरीर श्रुतियों में बताये गये हैं जैसे कि जीव के दो शरीर होते[6] हैं। एक शरीर सूक्ष्म कहलाता है और दूसरा स्थूल। सभी विकारपूर्ण कृत्यों का आधार-रूप नित्य विशुद्धसत्त्व (स्वयम् उपाधि या) माया ही[4] ब्रह्म का सूक्ष्म शरीर है। तथा साक्षात्प्रयत्नजन्यक्रिया रूप चेष्टाओं का आश्रयरूप अन्य जीव-जन्तु एवं निर्जीव पदार्थ उसके स्थूल रूप हैं।[7] शास्त्रों में ब्रह्म के इन सोपाधि शरीरों का प्रतिषेध नहीं किया गया है,

---

१. शुक्तिरजताद्यविद्यायां माया शब्दाप्रयोगाच्च।—वि० भा० पृ० १२६

२. ईशोपाधेःअपरिणामित्वेऽपि जडत्वसाधर्म्येण प्रकृतिमध्येप्रवेशसम्भवाच्चेति।—वि० भा० पृ० १२७

३. अत्र तु समानतन्त्रपातञ्जलसिद्धान्तत्वादानन्दादयः प्रधानस्येत्यागामिसूत्राच्च ईश्वरोपाधेः प्रधाने प्रवेश एव सूत्रकाराभिप्रेतो जडत्वसाधर्म्येणेत्यवगम्यत इति।—वि० भा० पृ० २५८

४. तदेवं समन्वयसूत्रेणाविकारिचिन्मात्रस्यापि ब्रह्मणोऽधिष्ठानत्वेन जगदुपादानत्वमुपपादितम्।—वि० भा० पृ० १००

५. वेदान्तेऽपिशुद्धचिन्मात्रस्य ब्रह्मणः परिणामित्वाभावाद् ब्रह्मोपाधेरेव जगदुपादानत्वम्।—वि० भा० पृ० २७२

६. जीववत्परमात्मनोऽपि शरीरद्वयवत्वात् 'यस्य सर्वशरीरम्' इत्यादिश्रुतीनां गौणत्वानौचित्यात्।—वि० भा० पृ० १००

७. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० १००

केवल इन्द्रियाश्रयरूप शरीर का ब्रह्म के विषय में निषेध है। अतः ब्रह्म की विराट्-रूपता के प्रतीक इन सूक्ष्म और स्थूल शरीरों को प्रतिपादित किया गया है। इससे ब्रह्म की अविकारिता या चिन्मात्रता या निर्गुणता में कोई बाधा न समझनी चाहिए। यह शरीर-भेद तो वस्तुतः उपाधिसंयुक्त ब्रह्म की दृष्टि से बताया गया है। यह कथन संसार-सापेक्ष है।

## ब्रह्म जगत् का अधिष्ठान कारण है

इस अचिन्त्यरचनात्मक जगत् का जन्मस्थितिलयादि अर्थात् उत्पत्ति या विकास आदि परमेश्वर से होता है। क्योंकि ब्रह्म में प्रकृति पुरुष आदि अखिल शक्तियाँ अन्तर्लीन रहती हैं और स्वतः चिन्मात्र होने पर भी वह विशुद्धसत्त्वाख्य-मायोपाधि युक्त है।[१] महदादिक्रम से विकसित होनेवाला यह सारा जगत् इसी ब्रह्म पर अधिष्ठित है। यह ब्रह्म इस जगत् का अधिष्ठान कारण है।[२]

अधिष्ठान कारण उसे कहते है जिस आधार से अविभक्त[३] तथा उपष्टब्ध[४] होकर उपादान कारण कार्य रूप में परिणत होता है। जैसे सृष्टि के आदि में जल से अविभक्त पृथिवी के सूक्ष्मांश (अर्थात् पार्थिव तन्मात्राएँ जल) के द्वारा उपष्टब्ध हो कर पृथ्वी के आकार में परिणत होते हैं इसलिए जल, स्थूल पृथ्वी का अधिष्ठान-कारण है स्मृतियों में भी अधिष्ठानकारण रूप से महेश्वर को माना गया है[५]। इसी प्रकार से ब्रह्म से अविभक्त प्रकृत्यादि, ब्रह्म के साक्षित्व-मात्र से उपष्टब्ध हो कर जगत्-रूपी कार्य के आकार में परिणत होती है।[६] अतः ब्रह्म जगत् का कारण भी सिद्ध हुआ और उसमें विकारित्व का भी प्रसङ्ग नहीं आया। साथ ही प्रकृति अथवा पुरुषादि शक्तियों में मूलकारणता का अतिप्रसङ्ग भी न हुआ।[७] इस प्रकार से अधिष्ठान-कारण के साथ ही साथ

१. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ३१-३२
२. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ३२
३. अविभागश्चाधारतावत् स्वरूपसंबन्धविशेषोऽत्यन्तसंमिश्रणरूपोदुग्ध-जलाद्येकताप्रत्ययनियामकः।—वि० भा० पृ० ३३
४. यस्य यत्कारणं प्रोक्तं तस्यसाक्षान्महेश्वरः। अधिष्ठानतया स्थित्वा सदैवोपकरोतिहीति।—वि० भा० पृ० ३२ पर उद्धृत
५. विकारिकारणवदधिष्ठानकारणस्याप्युपादानत्वव्यवहारात् कार्या-विभागाधारत्वस्यैवोपादानसामान्यक्षणात्।—वि० भा० पृ० ३३
६. द्रष्टव्य, वि० भा० प० ३१
७. अत एवाविकारिचिन्मात्रत्वेऽपिब्रह्मणो जगदुपादानत्वं जगदभेदश्चोप-पद्यते।—वि० भा० पृ० ३३

ब्रह्म जगत् का उपादान कारण भी सिद्ध हुआ क्योंकि उससे अविभक्त रहकर और उपष्टब्ध हो कर ही तो प्रकृत्यादि का परिणमन कार्यरूप में हुआ है, वैशेषिक और सांख्य सिद्धान्तों से भी यह मत अविरुद्ध है। पदावली में भले ही थोड़ा अन्तर हो। वैशेषिक लोग ब्रह्म को निमित्त कारण कहते हैं। और हम लोगों की दृष्टि में ब्रह्म, संसार का, समवायि असमवायि से उदासीन तथा निमित्त कारणों से विलक्षण चौथे प्रकार का आधारकारण अर्थात् अधिष्ठानकारण है।[1] इस प्रकार से ब्रह्म की उपादान-कारणता उसकी अन्तर्लीन परिणामिनी शक्ति प्रकृति के बल पर सिद्ध हुई। जगत् का कर्तृत्व भी ब्रह्म में कहा जाता है। यह कर्तृत्व ब्रह्म की उपाधिभूत शुद्धसत्त्वा माया के बल पर है। यह माया अपरिणामिनी है। हम जानते हैं कि कर्तृत्व एक प्रकार का निमित्तकारणत्व ही है।[2] इस प्रकार से जगत् का अधिष्ठानकारण और कर्वा होने के कारण ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमितोपादानकारण भी सिद्ध हुआ।[3]

१. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ३३

२. ब्रह्मणश्च जगत्कर्तृत्वं स्वोपाधिमायोपाधिकं, परिणामित्वरूपोपादानत्वं प्रकृतितत्कार्याद्यौपाधिकमपीष्यत एव।—वि० भा० पृ० ३४

३. एतेन जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वं व्याख्यातम्।—वि० भा० पृ० ३४

# जीव का स्वरूप

जगत् द्विधा भासमान होता है—चेतन रूप में और अचेतन रूप में। चेतन और अचेतन तत्त्वों का ही नाम क्रमशः पुरुष और प्रकृति है। ये दोनों ईश्वर या ब्रह्म की अन्तर्लीन शक्तियाँ हैं। चेतन-शक्ति कार्योपाधि से अवच्छिन्न होकर जीव कहलाती है। ब्रह्म शब्द का प्रयोग जीव के अर्थ में मुख्य रूप से कभी नहीं किया जा सकता। विभुत्वसर्वाधारत्वादिगुणसाम्य के योग से भले ही कभी गौण रूप में ब्रह्म शब्द का प्रयोग जीव के लिए कर दिया गया हो। बन्ध और मोक्ष जीव को ही होते हैं परमेश्वर को कभी नहीं। यह बात और है कि ये बन्धमोक्षादि जीव को भी स्वरूपतः न होकर औपाधिक रूप से होते हैं। इसीलिए जीव की उपाधि कार्योपाधि या मलिनसत्त्वप्रवाना कही गयी है जब कि ईश्वर की उपाधि कारणोपाधि या विशुद्धसत्त्वप्रधाना है।

जीव एक नहीं अनेक हैं। अनेक जीव न मानने पर बन्धमोक्षादि व्यवस्था की अनुपपत्ति होगी। बन्धमोक्षादिव्यवस्था के कारण ही जीवनानात्व मानने के गौरव को भी स्वीकार किया जाता है।[1] यदि जीव को केवल एक ही मानें और अनेक उपाधियों में भेद मानें तो भी बन्धमोक्ष-व्यवस्था असम्भव ही रहेगी क्योंकि एक ही जीव जब नाना उपाधियों से संयुक्त रहेगा तब निश्चित रूप से उसे मोक्ष-लाभ कभी हो ही नहीं सकेगा। अतः जीव का अनेक होना ही सिद्ध है।[2] तो प्रश्न यह उठता है कि फिर विज्ञानभिक्षु जो अद्वैतवादी बनते हैं यह स्थिति कैसे सम्भव है? इस शंका को समाहित करने का उनके पास साधन यह है कि वे जीवों में जातिपरक ऐक्य ही मानते हैं। जीव और ब्रह्म में भी यही सामान्याद्वैत या जातिपरक अद्वैत है। इस चिन्मात्रत्व सामान्य की दृष्टि से जीवों के बीच परस्पर तथा 'जीव' और परमात्मा के बीच अद्वैत ही सिद्ध होता है।[3]

---

१. बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तिप्रमाणसिद्धतया आत्मनानात्वगौरवस्यैवादर्तव्यत्वात्
—वि० भा० पृ० ४२

२. उपाधिभेदे सत्यपि एकस्यैवात्मनो नानोपाधियोगः स्यादतो न व्यवस्थेत्यर्थः।
—वि० भा० पृ० ४६

३. जातिपरकत्वात्‌चित्सामान्याद्वैतपरत्वात् श्रुतीनामित्यर्थ:।
—वि० भा० पृ० ४७

सृष्टि के पूर्व भी शक्ति-सम्बन्ध से ईश्वराधिष्ठेय जीव की सत्ता थी। जीव और ब्रह्म का पूर्ण ऐक्य अर्थात् पूर्ण अभिन्नता अलबत्ता असम्भव है। क्योंकि बिना स्वरूपभेद के ईश्वर और जीव का अधिष्ठात्रधिष्ठेयभाव असम्भव है। इसलिए अखण्डैकात्म्य की स्थिति सर्वथा अमान्य है।[1] जीवों और ब्रह्म के मध्यवर्ती सम्बन्ध में अंशांशिभाव ही मानना चाहिए।[2] अंश और अंशी में भेदाभेद दोनों है। यदि यह शंका उठे कि भेद और अभेद विरोधी शब्द हैं इसलिए किन्हीं दो वस्तुओं में भेद और अभेद दोनों एक साथ असम्भव हैं? तो उसका समाधान यह है कि काल-भेद से भेद और अभेद दोनों स्थिति सम्भव तथा युक्तियुक्त है। जीव और ब्रह्म में आत्यन्तिक या सार्वकालिक अन्योन्याभाव है। इसमें कोई सन्देह नहीं। शक्ति और शक्तिमान् का अविभाग नित्य ही माना जाना चाहिए।[3]

इस अंशांशिभाव का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करते हुए विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि अंशत्व का अर्थ है सजातीय होने पर अविभाग का प्रतियोगित्व और अंशित्व का अर्थ है उसका अनुयोगित्व।[4] सजातीयत्व का अर्थ है 'द्रव्यत्वसाक्षाद् व्याप्यजातित्व' और विभाग का अर्थ है 'लक्षणान्यत्व' अर्थात् 'अभिव्यक्तधर्मभेद' तथा अविभाग का अर्थ है 'लक्षणान्यत्वाभाव' अर्थात् 'अभिव्यक्तधर्म भेदाभाव'। अविभाग को इस प्रकार भी समझना चाहिए कि अविभाग एक संयोगविशेष या स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष है।[5] जल और दधिलवण का जिस प्रकार से समुद्र में अविभाग कहा जाता है उसी प्रकार प्रकृति और जीव का ब्रह्म में अविभाग सम्बन्ध समझना चाहिए।

अंशांशिभाव सम्बन्ध स्वीकार करने पर एक स्वाभाविक सन्देह उठता है कि ब्रह्म तो निरवयव है उसमें सावयवपदार्थों के विभागों या अंशों की भाँति

---

१. न चायमुपाधिसंबन्धात्पूर्वमधिष्ठेयाधिष्ठातृभावो निरंशस्यात्मन: स्वरूपभेदं विनोपपद्यते।—वि० भा० पृ० ४८

२. तस्माद्भेदाभ्यां जीवब्रह्मणोरंशांशिभाव एव ब्रह्ममीमांसासिद्धान्तोऽवधारणीय:।—वि० भा० पृ० ५०

३. अंशांशिनोश्च भेदाभेदौ विभागाविभागरूपौ कालभेदेन अविरुद्धौ, अन्योन्याभावश्च जीवब्रह्मणोरात्यन्तिक एव तथा शक्तिशक्तिमद विभागोऽपि नित्य एवेतिमन्तव्यम्।—वि० भा० पृ० ५१

४. अंशत्वं च सजातीयत्वे सति अविभागप्रतियोगित्वम्, तदनुयोगित्वम् चांशित्वम्॥—वि० भा० पृ० ५१

५. अथवास्तु अविभाग: संयोगविशेष: स्वरूपसम्बन्धोवा आधेयत्वादिवत्।
—वि० भा० पृ० ५१

अंशांशिभाव की कल्पना कैसी ? इस सन्देह को निर्मूल करते हुए आचार्य विज्ञान-भिक्षु लिखते हैं कि जिस प्रकार का अंशत्व हमने माना है वह अवयवरहित पदार्थ में भी संभव है। जैसे शरीर का अवयव न होने पर भी केशादि शरीर के अंश कहे जा सकते हैं या राशिभूतवस्तु का अवयव न होने पर भी उसमें का एक-देश उसका अंश हो सकता है या जैसे शरीर का अवयव न होने पर भी पुत्र पिता का अंश कहलाता है, वैसे ही सभी जीव पिता में पुत्रों की भाँति नित्यस-र्वविभासनशील चिन्मात्र ब्रह्म में विषयभासन-रूप-स्वलक्षण को त्याग कर प्रलय लक्षणानन्यता या अभिव्यक्तधर्म-भेदाभाव को प्राप्त होते हैं। सृष्टिकाल में ब्रह्म की इच्छा से काल में चैतन्य ही ब्रह्म से फलोपधान को प्राप्त करके वैसे ही उत्पन्न (आविर्भूत) हो जाते हैं जैसे पिता से पुत्रगण। अतः जीवों को ब्रह्म का अंश मानना चाहिए।[1] 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इस श्रुति से भी जीव और ब्रह्म का पुत्र एवं पिता की भाँति अविभागलक्षणाभेद सिद्ध होता है। अतः अंश शब्द का इसी अर्थ में ग्रहण करना ठीक है। पिता, पुत्र और अग्निस्फुलिङ्ग की भाँति यह माना जाना चाहिए, आकाश की भाँति नहीं आकाश की भाँति मानने में गौणार्थत्वादि अनेक दोष प्रसक्त होंगे।[2]

यद्यपि जीव भी ब्रह्म की भाँति स्वरूपतः विभु एवं चिन्मात्र होते हैं तथापि उपाध्यवच्छेद के कारण अभिव्यक्तपरिच्छिन्नचैतन्य होने से चिन्गारियों की भाँति होते हैं। शुद्ध रूप में जीव भी असङ्ग, असंसारी, विभु और सर्वाधार होते हैं। पर उपाधिमालिन्य के संयोग से उनकी सारी सांसारिकता है। जीव में चैतन्यफलोपधान कादाचित्क है। वाचारम्भणमात्र है। जीव ईश्वर-परतन्त्र है और अल्प है।[3] चिच्छक्ति के अमुख्य योग के कारण जीव गौणात्मा हैं और ईश्वर मुख्य आत्मा है। सर्वज्ञता स्वतंत्रता के कारण जैसे कि प्राण मुख्य है और अनेक कारण गौण हैं। इसी कारण ईश्वर परात्मा या परमात्मा है, जीव

---

१. सर्गकालेच तदिच्छया तत एव लब्ध चैतन्यफलोपधाना आविर्भवन्ति पितुरिव पुत्रा अतो जीवाः ब्रह्मांशा भवन्ति।—वि० भा० पृ० ५२

२. आकाशवदंशांशिभावाश्रयणेऽशशब्दस्यगौणत्वंस्यात्। घटाकाशोह्याकाशाद् विभक्तो न भवति लक्षणान्यत्वाभावात् घटाकाशधर्माणामप्याकाशधर्मत्वात् अवच्छिन्ने चांशशब्दवदिति गौणोऽवयवादिशब्दवदिति। अतोनैवाकाशवदंशत्वं ब्रह्ममीमांसार्थः।—वि० भा० पृ० ५२-५३

३. जीवेषुचैतन्यफलोपधानं कादाचित्कतया वाचारम्भणमात्रम् ईश्वर-परतन्त्रम् सदल्पं चेति।—वि० भा० पृ० ५६

अपरात्मा है, ईश्वर श्रेष्ठ आत्मा है, जीव अश्रेष्ठ आत्मा है, ईश्वर मुख्यात्मा है और जीव गौणात्मा है।[१] ।इस प्रकार से जीव ब्रह्म का वास्तविक सम्बन्ध खण्डैकात्म्य अर्थात् अविभागलक्षणाभेद या अंशांशित्व रूप का है।

इस प्रकार जीव और ईश्वर में अंशांशिभाव से विभागरूपी भेद और अविभागरूपी अभेद सिद्ध हुआ। विशेष ध्यान देने की केवल एक बात है कि आदि और अन्त में चूंकि नित्य जीव और नित्य ब्रह्म में अविभागरूपी अभेद ही रहेगा, इसलिए वही सत्य और पारमार्थिक है। और चूंकि मध्य में उपाधि के स्वल्पावच्छेद के कारण नैमित्तिक रूप से जीव और ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध में अन्य औपाधिक विकारों की भाँति विभागरूपी भेद होता है, इसलिए वह वाचारम्भणमात्र है अर्थात् भेद केवल कहने भर को हुआ और इस प्रकार से प्राधान्येन आत्माद्वैत ही सिद्ध होता है।[२]

जीव की उपाधि किस प्रकार की होती है ? इस विषय में उनका मत है कि जीवोपाधि क्लेशादिवासनाओं के हेतु मलिनसत्त्ववाली है। पर है वह उपाधि नित्य ही, अनित्य कदापि नहीं। प्रश्न उठता है कि यदि यह उपाधि नित्य है तो फिर इसे कार्योपाधि की संज्ञा क्यों दी गई ? कार्यवस्तु तो नित्य हो ही नहीं सकती। इसके उत्तर में उनका कहना है कि नित्य होने पर भी चूंकि वह बाह्य-सत्त्व से संभिन्न होकर कार्य रूप में परिणत हुआ करती है और तभी लौकिक-ज्ञानादि का हेतु बनती है अतः उसे कार्योपाधि कहा गया है। जब कि ईश्वरोपाधि सर्वथा विशुद्धसत्त्वा है[३] और अपरिणामिनी है। जीवोपाधि परिणामिनी है।

---

१. तथा च नारदीये गौणमुख्यभावेनात्मद्वयमुक्तम् आत्मानं द्विविधं प्राहुः परापरविभेदतः। परस्तु निर्गुणः प्रोक्तो ह्यहङ्कारयुतोऽपरः॥ इति परापरौश्रेष्ठाश्रेष्ठौ मुख्यगौणत्वाभ्याभितिभावः। इदमेव खण्डैकात्म्यमबुद्धा आधुनिका अखण्डैकात्म्योपपत्तये जीवानां प्रतिबिम्बावच्छेदिरूपैः कुकल्पनां कुर्वन्ति।—वि० भा० पृ० ५७

२. तस्मात्सिद्धौ जीवेश्वरयोरंशांशिभावेन भेदाभेदौविभागाविभागरूपौ। तत्राप्यविभागएव आद्यन्तयोरनुगतत्वात्स्वाभाविकत्वान्नित्यत्वाच्च सत्यः विभागस्तु मध्यस्वल्पावच्छेदेन नैमित्तिको विकारान्तरवद्-वाचारम्भणमात्रमितिविशेषः। तदेवम् आत्माद्वैतं व्याख्यातम्॥ —वि० भा० पृ० ६१

३. तस्य नित्यत्वेऽपिबाह्यसत्त्वसंभेदेनकार्यतयापरिणतस्यैव ज्ञानादिहेतुत्वाज्जीवस्य कार्योपाधिः।—वि० भा० पृ० ९९

हिरण्यगर्भ आदि जीव ही हैं। वे आनन्दमय नहीं हैं। जीव असंकुचित और विस्तृत संसार की सृष्टि नहीं कर सकते। जीव का प्रधान लक्षण बुद्धि है। बिना बुद्धि सम्पर्क के जीव संज्ञा हो ही नहीं सकती।[1] जिस दृष्टि से जीव का परमेश्वर से भेद बताया गया है उसी दृष्टि से उनका पारस्परिक विभाग या भेद भी सिद्ध है। कार्योपाधियुक्तता के कारण उनमें कादाचित्क ज्ञान, अल्पज्ञान एवं परतन्त्र ज्ञान की ही सम्भावना रहती है। ब्रह्म की भांति शाश्वत ज्ञान का भान जीव में नहीं हो सकता।[2]

इस विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि सुषुप्ति, प्रलय और मोक्ष दशा में भी जीव और ब्रह्म का अनौपाधिक या स्वाभाविक भेद रहता ही है। यह भेद स्वरूपभेद है औपाधिक नहीं। यह पारमार्थिक भेद है, नहीं तो भेद का कथन ही न होता, क्योंकि अभेद केवल अविभागलक्षणवाला है, अखण्डतावाला नहीं।[3]

जीव सृष्टि के पूर्व अविभक्त रूप से ब्रह्म में अवस्थित रहते हैं। उसके पश्चात् सर्गकाल में पिता से पुत्र के समान ब्रह्म से जीव विभक्त हो जाते हैं। जैसे अग्नि से क्षुद्र विस्फुलिङ्ग निकलते हैं वैसे ही ब्रह्म से जीव निकलते हैं। आभासवाद, अवच्छेदवाद और प्रतिबिम्बवाद के अनुसार जीव को मिथ्या मानने से मोक्षादि की भी अनुपपत्ति होती है अतः ऐसी मान्यता सर्वथा हेय है।[4]

---

१. श्रुतौ च विज्ञानमयादूर्ध्वंकापि जीवावस्था नास्ति बुद्धिं विना जीवव्यवहाराभावात्।—वि० भा० पृ० १५३

२. प्रतिपादितंच पञ्चसूत्र्यां ब्रह्मणो मुख्यमात्मत्वं स्वतः सर्वदा सर्वद्रष्टृत्वात्, जीवानां च कादाचित्कात्यल्पतदधीनज्ञानयोग्यतामात्रेण गौणमात्मत्वम्।—वि० भा० पृ० १७१

३. एतेन सुषुप्तिप्रलयमोक्षेष्वपि जीवब्रह्मणोराचार्य्येण भेदवचनादनौपाधिकः स्वाभाविक एव तयोर्भेद आचार्यसिद्धांतोऽवधार्यते भेदस्यौपाधिकत्वे सत्युपाधिविलयदशायां भेदप्रतिपादनानुपपत्तेः। नहि घटविलये तदौपाधिके आकाशे भेदो वक्तुं केनापि शक्यते युज्यते वा भेदस्यापारमार्थिकत्वे सतितदानुमीयमानभेदस्यानुवादानुपपत्तेः अभेदस्यैव प्रतिपादनार्हत्वादिति तस्मादेतत्सूत्राज्जीवब्रह्माखण्डतावादोऽपसिद्धांतः एवाधुनिकानामिति ज्ञातव्यम्।—वि० भा० पृ० २३६

४. आधुनिका अखण्डैकात्म्योपपत्तये जीवानां प्रतिबिम्बावच्छेदादिरूपैः कुकल्पनां कुर्वन्ति।—वि० भा० पृ० ५७

जैसे जडाजडत्वादिवैधर्म्य के कारण पाषाण को ब्रह्म नहीं कहा जा सकता, वैसे ही जीव को भी ब्रह्म का रूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस सम्बन्ध में भी सर्वज्ञत्वाज्ञत्वसंसारासंसारादिवैधर्म्य हैं।[1] वस्तुतः जैसे पाषाणादि ब्रह्म की जडशक्ति हैं वैसे ही जीव परमात्मा की चेतनशक्ति है।

जीव भी वस्तुतः निरवयव है।[2] जीवादि की जो उत्पत्ति कही गई है, वह भी गौण है।[3] प्रधानादि की भी उत्पत्ति गौण ही है। सद्वस्तु की उत्पत्ति गौण ही समझी जानी चाहिए। जो सच है मुख्यरूप में उसकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। सृष्टि-प्रक्रिया आदि में किसी जीव या देवता का मुख्य योग दान नहीं है। ये सभी परतन्त्र हैं। ब्रह्म ही वास्तविक कर्ता है।[4] जीवादि की उत्पत्ति केवल अभिव्यक्तिरूपिणी है, इसीलिए गौणी कही जाती है। जीव भी ज्ञस्वरूप है, अर्थात् पूर्वानुभूत वस्तुओं का स्मरण करनेवाला है। उसे भी अनुभव और स्मृतियों का आलम्बन है। अन्यथा उसकी स्तनपानादि की प्रवृत्ति अनुपपन्न हो जायगी।[5] वह ब्रह्म के सरूप अवश्य है किन्तु फिर भी बिल्कुल ब्रह्मस्वरूप या ब्रह्म ही नहीं है।

जीव भी विभु है। उसमें अणुत्व का व्यपदेश केवल औपाधिक है। क्योंकि श्रुतियों में स्पष्ट उपदेश है कि 'स चानन्त्याय कल्पते सवा एषमहानज आत्मा योऽयविज्ञानमयः प्राणेषु'।[6] जीवोपाधि बुद्धि[7] ही कार्यावस्था के कारण परिच्छिन्नपरिणामवाली है अतः वही अणु है न कि जीव। वह तो निर्गुण है

---

१. यथा हि ब्रह्मणःपाषाणादिरूपत्वं नोपपद्यतेजडाजडत्वादिवैधर्म्यात् एवं जीवरूपत्वमपि नोपपद्यतेसर्वज्ञत्वाज्ञत्वसंसारादिवैधर्म्यादिति।
—वि० भा० पृ० २९१

२. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० २९३

३. अतो जीवोत्पत्तिर्गौणी नान्तःकरणस्येतिविभागः।—वि०भा०पृ० ३४७

४. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ३३१

५. अतएव नित्यत्वादेव जीवो ज्ञ पूर्वानुभूतस्मर्ताभवति अनित्यत्वेहि पूर्वाननुभूतं स्तनपानेष्टसाधनत्वादिकं जातमात्रःस्मर्तुं नशक्नोति।—वि० भा० पृ० ३३८

६. वि० भा० पृ० ३४३ पर उद्धृत

७. कार्योपाधिरयं जीवः इत्यादि श्रुतिस्तु जीवोपाधेरन्तःकरणस्य कार्यकारणोभयरूपत्वादुपपद्यते जीवेषु कार्यावस्थोपाधिधर्माणामेव दर्शनाच्च।
—वि० भा० पृ० ३४७

उसमें परिच्छेद असंभव है, अतः उसमें श्रुतियों के वल पर विभुत्व ही माना जा सकता है अणुत्व या मध्यमपरिमाणवत्व नहीं।

अब प्रश्न यह होता है कि जीव कर्ता है कि नहीं? इस प्रसंग के प्रसार के पूर्व कर्तृत्व की सम्यक् परिभाषा आचार्य ने दे रखी है कि कार्य को उत्पन्न करने वाले कृत्य का आश्रय होना ही कर्तृत्व हैं।[1] यदि जीव को कर्ता मानते हैं तो ब्रह्म का सर्व-कर्तृत्व नष्ट होता है। यदि जीव को कर्ता नहीं मानते तो वह जडवत् हो गया और तद्गत-सुखादि के कारण ब्रह्म में वैषम्य और नैर्घृण्य की प्रसक्ति होगी। ऐसी विचिकित्सा में सकल पूर्वपक्षों को अपास्त करके सिद्धान्त रूप में आचार्य विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि स्व-व्यापारों में जीव भी कर्ता होता है। बिना जीवकर्म के माने हुए यज्ञविधियों में अनुष्ठानलक्षण वाला प्रामाण्य असिद्ध हो जाता है। साथ ही ब्रह्म में वैषम्यनैर्घृण्यादि की प्रसक्ति होती है।[2] इन सब बातों से जीव और ईश्वर दोनों कर्ता हैं। अन्तर यह है कि जीव अदृष्ट के द्वारा ही महदादिकों में संयोगमात्र से कर्ता होता है जब कि ईश्वर साक्षात् कार्य करके ही सर्वकर्ता कहलाता है।[3] ईश्वर सर्वकर्मकारयिता भी है।[4]

तो क्या फिर जीव में वास्तविक कर्तृत्वगुण है? यदि ऐसा है तो जीव का शुद्धस्वरूप निर्गुण कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि जीव में जिस प्रकार चिन्मात्रता नित्य है उस प्रकार से कर्तृत्व नहीं है। जीव का कर्तृत्व यावद्द्रव्यभावि और नित्य नहीं है।[5] वह केवल औपाधिक हैं, बुद्धिरूपीउपाधिकृत ही है।[6] ईश्वर का कर्तृत्व भी औपाधिक ही है। जीव में कर्तृत्वादि परमेश्वर से ही प्राप्त हैं स्वतन्त्र नही जैसे कि घोड़े की विविध चालें घुड़सवार से प्रेरित होती हैं।[7]

---

१. कर्तृत्वं चात्र कार्यजनककृत्याश्रयत्वम्।—वि० भा० पृ० ३५०
२. द्रष्टव्य, वे० सू०
३. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ३५२
४. अतः ईश्वरः कर्त्तापि कारयितापि भवतीति सिद्धम्।—वि० भा० पृ० ३५८
५. यथा जीवस्याग्न्यौष्ण्यवच्चैतन्यं नियतं यावद्द्रव्यभावि नैवं कर्तृत्व भवति इत्यर्थः॥—वि० भा० पृ० ३५३
६. एवं जीवो बुद्धिकर्तृत्वादेवोपाधिवशात् कर्ता स्वतस्तु परमार्थतोऽकर्तेति। —वि० भा० पृ० ३५६
७. तज्जीवस्य कर्तृत्वादिकं परात्परमेश्वरादेव भवति न स्वातन्त्र्येणअश्वस्य विविधसञ्चार इवाश्वारोहात्।—वि० भा० पृ०

तो क्या जीव घुड़सवार से सम्बन्धित घोड़े की भाँति ब्रह्म के परतन्त्र ही है? इसका उत्तर यह है कि ईश्वर, जीवकृतशुभाशुभसापेक्ष हो कर ही उससे शुभाशुभ करवाता है।[1]

विज्ञानभिक्षु ब्रह्म और जीव के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रसङ्ग में अन्य वेदान्तियों के दास-भाव, भक्त-भाव, प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद और आभासवाद आदि का खण्डन करते हैं[2] और 'आभास एव च' सूत्र से यह अर्थ लेते हैं कि जैसे, १–हेतु और हेत्वाभास दोनों सत् या वस्तुभूत हैं; दोनों का अस्तित्व है वैसे ही जीव भी आभास होने पर भी मिथ्या नहीं, अपितु ब्रह्म के ही समान सत्तावान् है। विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में इस सूत्र का एक अन्य अर्थ भी सम्भव है। आभास होने से तात्पर्य है 'भासमान होना'। इस दृष्टि से २—जीव भी ब्रह्म की भाँति आभासमान है, प्रकाशस्वरूप है चिन्मात्र है।[3] दोनों प्रकार से सूत्र का अर्थ ग्रहण करने पर एक बात निश्चित रूप से सिद्ध होती है कि जीव की सत्ता वास्तविक है।

---

१. कृतप्रयत्नपेक्ष एव जीवात्मा परमेश्वरात्कर्त्रादिरूपो भवति। ईश्वरो जीवकृतशुभाशुभसापेक्ष एवान्यत् शुभाशुभं कारयतीति।—वि० भा० पृ० ३५९

२. अत आधुनिकानामवच्छेदप्रतिबिम्बादिवादा अपसिद्धान्ता एव। स्वशास्त्रेऽनुक्तसन्दिग्धार्थेषु समानतन्त्रसिद्धान्तस्यैवसिद्धान्तत्वाच्चेत्यादिकं ब्रह्ममीमांसाभाष्ये प्रतिपादितमस्माभिः॥—सां० प्र० भा० पृ० ७४

३. आत्मा जीवः हेत्वाभास इवेत्यर्थः।—जीवानां च पारमार्थिकात्मत्वभावो 'जन्माद्यस्य यतः' 'इतिसूत्रे व्याख्यातः। अथवा जीवस्य किं स्वरूपमित्याकाङ्क्षायामाह—आभास एव च' स च जीवो ब्रह्मवदाभासमानः प्रकाशमानश्चिन्मात्र इत्यर्थः।—वि० भा० पृ० ३७४

# विज्ञानामृतभाष्य में प्रकृति का स्वरूप

आचार्य विज्ञानभिक्षु का प्रकृति और माया सम्बन्धी सिद्धान्त बड़ा ही अनोखा और विचित्र है। यह सिद्धान्त विज्ञानामृतभाष्य नाम के उनके वेदान्त-सूत्रभाष्य में विशद रूप से प्रतिपादित हुआ है। सांख्यमत में प्रकृति सत्त्वरजस्तमोमयी और जड़ मानी गई है। प्रकृति का यही स्वरूप न्यूनाधिक रूप में यद्यपि उन्हें भी अभीष्ट है परन्तु वे प्रकृति को स्वतंत्र नहीं मानते[1] अपितु परमेश्वर या परब्रह्म[1] की अन्तर्लीन शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। इस मान्यता के कारण यद्यपि वे रामानुज और निम्बार्क के बहुत निकट प्रतीत होते हैं परन्तु इन लोगों की भाँति वे प्रकृति को अविद्या या माया अथवा अक्षर नहीं मानते। उन्होंने माया नाम की अपरिणामिनी प्रकृति को सामान्यप्रकृति से भिन्न परमेश्वर की उपाधि रूप में स्वीकार किया है। शङ्कराचार्य की भाँति प्रकृति को माया और अविद्या कह कर उसे सर्वदा तुच्छ अथवा असत् अथवा अनिर्वचनीय मानने के वे तीव्र विरोधी हैं।

चिन्मात्र परमेश्वर शक्तिमान् है और सोपाधि भी। पुरुष और प्रकृति ये दोनों उसकी शक्तियाँ हैं और माया उसकी उपाधि। माया का अन्तर्भाव उन्होंने प्रकृति में ही बताया है। यद्यपि सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति है, फिर भी ब्रह्म की शक्ति होने के कारण अन्ततोगत्वा ब्रह्म ही सृष्टि का वास्तविक उपादान कारण है। इस प्रकार से सृष्टि का कारण बनने में प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है प्रत्युत ब्रह्म के परतन्त्र है। सांख्य-योग में प्रकृति पुरुषार्थ-सम्पादन के लिए स्वयं ही स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त हुई मानी जाती है। किन्तु विज्ञानभिक्षु ने प्रकृति-पुरुष के संयोग को परमेश्वर-कृत माना है।[2] इसीलिए पूरे भाष्य में उन्होंने अन्य सांख्ययोगाचार्यों के प्रकृति-स्वातन्त्र्य-सिद्धान्त का प्रबल प्रत्याख्यान किया है।[3]

---

१. दृष्टान्ताच्च प्रधानं न स्वतन्त्रम्।—वि० भा० पृ० २४५
२. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ३४
३. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ३०१

सृष्टि के पूर्व यह प्रकृति परमेश्वर में गर्तस्थमृतसर्पवत् विलीन रहती है।[1] यह स्मरणीय है कि जीव-चैतन्य यद्यपि परमेश्वर-चैतन्य के अंश हैं लेकिन जीवोपाधि परमेश्वरोपाधिभूतमाया का अंश नहीं है।[2] जीवोपाधि सामान्यप्रकृति से बनती हैं। अतः दोनों अलग स्वभाववाली वस्तुएँ हैं। जीवोपाधि क्लेशादि-वासनाओं से मलिन होती है जब कि परमेश्वरोपाधि विशुद्धसत्त्वा होती है। परमेश्वरोपाधि में नित्येच्छाज्ञानसंकल्पादि ऐश्वर्य होते हैं। सृष्टि के निमित्त-कारण बनने में परमेश्वर की उपाधि या माया ही मूल है। विज्ञानभिक्षु ने माया शब्द को परमेश्वरोपाधिरूपप्रकृति के अर्थ में ही रूढ़ माना है। जीवोपाधिभूत प्रकृति तथा जड़ात्मकप्रकृति उनकी दृष्टि में माया शब्द से अवाच्य है। इस प्रकार से प्रकृति व्यापक और माया संकुचित अर्थ में प्रयोग करने योग्य शब्द हैं। माया और प्रकृति में इस प्रकार की भेद-व्यवस्था का मूल स्रोत विज्ञान-भिक्षु को कदाचित् गीता की इस पंक्ति में समुपलब्ध हुआ होगा—

'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।'
—श्रीमद्भगवद्गीता अ० ४ श्लो० ६॥

## प्रकृति और अविद्या

शङ्कराचार्यादि अखण्डाद्वैतवादियों के अविद्या-सिद्धान्त का उन्होंने भलो-भाँति खण्डन किया है और स्पष्ट किया है कि अविद्या या अज्ञान न प्रकृति के पर्यायवाची हैं और न माया के समानार्थक। अतः अविद्या जगत् का कारण नहीं मानी जा सकती है। इस खण्डन[3] के सिलसिले में उनका कथन है कि यदि अविद्या संसारकारण हो तो एक व्यक्ति की अविद्या के नाश होने से जगत्कारण का नाश और इसीलिए सारे जगत् प्रपञ्च का नाश हो जाना चाहिए। तब जीवन्मुक्ति की दशा भी सम्भव न होगी। यदि जीवन्मुक्ति की दशा में अविद्या का अस्तित्व लेशमात्र भी स्वीकार करें तो ज्ञान और अज्ञान का सह-अस्तित्व सर्वथा असम्भव है। अतः अविद्या जगत्कारण नहीं हो सकती। इसलिए न तो प्रकृति को और न माया को ही 'अविद्या' कहा जा सकता है। वस्तुतः अविद्या पुरुष-भेद से भिन्न प्रकार का भ्रान्तज्ञान है जिसका लक्षण यथार्थ रूप में

१. विरतव्यापारतया कारणरूपेण गर्तस्थमृतसर्पवद् विलीनमासीदित्यर्थः।
—वि० भा० पृ० ३६

२. न चेश्वरोपाधेरंशो जीवोपाधिरीश्वरस्यापि तद्द्वाराभवन्मते संसार-प्रसंगात्।—वि० भा० पृ० ५२-५३

३. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ८२

योगसूत्रकार ने दिया है अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।[1] वेदान्त में अविद्या का यह स्वरूप मानना विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में केवल बौद्धों के कुप्रभाव का ही द्योतक है[2] 'प्रकृति' और 'प्रधान' शब्द पर्यायवाची हैं। सृष्टि और स्थिति की दशा में प्रकृति नाना आकृतिवाले कार्यों में परिणत होती रहती है। अतः उस समय उसे व्यक्त कहा जाता है। सृष्टि के पूर्व या प्रलय दशा में निर्व्यापार और परमात्मा में गर्तस्थमृतसर्पवद्अन्तर्हित रहने के कारण[3] प्रकृति को अव्यक्त कहा जा सकता है।

## प्रकृति की सत्ता

अब तक के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रकृति वस्तुतः परमेश्वर की जगज्जन्मादिनिर्वाहिका शक्ति है। इस शक्ति के बिना निर्विकार एवं निर्गुणब्रह्म की उपादानता और निमित्तता या अधिष्ठानता असम्भव है।[4] प्रकृति का अस्तित्व ऊर्णनाभ के शरीर के अस्तित्व के समान है। प्रकृति सूक्ष्म है और विशाल जगत्प्रपंच उसी का स्थूल रूप है। घुले मिले हुए सैन्धवनमक से युक्त समुद्र-जल में जैसे द्वैतापत्ति नहीं होती वैसे ही साम्यावस्थोपलक्षित प्रकृति नामक शक्ति से युक्त शक्तिमान् परमेश्वर में भी द्वैतापत्ति नहीं है उसकी अद्वैतता अक्षुण्ण है।[5] इस प्रकृति का अत्यन्तोच्छेद कभी नहीं होता लय भले ही हुआ करे। लय का अर्थ नाश नहीं है अपितु लीन होना है अर्थात् अविभक्ततया अव्यक्त और निर्व्यापार दशा में रहना है। प्रकृति का विश्वरूप में अवभासित होने का स्वभाव भी प्रलय की दशा में अक्षुण्ण रहता है।[6] प्रकृति और जगत्प्रपंच को अत्यन्त तुच्छ या

१. द्रष्टव्य, यो० सू० २। ५।
२. नेदं व्यासदर्शनमपि तु सप्तमं प्रच्छन्नबौद्धदर्शनमेवेति ।—वि० भा० पृ० ८५
एतेन वेदान्तेषु प्रपञ्चस्यात्यन्ततुच्छत्ववादोऽप्रामाणिक इति मन्तव्यम् ।
—वि० भा० पृ० ३१४
३. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ९६
४. ब्रह्मणश्च जगत्कर्तृत्वं स्वोपाधिमायोपाधिकं परिणामित्वरूपोपादानत्वं च प्रकृतितत्कार्याद्यौपाधिकमपीष्यत एव ।—वि० भा० पृ० ३४
५. तथा च विलीनावस्थसैन्धवेन समुद्रस्येव साम्यावस्थारूपेणप्रधानादिनापि ब्रह्मणो न द्वैतं किं त्वैक्यमेव समुद्रसैन्धवयोरिवेति भावः ।—वि० भा० पृ० २४१
६. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ९७

असत् माननेवाले शङ्कराचार्य प्रभृति दार्शनिकों की भर्त्सना में गीता[1] का भी उन्होंने आश्रय लिया है और स्वयम् भी पर्याप्तमुखर रहे हैं ।[2] प्रकृति को उन्होंने नित्यपरिणामिनी सिद्ध किया है । इस प्रकार की नित्यता के स्वरूप की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि यह नित्यता व्यावहारिक है परमेश्वर की भाँति पारमार्थिक नहीं, अपितु अर्थक्रियाकारित्वशीलतारूप की है ।[3]

## प्रकृति के रूपों का वर्गीकरण

प्रकृति के सत्त्वादिगुण यद्यपि वस्तुतः रूपादिहीन हैं फिर भी उनसे राग-प्रकाशावरणरूपता की प्राप्ति के लिए उनमें लोहितशुक्लकृष्णरूप कल्पित कर लिए गए हैं । ये तीनों गुण ही समवेत रूप में प्रकृति अथवा प्रधान नाम से अभिहित किए जाते हैं । इस प्रकृति के मुख्य भेदों का वर्गीकरण इस प्रकार से किया जा सकता है—

### १. माया

नित्यशुद्ध केवलसत्त्वांशमयी प्रकृति नित्यज्ञान, नित्येच्छा एवं नित्यानन्द युक्त रूप में ईश्वरोपाधि कहलाती है ।[4] इसी का नाम माया है । इसी को कारणसत्त्व भी कहते हैं । वह ईश्वरके संकल्पादि की आधारभूत और अन्तरङ्ग होती है । सामान्यप्रकृति परिणामिनी होतो है जब कि माया अपरिणामिनी है । कदाचित् इसी वैधर्म्य के कारण विष्णुपुराण में माया को प्रकृति से भिन्न एक अलग तत्त्व स्वीकार किया गया है । विज्ञानभिक्षु ने इस मान्यता के प्रति अपना वैरस्य प्रकट करते हुए कहा है कि माया और सामान्य प्रकृति में एक प्रमुख साधर्म्य भी है वह है जडत्व या अचेतनता । इस साधर्म्य के कारण हम माया को प्रकृति के अन्तर्गत प्रविष्ट कर सकते हैं ।[5]

---

१. असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम् । गीता १६।८
२. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० १०५
३. प्रधानेऽर्थक्रियाकारित्वरूपव्यावहारिकसत्वस्यैवास्माकमिष्टत्वात् ।
—वि० भा० पृ० २४३
४. केवलं नित्यज्ञानेच्छानन्दादिमत्सदैकरूपकारणसत्त्वमेवतस्योपाधिः ।
—वि० भा० पृ० १३०
५. ईश्वरोपाधेरपरिणामित्वेऽपि जडत्वसाधर्म्येण प्रकृतिमध्ये प्रवेश सम्भावाच्चेति ।—वि० भा० पृ० १२७

## २. जीवोपाधि

प्रकृति जब मलिनसत्त्वविशेषणरूप अपने अवयवों से पुरुष संयोग के द्वारा महत्तत्त्व के रूप में परिणत होती है तो जीवोपाधि कहलाती है। यह परिणामिनी होती है।[1]

## ३. जडजगत्

उसी प्रकृति के तमोबहुल अंशों से स्वकीयपरिणामधारा के फलस्वरूप सकल जडजगत् विकसित होता रहता है। यही प्रकृति का तीसरा रूप है। इस रूप में भी प्रकृति परिणामिनी ही है[2]।

---

१. सैव च प्रकृतिर्मलिनसत्त्वविशेषरूपैरंशान्तरैरजस्तमःसम्भिन्नैः पुरुषसंयोगेन महत्तत्वरूपतः परिणता सती जीवोपाधिर्भवति।—वि० भा० पृ० २६२

२. ततोऽपि निकृष्टैरंशान्तरैःसर्वमन्यद्विकारजातमुत्पादयतीति।—वि० भा० पृ० २६२

# जगत्प्रपञ्च

जगत्प्रपंच की वास्तविक सत्ता के सम्बन्ध में आचार्य विज्ञानभिक्षु को पूर्ण विश्वास है। जगत्प्रपञ्च 'नाम' और 'रूप' से व्याकृत होकर दृश्यमान हो रहा है। यह चेतन और अचेतन दोनों से युक्त है। जगत् के सकल व्यापार देश, काल और संस्थान की दृष्टि से प्रतिनियत हैं। जगत् की आदि, मध्य अथवा अन्त, प्रत्येक दशा सुनिश्चित रीति से उपस्थित होती है, उसमें किसी प्रकार की यदृच्छा अथवा अनृतता नहीं है। सब कुछ पूर्णतया सुश्लिष्ट है। ऐसे विपुल एवं विशाल जगत् की रचना का प्रकार इतना विचित्र दुर्गम एवं जटिल है कि आचार्य ने साफ़ शब्दों में जगत् को अचिन्त्यरचनात्मक कहा है। यह जगत् उत्पन्न होता है, स्थित होता है, वृद्धि प्राप्त करता है, विपरिणत होता है, क्षीण होता है और नष्ट होता है। उत्पत्ति इत्यादि छहों धर्म इस जगतत्प्रपंच में पाए जाते हैं। जो बारी-बारी से इस धर्मी में बताए जाते हैं। चाहे इन छः रूपों में से जिस अवस्था में यह रहे, रहता यह ज़रूर है। इसका आत्यन्तिक नाश असम्भव है। इसकी सत्ता सार्वकालिक है।

## नित्यता की सिद्धि

इसकी सार्वकालिक सत्ता को तर्क से पुष्ट करते हुए विज्ञानभिक्षु ने कहा है कि वेदान्तसूत्रकार को भी यही मत अभीष्ट है अन्यथा 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र का रूप 'एतद्यतः' ही होता। अव्यक्त रूप से जगत् नित्य है।[1] संसार को अनित्य माननेवाले वेदान्तियों को विज्ञानभिक्षु ने बौद्ध-प्रभेद ही कहा है।[2] पद्मपुराणकृत निन्दा का भी उन्होंने उल्लेख किया है। 'असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्' इत्यादि गीतावाक्य का भी उन्होंने प्रमाण उपस्थित किया है। और इतना ही नहीं, यह भी तर्क उन्होंने दिया है कि बन्धमोक्ष इत्यादि सब मिथ्या होने पर

---

१. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ३१-३२

२. ते तु बौद्धप्रभेदा एव मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव वेत्यादि-पद्मपुराणादिवाक्यात्..........कि च बन्धमोक्षादिकं सर्वं मिथ्येति वेदान्ता आहुरिति गुरुमुखादापाततः श्रवणादेवाकृतसाक्षात्कारस्यापि शिष्यस्य सर्वत्रैवानाश्वासात् श्रवणमननादौ साक्षात्काराय प्रवृत्तिरेव न स्याद्।—वि० भा० पृ० १०५

श्रवण-मनन और निदिध्यासन इत्यादि के लिए कभी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। 'सर्वम् अनित्यम्' मानने वालों के पास सत् प्रमाण भी नहीं हो सकते जिनके बल पर वे संसार को अनित्य सिद्ध कर सकें। विज्ञानभिक्षु का कहना है कि जगत् सृष्टि-दशा में व्यज्यमान, स्थिति दशा में व्यक्त और प्रलय दशा में अव्यक्त रहता है। उसकी अत्यन्त असत्ता कभी नहीं मानी जा सकती। जगत् को स्वप्नमायागन्धर्वनगर की भाँति माननेवालों को प्रमाणप्रमेयव्यवहार का अभिमान करना उनकी दृष्टि में सर्वथा तिरस्करणीय तथा धिक्करणीय है। सत्कार्यवादी निष्ठा ने उन्हें जगत् को नित्य मानने के लिए विवश कर दिया है।[1]

पहले के प्रकरणों में प्रकट किया जा चुका है कि जीव की सृष्टि ब्रह्म से वैसी ही समझनी चाहिए जैसी अग्नि से स्फुलिङ्गों की। इस बात को तथा जड़ पदार्थों की सृष्टि को व्यापक रीति से निर्दिष्ट करने के लिए सम्पूर्ण संसार की सृष्टि तथा उसका क्रम प्रस्तुत करना अधिक वांछनीय होगा। आचार्य विज्ञानभिक्षु की शैली स्पष्टतः सारी बातों को इकट्ठी कहने की है और कभी-कभी एक नहीं अनेक स्थानों पर उसी बात को दुहराने की भी प्रवृत्ति रहती हैं। जिस बात पर उनका विश्वास है चाहे कितनी ही विरोधपूर्ण बात क्यों न हो उसे वे डंके की चोट कहते हैं। कोई बात दबी ज़बान कहनी उन्हें पसन्द नहीं। अतः दूसरे अध्याय के चौथे पाद में 'अणुश्च' । १३ । सूत्रभाष्य करते समय इस प्रकार से उन्होंने सृष्टिक्रम निरूपित किया है[2]—

सकल सृष्टि का अधिष्ठान ईश्वर या ब्रह्म है। पुरुष और प्रकृति दोनों ब्रह्म की अन्तर्लीन शक्तियाँ हैं। पुरुष से उपष्टब्ध हो कर प्रकृति ईश्वर में अधिष्ठित रहती हुई अव्यक्तता से व्यक्तता की ओर उन्मुख होती है तो उस समय महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। सृष्टिक्रम में सर्वप्रथम उत्पत्ति महत् की ही होती है। इस महत् का स्वरूप दो प्रकार का है। इस महत् की क्रियातमक शक्ति का नाम प्राण और इसकी अध्यवसायात्मक शक्ति का नाम बुद्धि है। प्राण में प्रकृति का धर्म [क्रिया रूप] और बुद्धि में पुरुष का धर्म [चेतनता-रूप] अधिक उद्भूत प्रतीत होता है। इन दोनों में भी प्रथम प्राणवृत्ति की ही उत्पत्ति हुई है[3]। इसके बाद जैसे अंकुर वृक्षरूपता को प्राप्त करने लगता है उसी प्रकार महत्त्व से

---

१. वि० भा० पृ० १०३

२. तदयं सकलश्रुतिस्मृतिसांख्ययोगैकवाक्यतया महाभूतपर्यन्तायाः सृष्टेः क्रमः कथ्यते।—वि० भा० पृ० ४०१–४०२

३. तयोर्मध्ये प्रथमं प्राणवृत्तिरुत्पद्यते॥—वि० भा० पृ० ४०१

अहङ्कार रूपी अन्तःकरण की वृत्ति-विशेष उत्पन्न होती है। उससे उसी प्रकार से मन और मन के बाद इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। और उसके बाद अहङ्कार से ही इन्द्रियों की ही भाँति परस्परकार्यकारणभावा-रहित पाँचों तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं।[1] इन तन्मात्राओं को सूक्ष्मतर भूत समझना चाहिए। और इन पाँचों तन्मात्राओं से स्थूलमहाभूतों के सूक्ष्म परमाणु उत्पन्न होते हैं। इसके पश्चात् तैत्तिरीय और छान्दोग्योपनिषद् में बताए गए क्रम से—प्रथमतः आकाश, फिर उससे वायु, उससे अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुए—पाँचों स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति हुई। उसके बाद छान्दोग्योपनिषदिष्ट रीति से त्रिवृत्करण के द्वारा ब्रह्माण्डादि की सृष्टि हुई। आधुनिकाद्वैतवेदान्तियों के द्वारा माना गया पंचीकरण का सिद्धान्त विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में ब्रह्माण्डादि-सृष्टि के सम्बन्ध में सर्वथा त्याज्य एवं दूषित है क्योंकि अपञ्चीकृत महाभूतों से ही ब्रह्माण्डादि की सृष्टि सम्भव है। श्रुतियों और स्मृतियों में पञ्चीकरणप्रक्रिया का कोई उल्लेख भी नहीं मिलता है। इसलिए उनका कहना है कि पञ्चीकरण-प्रक्रिया की व्यवस्था सर्वथा अप्रामाणिक और सव्यभिचार है। उदाहरण के लिए सुवर्णादिक तैजस पदार्थों में अथवा तैलादि पार्थिवपदार्थों में क्रमशः पृथ्वी और जलादि की मात्रा, अन्य भूतों की मात्रा की तुलना में अतिशय अधिक देखने को मिलती है[2]। वस्तुतः ब्रह्माण्डादि सृष्टि-पदार्थों में मुख्यतः त्रिवृत्करण ही होता है। सामान्यतः उपलब्धि पाँचों महाभूतों की हो जाया करती है। इसलिए वस्तुएँ पाञ्चभौतिक होती हैं। त्रिवृत्करण मुख्य प्रक्रिया है। गौण सन्निवेश अन्य दो भूतों का भी हो जाता है। यदि इस अर्थ में पञ्चीकरण का प्रयोग किया जाय तो त्रिवृत्करण के द्वारा अतिदेश करके यह प्रयोग ग्रहण किया जा सकता है। उन वेदान्तिब्रुवों की विशिष्ट व्यवस्थावाले पञ्चीकरण के लिए तो सृष्टि प्रक्रिया में कोई गुंजायश नहीं है। वह एक असमीचीन मान्यता है।[3]

पुराण-परायण आचार्यविज्ञानभिक्षु ने सृष्टिक्रम के परिवर्तनों को भी मानने की इच्छा प्रकट की है कि अन्य स्मृतियों में यदि यह क्रम व्युत्क्रान्त बताया गया हो तो उसे कल्पभेद के द्वारा समाधेय समझना चाहिए।[4] इस

१. तत इन्द्रियवदन्योऽन्यकार्यकारणभावरहितानि तदनन्तरं पंचतन्मात्राणि सूक्ष्मतरभूतानि।—वि० भा० पृ० ४०२

२. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ४०९

३. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ४०९

४. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ४०३

प्रकृति और पुरुष के संयोग को करनेवाला ईश्वर है। सांख्याचार्यों के मत की भाँति केवल अयस्कान्त और लौह-सदृश प्रकृति पुरुष का संयोग नहीं हुआ करता।[1]

क्या चिन्मात्र पुरुष में भी संयोग-क्रिया सम्भव है? इसका उत्तर आचार्य ने इस प्रकार दिया है कि ईश्वर अथवा परब्रह्मकृत। प्रकृति-पुरुष-संयोग सर्वथा सम्भव है क्योंकि प्रकृति गुणत्रयरूप है अतः परिच्छिन्नगुणांशों से उसमें क्षोभ सम्भव है और पुरुष की उपाधि की स्थिति के कारण उसमें भी संयोग हो सकता है। अतः सृष्टि-व्यवस्था सर्वथा उपपन्न है।[2]

इस जगत्प्रपंच की सृष्टि में ब्रह्मसाक्षित्वमात्र से अथवा अधिष्ठान रूप से कारण है। उपादान रूप में ब्रह्म में अन्तर्लीन प्रकृति नाम की शक्ति ही जगत्प्रपंच का कारण बनती है। सृष्टि-काल में सारे प्रपञ्च उसी ब्रह्म से ही विभक्त होकर स्थित होते हैं और प्रलय-काल में सकल प्रपंच उसी में अविभक्त होकर अव्यक्त दशा में रहते हैं। यह अव्यक्तदशावाली प्रकृति उस दशा में निर्व्यापार होने के कारण गर्तस्थमृतसर्पवत् करणाकारणविविक्त चिन्मात्र ब्रह्म में अन्तर्हित है। प्रलयकाल में जडवर्ग प्रकृतिदशापन्न हो जाता है और चिन्मय अंश पुरुष-रूप रहता है। दोनों प्रकार का जडजङ्गमजगत् प्रलयकाल में ब्रह्म में अविभक्त होकर अवस्थित रहता है। लय प्रलय, या अत्यन्तोच्छेद या नाश नहीं है अपितु विकारों का अपनी प्रकृति में अव्यक्त रूप से अवस्थित रहना ही लय कहलाता है।[3] यहाँ तक कि ब्रह्म का विश्व के रूप में अवभासित होनेवाला व्यापार भी अव्यक्त रूप से प्रलयकाल में ब्रह्म में अवश्य उपस्थित रहता है।[4]

---

१. प्रकृतिस्वातन्त्र्यवादिभ्यां सांख्ययोगिभ्याम् पुरुषार्थप्रयुक्ता प्रवृत्तिः स्वयमेव पुरुषेण आद्यजीवेन संयुज्यते इत्यभ्युपगम्यते अयस्कान्तेन लोहवत्। अस्माभिस्तु प्रकृतिपुरुषसंयोग ईश्वरेण क्रियत इत्यभ्युपगम्यते।
—वि० भा० पृ० ३४

२. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ३५

३. अत्र लयो नात्यन्तोच्छेदः किंतु विकाराणां प्रकृताव्यक्ततयावस्थानं प्रकृतिपुरुषयोश्च ब्रह्मणि सुषुप्तवन्निर्व्यापारतयावस्थानमिति बोध्यम्।
—वि० भा० पृ० ९६

४. ब्रह्मणो विश्वावभासनरूपव्यापारस्य प्रलयेऽपिसत्त्वात् ईश्वरोपाधेः विश्वाकारवृत्तेर्नित्यत्वात् इच्छाकृतिवत्।—वि० भा० पृ० ९६-९७

अब प्रश्न यह हो सकता है कि विश्वावभासनरूप व्यापार के स्थित रहने पर प्रलयदशा में ही सृष्टि क्यों नहीं होती रहती ? इसका सुन्दर एवं तर्कसंगत उत्तर यह है कि इस व्यापार के उपस्थित रहने पर भी चूंकि उस समय प्रकृति और पुरुष नाम्नी शक्तियाँ सृष्टि आदि लक्षण वाले स्वकार्यों से उपरत होकर सोती सी स्थित रहती हैं अतः पुरुषार्थक्रियाकारिता का उस समय अभाव होता है। फलतः उस समय सृष्टयादि नहीं होती है।[१]

सृष्टि में कोई नई वस्तु उत्पन्न नहीं होती अपितु आचार्य विज्ञानभिक्षु की अर्थपरम्परा में अनभिव्यक्त अथवा अव्यक्त दशा में स्थित वस्तुएँ अभिव्यक्त या व्यक्त होती हैं। सत्कार्यवाद की ही पूर्ण स्थापना यहाँ पर की गयी है।[२] न तो प्रलयदशा में किसी वस्तु का अत्यन्त उच्छेद ही होता है बल्कि अभिव्यक्त विकार अव्यक्तावस्था को प्राप्त करते हैं। एक बात इस प्रसंग में अवश्य स्मरणीय है कि इन विकारों की विकार दशा के परिणमित होते रहने के कारण इनकी सत्ता कूटस्थ नित्य ब्रह्म की सत्ता के समान नहीं है। उस तुलना में जगत्प्रपञ्च की सत्ता शाश्वतिक होने पर भी कूटस्थ नित्य नहीं और न तो माया या गन्धर्व नगर के समान प्रातिभासिक ही है। इसको हम परिणामिनित्यता कह सकते हैं।[३] अतः उत्कृष्ट पारमार्थिक सत्ता केवल ब्रह्म की ही है प्रकृति और उसके विकारों की सत्ता उस रूप की नहीं है।

## परिणामवाद

प्रकृति परिणामिनी है। वही नाना विकारों में परिणत होती रहती है। सारी सृष्टि प्रकृति के विचित्र परिणामों का मेला या प्रदर्शिनी है। आचार्य विज्ञान-भिक्षु ने सृष्टि की कारणता में परिणामिनी प्रकृति को ही प्रधानता दी है अतः परिणामवाद के समर्थकों में ही उनकी गणना की जायगी।[४] यह प्रकृति ईश्वरोपाधि नहीं है। हम पूर्ण प्रकरण में लिख आए हैं कि ईश्वरोपाधिभूतमाया अपरिणामिनी है। उससे सृष्टि सम्भव नहीं है। सृष्टि ईश्वर की अन्तर्लीन

---

१. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० १०८
२. एतेनसत्कार्यवादोऽप्युपपादितः सर्वेषां सदसद्रूपत्वात्।—वि० भा० पृ० १०४
३. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० १०२
४. ब्रह्मणः साक्षातपरिणामवादं विवर्तवादंच तत्रैव निराकरिष्यामः।
—वि० भा० पृ० ३३

शक्तिभूत परिणामिनी प्रकृति से ही संभव है। यह प्रकृति शुद्धसत्त्वा नहीं है, प्रत्युत रजस्तमोबहुला है। विज्ञानभिक्षु ने इस प्रकृति के दो रूप माने हैं, १—अल्पतमोगुणवाली, २—अधिकतमोगुणवाली। इन्हीं दोनों रूपों से पुरुष के सान्निध्यवशात् अल्पतमोगुणी और शुद्ध जडात्मक वस्तुओं का विशाल संसार उत्पन्न होता है और प्रलयकाल में उसी में अन्वित होकर पुनः ब्रह्म में लीन होता है।

अतः वर्गीकरण की भावना से देखने पर यह सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि विज्ञानभिक्षु न तो पुरातन आचार्य भर्तृप्रपंच आदि की भाँति ब्रह्मपरिणामवादी हैं और न शङ्कराचार्य की भाँति माया के विवर्त का राग अलापनेवाले हैं। ईश्वरोपाधिभूत माया को अपरिणामिनी मानने के कारण वे औपाधिकपरिणामवादी भी नहीं कहे जा सकते।

## भेदाभेदवाद

सब कुछ एक ही है या अलग-अलग अनेक है। यह एक ऐसी समस्या है जिसने संसार के सभी दार्शनिकों को विवश किया कि उसका समाधान करके ही वे दार्शनिक-व्याख्या-क्षेत्र में आगे कदम बढ़ावें। सांख्य, योग, बौद्ध, जैन, न्यायवैशेषिक तथा मीमांसा आदि दर्शनों ने तो नानात्व ही माना है। शङ्कराचार्य ने सब कुछ दृश्यमान जगत् को एक वास्तविक तत्त्व के अन्तर्गत मान कर अपना मतवाद उपस्थित किया है। अन्य अद्वैत वेदान्तधाराओं ने भी अपने-अपने ढंग से एकता या अद्वैतता प्रतिपादित करने की चेष्टा की है। इस प्रकार किसी ने दृश्यमान जगत् को मिथ्या-प्रपञ्च कहकर उसे चरमतत्त्व का केवल विवर्त या अस्थायो विलास माना है किसी ने एक महान् तत्त्व के पराधीन सब कुछ स्थित बताया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु को ये सभी सिद्धान्त भ्रान्त प्रतीत हुए अतः उन्होंने भर्तृप्रपञ्च, भास्कराचार्य और निम्बार्क की दिशा में अपनी मान्यता को ढाला। विज्ञानभिक्षु ने इन तीनों आचार्यों के मतवादों से प्रकटतः मिलता-जुलता और वस्तुतः पर्याप्त भिन्न भेदाभेदवाद प्रस्तुत किया। इसी भेदाभेदवाद के बल पर उनका ऐक्य अथवा अद्वैत आधारित है।

ब्रह्म एक है। दृश्यमान सकल चराचर जगत् उससे भिन्न है, और अभिन्न भी। इस भेद का क्या स्वरूप है और इस अभेद का क्या लक्षण है। इसी एक ब्रह्म में अविभक्त रहकर ही उपादान कारण-भूत प्रकृति नाना रूपों में परिणत होती है। यह अविभक्तता कैसी है? विभाग का मूल रूप आचार्य विज्ञानभिक्षु के

अद्वैतदर्शन में किस प्रकार का है ? इन सब जिज्ञासाओं के शान्त होने पर इस 'भेदाभेदवाद' का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट किया जा सकता हैं। हम सबसे पहले अविभाग का लक्षण लेते हैं। आधारता-सम्बन्ध की ही भांति एक स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष जिसका रूप अत्यन्त-सम्मिश्रण हो—अविभाग कहलाता है।[1] इसी अविभाग के कारण 'दुग्ध एवं जलैक्य' की प्रतीत होती है। विकारिकारण से यदि उसके विकार समवाय-सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं तो उस कारण और कार्य में अविभाग-सम्बन्ध कहा जाता है। वैसे ही अधिष्ठानकारण से कार्य के विविक्त न होने पर (असम्मिश्रित न होने पर) भी दोनों में अविभाग-सम्बन्ध कहा जाता है। ब्रह्म अंशी है और पुरुष उसके अंश हैं, साथ ही प्रकृति भी उसकी अन्तर्लीन शक्ति है इसलिए पुरुष और प्रकृति का ब्रह्म से अविभाग-सम्बन्ध हुआ। यही सम्बन्ध अग्नि और स्फुलिङ्गों में रहता है। क्योंकि वे अवयवी और अवयव हैं। यह अविभाग ही अभेद है क्योंकि आचार्य विज्ञानभिक्षु का कथन है कि 'भिदि' धातु विदारणार्थक है इसलिए 'भिदि' धातु का अनुशासन विभाग में ही मानना चाहिए।[2]

इस प्रकार से भिन्नत्वप्रत्यय का नियामक विभाग या भेद हुआ और ऐक्य सम्मिश्रणरूप—आकाशवायुवत्, दुग्धजलवत् या लवणजलवत् प्रत्यय का नियामक अविभाग अथवा अभेद हुआ। शङ्कराचार्य आदि का कथन है कि अभेद सत्य है, भेद औपाधिक है। रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य आदि का मत है भेद-सत्य है किन्तु ब्रह्म के लीला-विलास से सब कुछ होता रहता है अतः भेद भी उसी के अधीन है अतः ब्रह्म का अद्वैतत्व अक्षुण्ण है। आचार्य विज्ञानभिक्षु का कथन है कि ब्रह्ममीमांसा में जीव-ब्रह्म के बीच अग्निविस्फुलिङ्गवद् अंशांशिभाव और अविभागलक्षण वाला ही अभेद प्रतिपादित किया गया है।[3] श्रुतियों ने भी 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' के द्वारा न केवल जीवों के साथ अपितु सकल जडवर्ग के साथ भी ब्रह्म का अविभागलक्षणाभेद ही प्रतिपादित किया है। अन्यथा अर्द्धजरतीय-न्याय का दोष उपस्थित होता।[4]

---

१. अथवा अस्तु अविभागः संयोगविशेषः, स्वरूपसम्बन्धो वा आधेयत्वादिवत्। जलस्योदधिलवणस्य समुद्र अविभागव्यवहारस्यापलपितुमशक्यत्वात्।—वि० भा० पृ० ५१

२. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ४०

३. द्रष्टव्य, वि० भा पृ० ४९

४. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ४७

जीव और ब्रह्म में अखण्डता अथवा प्रतिविम्बवाद, या अवच्छेदवाद या आभासवाद मानने का उन्होंने कड़ा विरोध किया है।[1] और वहीं दृढ़ता के साथ यह भी कहा है कि 'तस्माद्भेदाभेदाभ्यां जीवब्रह्मणोरंशांशिभावः एव ब्रह्ममीमांसा-सिद्धान्तोऽवधारणीयः।' इन अंशों और अंशी का परस्पर विभाग और अविभाग-कालभेद से सर्वथा सङ्गत है। और दोनों का परस्पर अन्योन्याभाव भी आत्यन्तिक समझना चाहिये[2]। शक्ति और शक्तिमान् का नित्य-अविभाग मानना ही चाहिये। दोनों में विभाग या भेद यद्यपि मिथ्या अथवा औपाधिक नहीं है फिर भी वह त्रैकालिक नहीं है। उत्पत्ति के पूर्व और मुक्ति के अनन्तर जीव ब्रह्म अंशांशिभाव से अविभक्त ही हैं। इसीलिए अभेद ही दोनों के बीच नित्य एवं सत्य सम्बन्ध है। यह अभेद ऐक्य अथवा अखण्डत्व से भिन्न अविभाग-लक्षण वाला ही है। इस प्रसङ्ग में किसी को यह शङ्का न करनी चाहिए कि विज्ञान-भिक्षु का मत अद्वैत ही नहीं है, क्योंकि अद्वैत का रूप उन्होंने नानात्व के सत्य होने पर भी सामान्यपरक या जातिपरक बताकर ही स्थापित किया है।

इस भेदाभेद को विज्ञानभिक्षु ने अद्वैत के सांचे में ढालना चाहा है। उनका भेदाभेदवाद अद्वैतवाद का वशवर्ती है इसीलिए उन्हें भेदाभेदवादी न कह कर अद्वैतवादी ही कहना चाहिये। इस अभिप्राय को उन्होंने एक स्थल पर इस प्रकार से स्पष्ट कर दिया है—'तस्मात् सिद्धौ जीवेश्वरयोरंशांशिभावेन भेदाभेदौ विभागाविभागरूपौ। तत्राप्यविभाग एव आद्यन्तयोरनुगतत्वात् स्वाभाविकत्वात् नित्यत्वाच्च सत्यः। विभागस्तु मध्ये स्वल्पावच्छेदेन नैमित्तिको विकारान्त-रवद्वाचारम्भणमात्रम् इति विशेषः। तदेवमात्माद्वैतम् व्याख्यातम्।'[3]

## मुक्ति का स्वरूप

मुक्ति को मनीषियों ने मानव का चरम पुरुषार्थ माना है। विज्ञानभिक्षु को अपने गुरु के द्वारा प्राप्त किए गए मुक्ति पद की तलाश अपने तथा अपने शिष्यों के लिए है। अतः श्रुतिस्मृतिन्यायवचन-रूपी क्षीरसागर का मन्थन करने से हस्तगत हुए ज्ञानामृत को वे विज्ञानामृतभाष्य के रूप में सभी सुबुद्धि मुमुक्षुओं में वितरित करते हैं।[4] इस भाष्य में उन्होंने मुक्ति के शुद्ध-स्वरूप, मुक्ति के प्रकार, उसके साधन तथा भक्ति और योग आदि पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

---

१. वि० भा० पृ० ५०
२. द्रष्टव्य वि० भा ०पृ० ५१, ३६२, ३६३, ३६४
३. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ६१
४. श्रुतिस्मृतिन्यायवचःक्षीराब्धिमथनोद्धृतम्।
ज्ञानामृतगुरोः प्रीत्यै सुदेवेभ्योनुदीयते॥ ३ ॥—वि० भा० पृ० १

पुरुषच्छायापन्न—महदादि के अव्यक्त में लीन हो जाने पर पुरुष को कैवल्य या मोक्ष हो जाता है। विकारविलय के द्वारा चिन्मात्र रूप से पुरुष का स्थित रहना ही मोक्ष है। जिन पुण्य-पापों के फलरूप कार्य आरम्भ नहीं होते उनका नाश सम्यग्ज्ञान से हो जाता है। और जिन पुण्य-पापों का फल प्रारम्भ हो जाता है उनका नाश केवल ज्ञान से नहीं होता। यौगिकविधियों से तुरन्त भोग अथवा जीवन्मुक्त के रूप में सामान्य रीति के भोग के द्वारा उनका क्षय करके ही पुरुष मुक्त हो सकता है। इस प्रकार से ज्ञान केवल संचित कर्मों तथा क्रियमाण कर्मों के फल को शान्त कर सकता है। प्रारब्ध कर्मों का नाश केवल ज्ञान से नहीं होता उसका नाश भोग के द्वारा ही सम्भव है—चाहे वह साधारण रीति से हो अथवा योगोक्तरीति से, सांख्य योग की चेतना से अनुप्राणित आचार्य-विज्ञानभिक्षु चूंकि ब्रह्म को आनन्दमय नहीं मानते, अतः मोक्ष-दशा में भी पुरुष को आनन्द-शून्य ही मानते हैं[1]। आनन्दमयता का उन्होंने प्रबल प्रतिरोध किया है। निर्गुण ब्रह्म को आनन्दगुणयुक्त बताना और मोक्ष को आनन्दविशिष्ट दशा मानना उनकी दृष्टि में सर्वथा असंगत है। आत्मा की चिन्मात्रता या चिन्मयस्वरूपता पर ही उनका एकमात्र आग्रह है।

## मुक्ति के भेद

विज्ञानभिक्षु ने दो प्रकार की मुक्ति मानी है। एक है सद्योमुक्ति और दूसरी क्रमिक मुक्ति।[2] वस्तुतः ये दोनों भेद मुक्ति के स्वरूप के भेद नहीं हैं अपितु मुक्तिलाभ होने में लगनेवाले समय के लिहाज से हैं। सद्योमुक्ति के सम्बन्ध में बताते हुए वे लिखते है कि निखिल-वेदान्तों के सारभूत तत्त्व 'स मे आत्मेति सोऽहम्।' का साक्षात्कार करने वाला शमदमादिसाधन सम्पन्नविद्वान् अर्थात् ब्रह्मज्ञानी अविद्या तथा तज्जन्य कामधर्माधर्म के क्षय हो जाने पर विमोक्ष का लाभ करता है उसके सारे दुःख सदा के लिए विगलित हो जाते हैं। 'न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति' ऐसी श्रुति है। यह उसकी सद्योमुक्ति कही जायगी।[3] यही परमामुक्ति या ऐहिक मुक्ति के नाम से भी वर्णित है।[4]

---

१. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ५७६

२. इति विस्तरेण विद्याफलं मोक्षद्वयमैहिकक्रमभुक्तिरूपं विचारणीयम्।
—वि० भा० पृ० ५६४

३. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ५२६

४. यथोक्तसाधनैर्निर्गुणब्रह्मविद्यापरिपाकवत ऐहिकी परममुक्तिर्विचारिता।
—वि० भा० पृ० ५७९

इसके अतिरिक्त प्रकार से भी कुछ साधकों को मुक्ति होती है। वह क्रममुक्ति के नाम से बताई गई है। उसका वर्णन करते हुए विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि जो साधक माया तथा जीवादि के अविवेक से शबल ब्रह्म की उपासना करता है और तन्निष्ठ हो जाता है। वह अर्चिरादि शुभ-मार्गों से सावरण वहिर्गमन करता हुआ कारणब्रह्म में रह कर हिरण्यगर्भादिकों का भी ईश्वर बन कर परमेश्वरेच्छा से उसके लीलावतार रूप अवतार आदि लेकर स्वेच्छा से वहीं क्रमशः मुक्ति लाभ करता है। अथवा कार्यब्रह्म के लोक को प्राप्त करके दो परार्ध के अन्त तक वहाँ ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादि के साथ भोग प्राप्त करता हुआ परिपक्व ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्मा-विष्णु रुद्रादि देवताओं के साथ क्रमिक मुक्ति का लाभ करता है। यदि यहाँ पर मुक्तिलाभ न कर सका तो अन्य सर्ग में ब्रह्मा-विष्णुआदि रूप से पुनराविर्भूत होता है जब तक कि धीरे-धीरे किसी न किसी सर्गान्त तक मुक्ति-लाभ नहीं कर लेता। ये स्थितियाँ क्रमिक मुक्ति की वैकल्पिक गतियाँ हैं।[1] इनका नाम सामूहिक रूप से क्रम मुक्ति या क्रमिक मुक्ति है। अन्य वैष्णववेदान्तियों के द्वारा मानी गई सायुज्यादि मुक्तियाँ इस क्रमिक मुक्ति के अन्तरङ्ग सोपान की ही दशाएँ हैं। वे आचार्य विज्ञानभिक्षु के मत में शुद्ध मुक्ति नहीं हैं।[2]

ब्रह्माविष्णुरुद्रादि देवताओं का ऐश्वर्य अनित्य है अतः उनको भी त्रिविध-तापों का एकान्तिक तथा आत्यन्तिक विनाश करने के लिए क्रम-मुक्ति का आश्रय लेना पड़ता है चूँकि वे पहले के कार्यब्रह्मोपासक साधक ही हैं अतः उन्हें प्राप्त होनेवाली मुक्ति क्रमिक मुक्ति के ही अन्तर्गत मानी जाती है।

## मुक्ति के साधन

यद्यपि ज्ञान को ही प्रधानतः मुक्ति का साधन आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भी बताया है किन्तु इस ज्ञान को योग के ढाँचे में ढाल कर ही मुक्ति के साधन के योग्य बनाया गया है। साक्षात्कार-ज्ञान होने के बाद ही साधक को असम्प्रज्ञात योग की सिद्ध होती है। असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा चित्त का विलय हो सकता है और तभी मोक्ष होता है। मोक्ष का प्रकृष्टसाधनभूत यह ज्ञान किस प्रकार से मोक्ष को आपादित करता है ? इस जिज्ञासा में आचार्य का स्पष्ट उद्घोष है कि 'तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है और अपूर्व उत्पन्न होता है। इस अपूर्व के द्वारा कर्मनिवृत्ति होती है। इस कर्मनिवृत्ति के द्वारा तथा तत्त्वज्ञान-

---

१. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ६२६

२. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० १३१–३३३

जन्यवैराग्य के द्वारा मुक्ति-लाभ होता है क्योंकि स्वयं विद्या या ज्ञान विना किसी द्वार के धर्माधर्म का नाश नहीं कर सकता।[1]

कभी-कभी परवैराग्य के उदय होने पर परतत्त्वज्ञानजन्य अपूर्व के माध्यम की आवश्यकता मुक्तिलाभ में नहीं भी होती, क्योंकि परवैराग्य कर्मानुत्पाद रूप दृष्ट-द्वार मात्र से ही मोक्ष-सम्पन्न कर देता है। इसमें यह विशेषता अवश्य होती है कि अपूर्व-रहित मार्ग से मोक्षलाभ में कुछ देर होती है। इस तत्त्व-ज्ञान से वे ही धर्म-अधर्म क्षयित होते हैं जिनका कार्य अथवा फल आरम्भ नहीं हुआ, प्रारब्धकर्मों का नाश केवल भोग से ही सम्भव है।[2]

चूंकि ब्रह्म ही एक तत्त्व है अतः उसी का साक्षात् ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान ही तत्त्वज्ञान है वही मुक्ति का हेतु बताया गया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु का कहना है कि चूंकि जीव और ब्रह्म में अभेद है अतः केवल जीवात्मा के ही तात्त्विक ज्ञान से भी मुक्ति समुपलब्ध हो सकती है। किन्तु दोनों मार्गों में ब्रह्मज्ञानजन्यमुक्ति वाला पथ ही अधिक श्रेयस्कर है। वही मुख्य-कल्प है जैसे केवल गोदान अधमकल्प तथा स्वर्णश्रृङ्ग-युक्तगोदान मुख्यकल्प है।[3]

उपर्युक्त निर्गुण ब्रह्मतत्त्वज्ञान से ऐहिकी मुक्ति होती है। सगुण ब्रह्म के कर्मोपासना वाले ज्ञान से क्रम मुक्ति का मार्गप्रशस्त होता है[4]। भक्तिभाव-उपासना कर्म आदि के द्वारा इष्टदेवनिष्ठ साधक अर्चिरादिमार्ग से अपने इष्ट-लोक में पूर्वोक्त रीति से पहुँचता और भोग करता है। जिस प्रकार का ज्ञान हुआ, उसी के अनुसार वहाँ भोग और निवास एवं क्रमिक मुक्ति सम्भव होती है।[5]

---

१. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ४८७
२. अनारब्धकार्ययोः पुण्यपापयोर्विद्यया नाश इत्युक्तम्। इतरे त्वारब्धफलके पुण्यपापे भोगेन क्षपयित्वा निरस्य ब्रह्म सम्पद्यते समुद्रे नदीववित। —वि० भा० पृ० ५७९
३. यथाप्रकृष्टं दानं स्वर्णश्रृङ्गादियुक्तगोदानं मुख्यः कल्पः केवलगोदानं चाधमः कल्पः एवमेव ब्रह्मज्ञानं मुख्यः कल्पः केवलजीवतत्त्वज्ञानं चाधमः कल्प इत्यर्थः, ब्रह्मज्ञाने जीवज्ञानस्याप्यन्तर्भावाद् दृष्टान्त-साम्यम्। —वि० भा० पृ० ५११
४. तथा च सगुणविद्यायाः ब्रह्मलोकप्राप्ति-पूर्वक-मोक्षत्वेन कार्यता। —वि० भा० पृ० ५१७
५. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ४९७-४९९

## ज्ञानकर्म और उपासना

सगुण ब्रह्म की उपासना करने से तत्त्वज्ञान की क्रमिक प्राप्ति तथा क्रम-मुक्ति-प्राप्ति में उपासना या भक्ति तथा कर्म की बड़ी उपयोगिता है। किन्तु परम-मुक्ति अथवा सद्योमुक्ति में वह बात नहीं है। वह तो निर्गुण-तत्त्वज्ञान से साक्षात् होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या सद्योमुक्ति में तत्त्वज्ञान कर्म-निरपेक्ष ही साधन है? अथवा कर्म और ज्ञान दोनों का समुच्चय सद्यो-मुक्ति का साधन है? या फिर कर्म प्रधान और तत्त्वज्ञान उसका अङ्गभूत हो कर सद्यो-मुक्ति सम्पादित करता है। इस विषय में वेदान्त की सभी प्रमुख शाखाओं में बड़ा मत-भेद है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने यहाँ पर भी अपनी समन्वयात्मक प्रवृत्ति का पुष्कल परिचय दिया है।

उनका कहना है कि अधिकारी के अवस्थाभेद से तीनों स्थितियाँ होती हैं। अधिकारी तीन प्रकार के होते हैं। १-योगारुरुक्षु २-युञ्जान और ३—योगारूढ़। प्रथम प्रकार की अवस्था में कर्म का अङ्गभूत तत्त्वज्ञान रहता है। द्वितीय अवस्था में ज्ञानकर्मसमुच्चय होता है। और बज-अधिकारी की तीसरी अवस्था आ जाती है तब ज्ञान प्रधान रूप से सद्यामुक्ति का साधन बन जाता है। मुक्ति-हेतु के रूप में तत्त्वज्ञान की स्वतन्त्रशक्ति रहती है। गरुडपुराण का उदाहरण भी वे देते हैं[1]—

'आरुरुक्षुयतीनां च कर्मज्ञाने उदाहृते। आरुढ़योगवृक्षाणां ज्ञानत्यागी परौ मतौ॥'

सच्ची परिस्थिति तो यह है कि कर्म का तत्त्वज्ञान से कोई विरोध भी तो नहीं है। कर्म का विरोध तो समाधि से है। ज्ञान के साथ तो केवल कर्माभिमान का विरोध है।[2] स्वाभाविक कर्म तो स्वतः होते रहते हैं। चूंकि मुक्ति-सिद्धि में तत्त्वज्ञान प्रधान है अतः वह बाहरी अग्नि एवम् इन्धनादि से निरपेक्ष ही स्वयं स्वतंत्र रूप से मोक्ष-रूप फल देता है।[3]

अन्ततोगत्वा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपनी सारी समन्वयात्मकता के होने पर भी आचार्य विज्ञानभिक्षु साधना की वास्तविक भूमि अर्थात् योगारूढ अवस्था में कर्मशेषत्व तथा कर्मसमुच्चय दोनों का खण्डन करते हैं और कर्म-निरपेक्ष ज्ञान को परममुक्ति का हेतु मानते हैं। सगुणोपासना यद्यपि क्रममुक्ति-लाभ में एक अनिवार्य सीढ़ी है, तथापि यह न समझना चाहिए कि जैसे निर्गुण

---

१. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ५२८-५२९

२. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ५३०-५३१

३. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ५४३

ब्रह्मज्ञान से सद्योमुक्ति हो जाती है वैसे ही सगुणोपासना से क्रममुक्ति प्राप्त होती है; इसलिए सगुणोपासना भी मोक्ष का हेतु है और इसीलिए सगुणोपासना तथा निर्गुणब्रह्मज्ञान दोनों का मोक्ष हेतु रूप से विकल्प है। विज्ञानभिक्षु स्पष्ट रूप से कहते हैं कि सगुणोपासना से ब्रह्मलोकादि की प्राप्ति तो हो सकती है और होती है। उन लोकों में भोगों की प्राप्ति भी होती है। सगुणोपासना का फल इन लोकों की प्राप्ति और भोग ही है मुक्ति नहीं।[1] मुक्ति के लिए निर्गुण-ब्रह्मज्ञान या जीवब्रह्माभेदरूपी निर्गुणतत्त्वज्ञान इन साधकों को उन लोकों में रह-कर भी प्राप्त करना ही होगा; तभी मुक्ति मिल सकती है; अन्यथा नहीं। भाँति-भाँति के ऐश्वर्य भले ही मिलें। इस प्रकार से क्रममुक्ति की प्राप्ति भी ज्ञान से ही होगी भले ही वह ज्ञान ब्रह्मादिलोकों में रहकर प्राप्त किया जाए।[2] इस-लिए उभयविध मुक्ति का हेतु केवल तत्त्वज्ञान ही है। सगुणोपासना जीव के भोगों को भले ही उत्कृष्ट करती रहे, मोक्षहेतु नहीं बन सकती।[3] अतः मोक्ष-हेतुत्वेन निर्गुणतत्त्वज्ञान और सगुणब्रह्मोपासना में विकल्प की कल्पना भी नहीं की जा सकती।[4] मुक्ति के दोनों भेद साधनभेद के आधार पर नहीं किए गए हैं बल्कि क्रमिकता और क्रमरहितता के कारण किए गए हैं। न तो दोनों मुक्तियों में स्वरूपभेद है न साधनभेद। केवल प्राप्ति में लगने वाले समय के आधार पर ही मुक्ति के ये दो भेद माने गए हैं।

---

१. विद्यातत्त्वज्ञानमेव मोक्षस्य हेतुः न तु भ्रमरूपा सगुणोपासना कुतः निर्धा-रणात् 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' इतिनिर्धारणात्।—वि० भा० पृ० ५१४

२. ब्रह्मलोकं गता हि तत्रैव ज्ञानोपरता हि तत्रैव ज्ञानोत्पत्त्या प्रायशो-मुच्यन्ते।—वि० भा० पृ० ४९८

३. अधिकारिणः सृष्टि-स्थिति-संहारादिषु हरादयस्तेषामुपासकाश्चा-धिकारिकास्तेषां तत्तद्देवताधिकारकालपर्यन्तमेव ब्रह्मलोकादिषु स्वोपास्यदेवैः सहावस्थानं फलं न सर्वदा न वा तदन्ते मोक्षविलय इत्यर्थः।—वि० भा० पृ० ४९८

४. ततश्च मोक्षफले वैषम्यान्त-सगुणनिर्गुण-विद्ययोर्विकल्प इति सिद्धम्।
—वि० भा० पृ० ५१८

# अध्याय ३

# आचार्य विज्ञानभिक्षु के सांख्यसिद्धान्त

# प्रमाण-विवेचन

यद्यपि सांख्य-शास्त्र भी योग और वेदान्त की भाँति प्रमेय-परायण है तथापि इस शास्त्र के अन्तर्गत आचार्य विज्ञानभिक्षु ने प्रमाण-परम्परा का विवेचन बड़े मनोयोग से किया है। प्रमाणों की वास्तविक उपादेयता यह है कि वे विवेक-ज्ञान-लाभ करने के साक्षात् उपाय हैं। श्रुतियों में भी प्रमाणत्रय की सहायता से आत्मज्ञान की प्राप्ति का संकेत है।[1] आचार्य गौडपाद और अनिरुद्ध आदि ने सूत्रों और कारिकाओं की सी शैली में प्रमाणों का बड़ा संक्षिप्त विवरण दिया है। वाचस्पति मिश्र और विज्ञानभिक्षु ने क्रमशः सां० त० कौ० और सां० प्र० भा० में प्रमाणों का विशद एवं विस्तृत रूप प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

विज्ञानभिक्षु ने पूरे पदकृत्य के साथ सा० सूत्र क्रम संख्या १।८७ की व्याख्या करके प्रमाणकी परिभाषा निर्धारित की है। और यह बताया है कि पातञ्जलभाष्य की ही भाँति सांख्यशास्त्र में भी पुरुषनिष्ठ बोध ही प्रमा है।[2] इस मान्यता के आधार पर बुद्धिवृत्ति ही वास्तविक प्रमाण है। इन्द्रियसन्निकर्ष इत्यादि केवल परम्परा या प्रमाण कहे जा सकते हैं।[3] उन्हें साक्षात् प्रमाण मानने पर प्रमा केवल बुद्धिनिष्ठ ही रह जायगी किन्तु यह बात हमें अभीष्ट नहीं है। जो कारण फल या कार्य को साक्षात् उत्पन्न करे वही करण होता है।[4] इसलिए बुद्धिवृत्ति ही प्रमा का कारण है। अतः वही प्रमाण है। सांख्यसिद्धान्त में पुरुष-निष्ठ-बोध को ही प्रभा और बुद्धिवृत्ति को ही प्रमाण माना गया है। सांख्य-सूत्रों का संकेत भी बोध को पौरुषेय मानने की ही ओर है।[5]

---

१. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्य इति आदिश्रुतिभिर्हि प्रमाणत्रयेणात्मज्ञानमित्यवगम्यते।—सां० प्र० भा० पृ० ४६

२. पातञ्जलभाष्ये तु व्यासदेवैः पुरुषनिष्ठबोधः प्रमेत्युक्तः—अतोऽत्रापि स एव मुख्यः सिद्धान्तः।—सां० प्र० भा० पृ० ४६

३. चक्षुरादिषु तु प्रमाणव्यवहारः परम्परयैव सर्वथेति भावः।—सां० प्र० भा० पृ० ४६

४. फलायोगव्यवच्छिन्नत्वं करणत्वम्—न्यायमकरन्द १। पृ० २

५. चिदवसानो भोगः—सां० सू० १। १०४

## प्रमाण—प्रक्रिया

प्रमाणों की कार्य-प्रणाली यह है कि प्रारम्भ में इन्द्रिय द्वारा, अथवा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष द्वारा अथवा लिङ्गज्ञान आदि के द्वारा बुद्धि की अर्थाकार वृत्ति हो जाती है। अर्थात् ऊपर बताए गए किसी माध्यम से बुद्धि अर्थाकाराकारित अर्थात् तद्रूप हो जाती है। यही अर्थोपरक्त बुद्धि-वृत्ति प्रतिविम्ब रूप से पुरुषारूढ होकर भासती है। यहाँ पर ध्यान रखने की बात यह है कि पुरुष बुद्धि की भाँति परिणामशील तो है नहीं। अतः यह बुद्धिवृत्ति के आकार का नहीं हो सकता। अर्थाकारता ही अर्थग्रहण या बोध है। अब प्रश्न यह है कि यह बोध पुरुष को कैसे होता है? इसका उत्तर बड़ी सूक्ष्मता से आचार्य विज्ञानभिक्षु देते हैं कि यहाँ जपाकुसुम की भाँति उपरक्तता नहीं होती, पुरुष को केवल अभिमान होता है। योगसूत्र, स्मृतियाँ और योगभाष्यादि इस विषय में प्रमाण हैं।[1] पुरुष बुद्धि के द्वारा लब्धोपराग अर्थों का प्रतिसंवेदन करता है। प्रतिसंवेदन कहते हैं प्रथम-संवेदन के प्रतिबिम्ब को।[2] बुद्धिवृत्ति का यह प्रतिविम्ब मिथ्या होता है अतः बुद्धिवृत्ति और इस में जन्य-जनक[3] भाव न समझना चाहिए। बल्कि बुद्धि का यह एक बिम्बाकार जैसा परिणाम-विशेष है। जैसे जलादि-गत किसी वस्तु का प्रतिविम्ब।[4]

इसी प्रसङ्ग में विज्ञानभिक्षु ने वाचस्पति मिश्र के मत का खण्डन भी किया है। वे कहते हैं कि 'कुछ लोगों के मत से बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही वृत्ति को प्रकाशित करता है और यह प्रतिबिम्बगत चैतन्यत अर्थों का ज्ञान करता है। यही अर्थज्ञान पौरुषेयबोध है। इस मत के अनुसार अर्थाकारा-

---

१. वृत्तिसारूप्यमितरत्र—यो० सू० १।४
तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः॥—स्मृतिः
बुद्धेः प्रतिसंवेदी याः पुरुष इत्येवमधिगच्छतीति। यो० भा० पृ० ८७

२. प्रतिध्वनिवत् प्रतिसंवेदः संवेदनप्रतिबिम्बः। तस्याश्रयः इत्यर्थः।
—सां० प्र० भा० पृ० ४७

३. न च शब्दजन्यं शब्दान्तरमेव प्रतिध्वनिरिति वाच्यम्।—सां० प्र० भा० पृ० ४७

४—प्रतिबिम्बश्च बुद्धेरेव परिणामविशेषो बिम्बाकारो जलादिगत इति।
—सां० प्र० भा० पृ० ४७

कारित बुद्धिवृत्ति पुरुष में प्रतिबिम्बित नहीं होती।[१] इस मत को विज्ञानभिक्षु असत् और भ्रान्त कहते हैं क्योंकि यह बात शास्त्र से विरुद्ध है। केवल तर्क के आधार पर शास्त्र-विरुद्ध बात नहीं स्वीकार की जा सकती। वृत्ति और चैतन्य का अन्योऽन्य-विषयता रूप सम्बन्ध होने से दोनों में एक दूसरे के प्रतिबिम्ब की सिद्धि होती है। बाह्य-वस्तु में अर्थाकारता की विषयता सिद्ध हो जाने पर अब अर्थाकारता में किसी अन्य की ही विषयता माननी चाहिए। इसलिए बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब पुरुष में मानना समीचीन है।[२]

जो नैयायिक लोग ज्ञानवृत्ति का विषय बनना नहीं स्वीकार करते, उनके मत में ज्ञानांशों में अनुगमकधर्म के अभाव में अलग-अलग घटज्ञान, पटज्ञान, पुस्तकज्ञान आदि अनुबोध व्यवहार के असम्भव हो जाने का अनिष्ट-प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। नैयायिक लोग इस असम्भवता को देख कर विषयता नामक एक अलग पदार्थ की कल्पना करते हैं।[३] पर अनुभूत होती हुई अर्थाकारता को छोड़ कर विषयता नामक एक और पदार्थ की कल्पना करने में अनावश्यक गौरव है। अतः यह मत भी हेय है।[४] सच बात तो यह है कि चैतन्य में बुद्धिवृत्ति की प्रतिबिम्ब-कल्पना के बिना स्वत्व की भी स्थिति नहीं हो सकती।[५] इसीलिए यही सिद्धान्त समीचीन है—

'तस्मादचैतन्यचैतन्ययोरन्योन्यविषयतारूपोऽन्योन्यस्मिन्मन्नयोऽन्यप्रतिबिम्बः सिद्धः।'—सां० प्र० भा० पृ० ४७

---

१. केचित्तु ... न तु चैतन्ये वृत्तिप्रतिबिम्बोऽस्तीत्याहुः।—सां० प्र० भा० पृ० ४७

२. अर्थभानं चितावर्थप्रतिबिम्बो मतो बुधैः।
वृत्तेरेव चितौ साक्षात्प्रतिबिम्बनयोग्यता।—सां० प्र० भा० पृ० २३

३. केचित्तु तार्किका अनयैवानुपपत्त्या विषयतामतिरिक्तपदार्थमाहुः।—सां० प्र० भा० पृ० ४७

४ तदप्यसत् अनुभूयमानामर्थाकारतां विहाय विषयतान्तरकल्पने गौरवादिति।—सां० प्र० भा० पृ० ४८

५. स्वत्वं हि स्वभुक्तवृत्तिवासनावत्वम्। भोगश्च ज्ञानम्।—सां० प्र० भा० पृ० ४८
अर्थभानं चितौ अर्थप्रतिबिम्बोमतो बुधैः।
वृत्तेरेव चितौ साक्षात्प्रतिबिम्बनयोग्यता॥१८॥—सां० सार० पृ० २३

निष्कर्ष यह निकला कि शुद्ध चेतन पुरुष ही वास्तविक प्रमाता है और बुद्धिवृत्तियाँ ही प्रमाण हैं। अर्थोपरक्तवृत्तियों का चेतन में प्रतिबिम्बित होना ही प्रमा है। पुरुष में प्रतिबिम्बित होनेवाली बुद्धिवृतियों के विषय ही प्रमेय है। इस प्रकार से पुरुष-गत बुद्धिवृत्तिकर्मक साक्षाद्दर्शन ही पुरुष का साक्षित्व बताया गया है।[1]

## प्रमाणों के विशेष लक्षण

प्रमाण तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। जो विज्ञान-वस्तु से सम्बन्धित हो कर सम्बन्धित वस्तु का आकार धारण कर लेता है वह विज्ञान या बुद्धिवृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है। अर्थात् अपने अर्थ के सन्निकर्ष से उद्भूत आकार की आश्रय-भूत बुद्धिवृत्ति ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती है। बुद्धिवृत्ति और अर्थ के सन्निकर्ष के लिए तमस के प्रतिबन्ध को दूर होना चाहिए। तमःप्रतिबन्ध का दूरीकरण कभी इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से और कभी योगज धर्म से होता है, जैसे कि अञ्जन के संयोग से नेत्रों का मालिन्य दूर होता है।[2] 'व्याप्ति के ज्ञान से व्यापक का ज्ञान' इस रूप की बुद्धिवृत्ति अनुमान नामक प्रमाण कहलाती हैं। अनुमिति नाम की प्रमा पौरुषेय बोध हुई। अनुमान के तीन भेद हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। सामान्यतोदृष्ट अनुमान से प्रकृति और पुरुष का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है।[3] योग्य या विश्वसनीय के शब्द से उत्पन्न ज्ञान ही शब्द नामक प्रमाण कहलाता है। इन वृत्तियों का उपभोग अर्थात् बुद्धि

---

१. प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव नः।
प्रमाचार्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम्॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां वियोमेय उच्यते।
साक्षाद्दर्शनरूपं च साक्षित्वं वक्ष्यतिवं स्वयम्॥—सां०प्र०भा०पृ० ४८

Thus while Vāchaspati Mishra simply intelligises Buddhi, Vijñānabhikshu also phenomenalizes the transcendental-self in order to explain the experiences of this life in Samsār.
The Evolution of the Sāṃkhya School of Thought.
By Dr. Aṇimā Sen Gupta, P. 31.

२. अञ्जन संयोगेन नयनमालिन्यवत्।—सां० प्र० भा० पृ० ४९

३. तत्र सामान्यतो दृष्टादनुमानाद् द्वयोः प्रकृतिपुरुषयोः सिद्धिरित्यर्थः।
—सां० प्र० भा० पृ० ५४

के कर्म के फलों का भोग निष्क्रिय पुरुष को प्रतिबिम्बन के द्वारा होता हैं।[१] उपमान और ऐतिह्यादि प्रमाणों का अन्तर्भाव अनुमान में और अनुपलब्ध्यादि का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में हो जाता है।[२]

---

१. बुद्धिकर्मफलस्यापि वृत्ते रुपभोगस्तदकर्तुरपि पुरुषस्य युक्तः अन्नाद्यवत्, यथान्यकृतस्यान्नादेरुपभोगो राज्ञो भवति तद्वदित्यर्थः।
—सां० प्र० भा० पृ० ५५

२. उपमानैतिह्यादीनां चानुमानशब्दयोः प्रवेशः। अनुपलब्ध्यादीनां प्रत्यक्षे प्रवेशः इति।—सां० प्र० भा० पृ० ४८

# पुरुष-विचार

## अस्तित्व

आचार्य विज्ञानभिक्षु की धारणा तो यह है कि पुरुष का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए कोई अनुमान आदि इस लिए अनिवार्य नहीं है कि इस विषय में प्रायः सभी मतवाद एक है। अन्य आस्तिक दर्शनों का तो कहना ही क्या है भोक्तृरूप अहम्पदार्थ तो बौद्ध लोग भी स्वीकार करते हैं।[1] तथापि प्रकृति से अतिरिक्त पुरुष की सत्ता सिद्ध करने के लिए सूत्रों और कारिकाओं के आधार पर वे अधोलिखित तर्क उपस्थित करते हैं—

१—प्रकृति अपने से भिन्न स्थित किसी तत्त्व के लिए सक्रिय होती है। संहत [त्रिगुणरूप में] होकर कार्य करने के कारण, जो भिन्न अवयवों से संहत होकर कार्य करता या प्रस्तुत होता है वह किसी अन्य के लिये ही ऐसा करता है यथा घर, शय्या इत्यादि ।[2]

२—प्रकृति भोक्तृत्व प्रकृति से भिन्न किसी पदार्थ में होगा वही पुरुष है।

३—सुखादि का भोक्ता सुखादि से यदि भिन्न न हुआ तो कर्तृकर्म-विरोध होगा।[3]

४—इस अधिष्ठेय प्रकृत्यादि का अधिष्ठाता तद्भिन्न पुरुष है।

५—प्रकृति के व्यक्त रूप शरीरादि स्वयं भोक्ता नहीं हो सकते।

६—यदि शरीरादि विनश्वररूप स्वयं भोक्ता हों तो इस नश्वरभोक्ता के कैवल्य के लिए भला किसकी प्रवृत्ति होगी ।[4]

---

१. चेतनापलापे जगदान्ध्यप्रसङ्गतो भोक्तरि अहम्पदार्थे सामान्यतो बौद्धानामप्यविवादात्।—सां० प्र० भा० पृ० ६६

२. तद्यथाप्रधानं परार्थसंहत्यकारित्वाद् गृहादिवदिति।
—सां० प्र० भा० पृ० ५४

३. शरीरादीनां यः सुखाद्यात्मकत्वं धर्मः स सुखादिभोक्तरि न सम्भवति स्वयम् सुखादिग्रहणं कर्म-कर्तृ-विरोधात्॥—सां० प्र०भा० पृ० ६७

४. शरीरादिकं चेद्भोक्तृ स्यात्तदाभोक्तुः कैवल्यार्थं दुःखात्यन्तोच्छेदार्थं कस्यापि-प्रवृत्तिर्नोपद्येत।—सां० प्र० भा० पृ० ६८

७— मैं जानता हूँ या अनुभव करता हूँ इस प्रकार की जो वृत्ति होती है इससे भी सामान्यतः पुरुष-पदार्थ की सिद्धि होती है।[1]

इस प्रकार के तर्कों के बल पर यह स्पष्ट है कि अव्यक्तादि २४ तत्त्वों के अतिरिक्त यह पुरुष नाम का २५ वाँ तत्त्व भी सांख्याभिमत एक प्रमुख पदार्थ है।

## पुरुष का स्वरूप

पुरुष विवेक का अनुयोगी है। उसे द्रष्टा, नित्य, विभु आदि कहा जा सकता है।[2] परन्तु नित्यत्व आदि उसके गुण नहीं हैं क्योंकि वह निर्गुण है और असङ्ग है।[3] चूंकि सभी भोगों का अवसान उसी में है अतः वह अपवर्ग के पूर्व नित्य भोक्ता है।[4] वह सर्वथा निष्क्रिय है। वह चित्सामान्य है।[5] उसे मङ्गलाचरण में चिदेकरसवस्तु कहा गया है। पुरुष का गुण प्रकाश नहीं है अपितु पुरुष साक्षात् प्रकाश स्वरूप है। जैसे सूर्य। इस प्रसङ्ग में आचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि तेज और प्रकाश में अन्तर है। तेज में धर्म-धर्मी का भाव तेजस्वी पदार्थ के साथ अनुस्यूत रहता है। अतः पुरुष केवल प्रकाश-रूप है। उसमें कोई धर्म निर्गुण होने के कारण नहीं हो सकते।[6]

पुरुष में इच्छा आदि गुण कभी नहीं माने जा सकते। इच्छादिधर्म तो अन्वयव्यतिरेक से मन के ही धर्म कहे जा सकते हैं। पुरुष को निर्गुण कहने में गुण शब्द का अर्थ रामानुज इत्यादि की भाँति अच्छे गुण न लेना चाहिए। यहाँ

---

१. तत्र सामान्यतः सिद्धोजानेऽहमितिधीबलात्।—सां० सा० पृ० २०
२. विवेकस्यानुयोग्यात्मा पुरुषाख्यो निरूप्यते।—सां० सार० पृ० २०
३. 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'। इतिश्रुतिः—सां० प्र० भा० पृ० ६९ पर उद्धृत
४. भोक्तानित्यस्तदर्थत्वात्।—सां० सा० पृ० २०
५. ईश्वरानीश्वरत्वादिचिदेकरसवस्तुनि।—मङ्गलाचरण, सां० प्र० भा० पृ०
अत्र सूत्रे पुरुषस्य भोगःस्वीकृतः इति स्मर्तव्यम्। अपरिणामिनश्च पुरुषस्यभोगः चिदवसानो भोगः इत्यत्र व्याख्यातः।—सां० प्र० भा० पृ० ६७
६. ज्ञानं नैवात्मनोधर्मो न गुणो वाकथञ्चन। ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः पूर्णः सदाशिवः। स्मृतिः।—सां० प्र० भा० पृ० ६९ पर उद्धृत

पर गुण का अर्थ है कोई भी विशेष गुण। किसी भी विशेष गुण के न होने से आत्मा या पुरुष निर्गुण है। विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में पुरुष शब्द आत्मा का शतप्रतिशत पर्यायवाची है। बुद्धिगत भोगों का साक्षाद् द्रष्टा या प्रतिबिम्बप्रणाली से प्रतिसंवेदी होने के कारण उसे साक्षी कहा जाता है। श्रुतियों में 'सर्वज्ञ' इत्यादि शब्द तो 'रोही:शिर:' आदि की तरह लौकिक विकल्पों की भाँति आए हुए हैं। पुरुष को नित्यज्ञान रूप मानने में १—अन्तःकरण, २—व्यवसाय, ३—अनुव्यवसाय, ४—उनके आधार—इन चार पदार्थों की कल्पना से बचने का लाघव भी होता है, जबकि नैयायिकों को यह कल्पना-गौरव स्वीकार करना पड़ता है। हमारे मत में १—अन्तःकरण, २—उसकी वृत्ति, ३—नित्यज्ञानरूप आत्मा—ये तीन ही पदार्थ मानने पड़ते हैं।[1] पुरुष जाग्रत्स्वप्न और सुषुप्ति दशाओं की बुद्धिवृत्ति का अविकल साक्षी है। वह नित्यमुक्त है। प्रकृति के साथ उसका संयोग अविद्या से होता है। यह संयोग आविधिक उपराग या अभिमान रूप होता है। इसीलिए पुरुष में कर्तृत्व और बुद्धि या प्रकृति में ज्ञातृत्व प्रतीत होता है। वस्तुतः वह नित्यदृष्टया ज्ञान-रूप है। चिन्मात्र है। केवल है। कूटस्थनित्य है। नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, नित्यमुक्त और निरञ्जन है।[2] यह पुरुष या आत्मा कुछ वेदान्तियों की दृष्टि में आनन्द स्वरूप है। इसका खण्डन आचार्य ने अन्य ग्रन्थों के साथ-साथ सांख्य सार और सां० प्र० भा० में भी जम कर किया है। सां० सा० के उत्तर भाग का पूरा चतुर्थ परिच्छेद ही पुरुष की सानन्दता का खण्डन करने में लगा दिया गया है। सुख और दुःख से भिन्न प्रकार के आनन्द की कल्पना आचार्य विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में एक भ्रान्ति और प्रवञ्चना के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[3] पुरुष प्रकृति की भाँति त्रिगुणात्मक या जड़ नहीं है। उसमें

---

१. द्रष्टव्य सां० प्र० भा० पृ० ७०

२. नित्यशुद्धो नित्यबुद्धो नित्यमुक्तो निरञ्जनः।
स्वप्रकाशो निराधारः प्रदीपः सर्ववस्तुषु ॥—सां० भा० पृ० २२

३. आत्मत्वेनात्मनिप्रेमा न सुखत्वाद्यपेक्षते।
अहं स्यामिति चेद् यस्मात् सुखस्स्यामिति नेष्यते ॥१३॥—सां० सा० पृ० ३०
नाऽऽनन्दं न निरानंदमित्यादिश्रुतिभिः स्फुटम्।
आत्मनि आनन्दरूपत्वनिषेधाद् युक्तिसंयुतात् ॥५॥—सां०सा०पृ० २९
उपासाद्यर्थशून्यत्वान्नेति नेतिश्रुतेस्तथा।
निषेधवाक्यं बलवद्विधिवाक्यादिति स्थितिः ॥६॥—सां०सा०पृ० २९

नित्यत्व, ज्ञत्व विभुत्व आदि सामान्य धर्म हैं किन्तु ये धर्मधर्मी के विशेष धर्म या विशेष गुण नहीं अपितु उसके साक्षात् स्वरूप हैं।[1]

## पुरुष-बहुत्व

पुरुष के स्वरूपाङ्कन के प्रसङ्ग में एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि पुरुष एक है अथवा अनेक ? इस स्थल पर वेदान्त की अद्वैतपरता और सांख्य योग की पुरुष बहुलता ने आचार्य विज्ञानभिक्षु के सामने समस्या का जटिलतम स्वरूप उपस्थित कर दिया है। पुरुष या आत्मा एक है अथवा अनेक। सच बात तो यह है कि भारतीय चिन्तनधारा का यह एक स्थायी प्रश्न रहा है। किसी दार्शनिक वाद ने आत्मा को एक मान कर उपाधि भेद से इस प्रश्न को हल करने की चेष्टा की और किसी ने अनेक पुरुष मानकर अद्वैत का प्रश्न ही अलग कर दिया। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने इस सम्बन्ध में अपनी समन्वयात्मक सूझ से काम लिया है और विषय को इस प्रकार से प्रस्तुत किया है—

"पुण्यवान् स्वर्ग में जाता है पापी नरक में, पुण्यात्मा अच्छे स्थानों में जन्म लेता है पापी बुरे स्थानों[2] में" इस अर्थवाली श्रुति-स्मृति-व्यवस्था के विभाग की अन्यथानुपपत्ति से पुरुष-बहुत्व ही मानना श्रेयस्कर है। जन्म और मरण का अर्थ उत्पत्ति और विनाश नहीं है बल्कि अपूर्वदेहेन्द्रियादि के विशिष्ट संघात से संयोग और वियोग है।[3] इस प्रकार का संयोग वियोग चूंकि स्फटिक में लौहित्य नीलत्वादिसंयोग वियोग की भांति केवल प्रतिबिम्बन भोग और भोगरूपी हैं; अतः पुरुष में इनका निषेध नहीं है। पुरुष में केवल परिणामरूपधर्मों का ही प्रतिषेध है।[4] अतः जन्मादि की व्यवस्था के आधार पर पुरुष-बहुत्व ही मानना चाहिए।

---

१. नित्यमुक्तस्तथानित्यनिर्दुःखत्वात् पुमान्मतः। इत्यादिगुरुशास्त्रोक्तदिशा स्वानुभवेन च ॥४८॥—सां० सा० पृ० ३५

२. पुण्यवान् स्वर्गे जायते, पापी नरके, अज्ञोबध्येत ज्ञानी मुच्यते इत्यादेः श्रुतिस्मृतिव्यवस्थाया विभागस्यान्यथानुपपत्या पुरुषा बहव इत्यार्थः। सां० प्र० भा० पृ० ७१

३. जन्ममरणे चात्र नोत्पत्तिविनाशौ, पुरुषनिष्ठत्वाभावात्। किन्त्वपूर्वदेहेन्द्रियादिसंघात-विशेषेण संयोगश्चवियोगश्चभोगतदभावनियामकाविति।—सां० प्र० भा० पृ० ७१

४. परिणामरूपधर्माणामेव पुरुषे प्रतिषेध स्योक्तत्वात्।—सां० प्र० भा० पृ० ७३

यदि यह माना जाय कि पुरुष एक ही है जन्म मरणकरणादिभेद की व्यवस्था उपाधियों के कारण होती है। तो प्रश्न और अधिक जटिल हो जाता है कि जब पुरुष या आत्मा एक ही है तो नानाप्रकार की उपाधियों से एक वह अवच्छिन्न होगा। इस प्रकार से अवच्छेद करनेवाली भिन्न-भिन्न उपाधियों से अवच्छिन्न एक ही पुरुष में विविध स्थान, काल और प्रकार के जन्म-मरण करणादि मानने पड़ेंगे। एक ही पुरुष के एक ही देश काल में विविध कायव्यूहादि भला कैसे सम्भव हो सकेंगे ? अतः व्यवस्था न हो पायेगी। जैसा कि हम देखते हैं कि एक पुरुष उत्पन्न होता है सब इकट्ठे ही नहीं। इकट्ठी मौत भी नही होती।[1] उपाधिगत व्यवस्था मानने से एक और बड़ा दोष आ जाता है कि बन्धमोक्षव्यवस्थापक श्रुतियाँ मिथ्या हो जाती हैं।[2] अतः उपाधिभेद से बन्ध-मोक्ष जनन-मरणकरणादि की व्यवस्था नहीं हो सकती।

इस मत में एक और बड़ा दोष है। वह यह कि ज्ञान आदि के द्वारा एक उपाधि से मुक्त हो जाने पर भी पुरुष के लिए अन्य उपाधियों से फिर अवच्छिन्न हो जाने की पूरी सम्भावना बनी रहती है। जैसे एक घट से युक्त आकाशप्रदेश अन्य घटादि के योग से फिर घटाकाश बन सकता है।[3] अतः उपाधिभेद के आधार पर व्यवस्था माननी ठीक नहीं। एक और बात ध्यान देन की है कि उपाधियाँ ही अनेक हैं उपाध्यवच्छिन्नतो अनेक हैं नहीं। यदि उपाधिविशिष्ट भी अनेक माने जायँ तो वह स्थिति और भी भ्रामक हो जाती है।[4]

पुरुष बहुत्व को सिद्ध करनेवाला एक तर्क और भी है। जैसे घट के टूट जाने पर घटाकाश नष्ट हो जाता हैं वैसे ही उपाधिनष्ट हो जाने से उपाधिमान् भी नष्ट हो जाना चाहिए परन्तु उपाधि नष्ट होने से जीव का नाश नहीं होता। इस सूक्ष्म बात को न समझकर शांकरमतानुयायी वेदान्तियों ने एक आत्मा में ही

---

१. अतोऽवच्छेदकभेदेनैकस्यैव आत्मनः विविधजन्ममरणाद्यापत्तिः काय-व्यूहादाविवेति न सम्भवति व्यवस्था, एक पुरुषो जायते नावरः इत्यादि —सां० प्र० भा० पृ० ७१

२. मिथ्यापुरुषार्थ-प्रतिपादेनेन श्रुतेः प्रतारकत्वाद्यायत्तेश्च।—सां०प्र०भा० पृ० ७२

३. यथेक घटमुक्तस्याकाशप्रदेशस्यान्य घटयोगाद्घटाकाशव्यवस्था तद्वदिति।—सां० प्र० भा० पृ० ७२

४. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ७३

बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था मानी है। विज्ञानभिक्षु ने अधोलिखित हेतुओं के आधार पर उन्हें अतीव भ्रान्त कहा है।[1]

१—जीव और आत्मा के बीच प्रतिबिम्ववाद, अवच्छेदवाद या आभासवाद आदि के सिद्धान्त[2] भेद, अभेद और भेदाभेद की विकल्पता नहीं सह सकते हैं।

२—वेदान्तसूत्रों में कहीं पर भी आत्मा की अत्यन्त अद्वैतता नहीं प्रतिपादित है।[3]

३—प्रत्युत ये तीन वेदान्तसूत्र पुरुष बहुत्व की ही स्थापना करते हैं—

क—भेदव्यपदेशाच्चान्यः १ । १ । २१

ख—अधिकं तु भेदनिर्देशात् २ । १ । २२

ग—अंशो नानाव्यपदेशात् २ । ३ । ४३

पुरुष-बहुत्व के सिद्ध हो जाने पर विज्ञानभिक्षु ने पुरुष-बहुत्व को अद्वैत सिद्धान्त के अनुकूल बनाने के लिए यह शंका रक्खी कि क्या 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियाँ निरर्थक हैं ? इसका समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया गया कि आत्मा एक है ऐसा कहने वाली श्रुतियों और स्मृतियों का विरोध पुरुष-बहुत्व मानने से नहीं होता क्योंकि आत्मैक्य का प्रयोग जाति अर्थ में किया गया है। ऐक्यप्रतिपादिक श्रुतिवचनों का तात्पर्य जाति, या सामान्य में हैं, अखण्ड, एक रूप में कदापि नहीं।[4] इस अर्थ के लिए साक्षाद् वेदान्त-सूत्र 'सामान्यात्तु' प्रमाण है।[5] जातिपरकता का अर्थ है— विजातीय कोई दूसरी वस्तु न होना है।[6]

---

१. ते त्वतीवभ्रान्ताः।—सां० प्र० भा० पृ० ७३

२. उक्ताद्भेदभेदादिविकल्पासहत्वादिदोषात्। सां० प्र० भा० पृ० ७३

३. किं च वेदान्तसूत्रे क्वापि सर्वात्मनामत्यन्तैक्यं नोक्तमस्ति।—सां० प्र० भा० पृ० ७३

४. आत्मैक्यश्रुतीनां विरोधस्तु नास्ति, तासां जातिपरत्वात्। जातिः सामान्यमेकरूपत्वं. तत्रैवाद्वैतश्रुतीनां तात्पर्यात्, नत्वखण्डत्वे। प्रयोजनाभावात्। जातिपरत्वात् —विजातीयद्वैतनिषेधपरत्वादित्यर्थः। —सां० प्र० भा० पृ० ७४

५. वे० सू० ३ ।२ । ३२

६. जातिपरत्वाद्—विजातीयद्वैतनिषेधपरत्वादित्यर्थः।—सां० प्र० भा० पृ० ७४

पुरुषों के चिन्मय रूप में परस्पर वैधर्म्य नहीं है बल्कि समानता है, जातीयता है। इस भावना से साधक का सभी प्रकार का अभिमान निवृत्त होता है और उसके मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। श्रुतियों के आत्मैक्य प्रतिपादन का यही प्रयोजन अथवा लक्ष्य है। शङ्कराचार्य आदि जिन दार्शकों ने इस एकता का अर्थ अखण्ड-रूपता लिया है, उनका अभिप्राय भ्रान्तिपूर्ण है। भेदग्राहक श्रुतियों के आग्रह से भी अद्वैत का अर्थ अखण्ड एक आत्मा नहीं लिया जा सकता। प्रत्युत सभी पुरुष एकजातीय अनेक तथा अनन्त हैं। वे परस्पर वैधर्म्यलक्षणों से रहित हैं। जैसे अनेक किरणात्मक तेजोमय आदित्यमण्डल एक प्रकार के अनेक किरणपुंजों से पिण्डीकृत हुए एक रूप में व्यवहृत होता है वैसे ही स्वांशभूत अनेक असंख्य पुरुषों वाला विराट् रूप से एक या अद्वैत आत्मा या चित्सामान्य श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित किया गया हैं।[1] अखण्डता का अर्थ लेने पर एक और अनुपपत्ति आती है कि वामदेव अविमुक्त हो चुके हैं और हम लोग अभिबद्ध हैं, यदि दोनों एक अखण्ड आत्मा है तो वामदेव मुक्त हुए कि बद्ध[2], अपने आत्मा-खण्डता-विरोध को प्रकट करने के लिए ही कदाचित् विज्ञानभिक्षु ने अपने सांख्य-प्रवचन-भाष्य का मङ्गलाचरण ही इसी श्लोक से प्रारम्भ किया—

एकोऽद्वितीय इतिवेदवचांसि पुंसि
सर्वाभिमाननिवर्तनतोऽस्यमुक्त्यै ॥
वैधर्म्यलक्षणभिदाविरहं वदन्ति
नाखण्डतां ख इव धर्मशताविरोधात् ॥१॥

## उपाधि

अखण्डआत्मवादी मानते हैं कि आत्मा या पुरुष केवल एक ही है विभिन्न उपाधियों के संयोग से जीवगत भेद प्रतीत होता है। इसका खण्डन विज्ञानभिक्षु इस प्रकार करते हैं कि इस मान्यता में प्रथम दोष यह है कि अखण्डआत्मा मानने

---

१. अनेकतेजोमयादित्यदित्यमण्डलवदनेकात्मकमयमपि चिदादित्यमण्डलमेकरसमविभक्तमेकपिण्डीकृत्य तस्यकिरणवत् स्वांशभूतैरसंख्यपुरुषैरसंख्योपाधिष्वसंख्यविभाग एव प्रतिबिम्बादिदृष्टान्तैः प्रतिपाद्यते विभागलक्षणान्यत्वस्य वाचारम्भणमात्रत्वं बोधयितुं न पुनरखण्डत्वम्। —सां० प्र० भा० पृ० ७५

२. वामदेवादिर्मुक्तोऽस्तितथापि इदानीं बन्धः स्वस्मिन्ननुभवसिद्धः। अतोनाखण्डात्माद्वैतमित्यर्थः॥—सा० प्र० भा० पृ० ७६

से जीव के अभिमान कि निवृत्ति नहीं हो सक्ती और अभिमान निवृत्ति के बिना जीव को मोक्षलाभ नहीं हो मकता ।[1] दूसरा दोष यह है कि उपाधियों के संयोग से अनेक जीवता बताने में नीचे लिखे प्रश्नों का समाधान नहीं हो सकता—

१—आत्मा और उपाधियां ये दो प्रकार के तत्त्व रहने से अद्धैत की कल्पना ही असम्भव हो जाती है।[2]

२—यदि यह कहा जाय की उपाधियाँ आत्मा की भाँति सत् नहीं अपितु अविद्याजन्य हैं इसलिए द्वैतभावना की प्रसक्ति नहीं हो सक्ती - तो भी उपाघि न सही उपाधि को उत्पनन करनेवाली अविद्या ही सत् हो गई। अब अद्वैत की मान्यता फिर असम्भव हो गई।[3]

३—आत्मा की अद्वैतता सिद्ध करने के लिए प्रमाण मानना पड़ेगा अतः आत्मा और प्रमाण नाम के दो तत्तव सत् हो जायँगे इसलिए फिर द्वैत की प्रसक्ति हो जायगी ।[4]

४—आत्मा की स्वप्रकाशता भी असम्भव रहेगी क्योंकि निरवयव वस्तु में प्रकाश्य-प्रकाशकता की स्थिति नहीं हो सकती ।[5]

हमारे मत में यह अनुपपत्ति नहीं होती क्योंकि हम आत्मा को असंख्य अंशों के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार से आत्मा को एक या अखण्ड मानना निष्प्रमाण हठवादिता है। वस्तुतः पुरुष अनेक या असंख्य हैं। श्रुतियों ने

---

१. यदि पुनरद्वैतवाक्यान्यखण्डतामात्रपराणिस्युस्तर्हि तेभ्यो नाभिमान-निवृत्तिः सम्भवति । आकाशेविविधशब्दवदखण्डेप्यात्यनि सुखदुःखतदभावादीनामवच्छेदकभेदेरुपपतेः ।—सां० प्र० भा० पृ० ७४

२. उपाधिश्चेत्स्वीक्रियते तर्हुपाघिसिद्धयैवपुनरद्वैतभङ्गः इत्यर्थः ।
—सां० प्र० भा० पृ० १६१

३. पुरुषोऽविद्येति द्वाभ्यामप्यङ्गीकृतभ्याम् अद्वैतप्रमाणस्यश्रुतेर्विरोधस्तदवस्थ एव ।—सा० प्र० भा० पृ० १६१

४. अद्वैतवादिनामुत्तरं सिद्धान्तश्च न घटते, आत्मसाधक प्रमाणस्याभावात् । नैरात्म्यवादिभिः । तदङ्गीकारे च तेनेवाद्वैतहानिरितिजितं
—सां० प्र० भा० पृ० १६१

५. द्रष्टव्य, सां०प्र०भा० पृ० १६२

सामान्य या जाति के आधार पर ही आत्मा को एक या अद्वैत कहा है।[१] यही सर्वथा निष्कलङ्क सिद्धान्त है। पुरुषबहुत्व की स्थिति उपाधियों के माध्यम से नहीं काटी जा सकती।

## पुरुष और जीव

प्रायः लोग सांख्य में पुरुष का अर्थ जीव करने लगते हैं; पर यह ठीक नहीं है। विज्ञानभिक्षु ने पुरुष शब्द का प्रयोग आत्मा के अर्थ में किया है। जीव के अर्थ में नहीं। प्रत्येक पुरुष बुद्धि तथा अहङ्कार आदि के संयोग होने के बाद जीव कहलाता है। बुद्धि इत्यादि से असंयुक्त आत्मा या पुरुष को हम जीव नहीं कह सकते। सारांश यह की सोपाधि पुरुष ही जीव है[२] और उपाधिराहित स्थित में जीव को जीव नहीं कहा जा सकता। उस स्थित में वह पुरुष या आत्मा कहलाता है। निरुपाधि आत्मा को पुरुष या चित् या परमात्मा या चिति या आत्मा कहते हैं और उपाधियुक्त आत्मा को अपरात्मा या जोव संज्ञा दी जाती है[३]। जीव शब्द की सार्थकता इस तरह सिद्ध की गई है कि 'जीव' धातु बलप्राणधारण अर्थ में व्युत्पन्न होती है।[४] और यह प्राणधारण शुद्ध पुरुष या आत्मा में असम्भव है। अतः यह प्राणधारणरूप धर्म अहङ्कारविशिष्ट पुरुष में सिद्ध हुआ। इस प्रकार से अन्तःकरणोपाधि से अवच्छिन्न पुरुष जीव है।[५] इससे स्पष्ट होता है कि जीवों का उपलक्षण अहङ्कार है।

एक शङ्का यह उठती है कि अभी पिछले पृष्ठों पर विज्ञानभिक्षु कृत उपाधियों का खण्डन दिया गया है और यहाँ पर जीवों को फिर भी सोपाधि-

---

१. अतोऽद्वैतवाक्या निनाखण्डतापराणि, न्यायानुग्रहेण बलवतीर्भिर्भेदग्राहक श्रुतिस्मृतिर्विरोघा च्च किन्त्ववैघर्म्यलक्षणाभेदपराण्येव।— सां० प्र० भा० पृ० ७४-७५

२. तथान्तकरणैर्योगाज्जीव इत्युच्यते चिति : ॥ २२ ॥— सां० सा० पृ० ३३

३. अत आत्मावधित्वेन परमात्मोच्यते चितिः।— सां० सा० पृ० ३३

४. जीवबलप्राणनयोरिति व्युत्पत्याजीवत्वं प्राणित्वम्। तच्चाहंकार विशिष्ट पुरुषस्यधर्मो। न तु केवलपुरुषस्य। कुतः ? अन्वयव्यतिरेकात् अहङ्कारवतामेव सामर्थ्यातिशय-प्राणधारणयोर्दशनात् ॥— सां ०प्र० भा० पृ० १६५

५. तथाचान्तःकरणोपाधिकं जीवस्यपरिच्छिन्नत्वं परमात्माख्यात्केवल-पुरुषाद्भिन्नत्वम् चेति भावः।— सां० प्र० भा० पृ० १६५

आत्मा कहा जा रहा है। इसका उत्तर यह है कि विज्ञानभिक्षु ने उपाधियों का खण्डन कहीं नहीं किया, उन्होंने अनेक उपाधियों के संयोग के द्वारा आत्मा की अखण्डता-प्रतिपादन के सिद्धान्त का खण्डन किया है। इनके मत में आत्मा या पुरुष भी अनेक हैं और उपाधियाँ भी अनेक हैं। उनका संयोग ही बन्धन है। सभी जीव उस उपाधिसंयोगरूपबन्धन से जकड़े हुए हैं। इन्हीं उपाधि के बन्धनों की आत्यन्तिकनिवृत्ति ही जीवों का मोक्ष है।

## पुरुष और ईश्वर

प्रायः लोग यह कहते हैं कि विज्ञानभिक्षु सेश्वरसांख्यवादी थे। वास्तविकता कुछ और है। सांख्य में ईश्वर की सत्ता मानी गई है—ऐसा वे हर्गिज नहीं स्वीकार करते। सांख्य-प्रवचनभाष्य की भूमिका में उन्होंने सांख्य का निरीश्वर होना बताया है।[1] उन्होंने इस निरीश्वरता को सांख्य की दुर्बलता कहा है।[2] उनकी धारणा है कि 'नास्ति सांख्यसमंज्ञानम्' इत्यादिस्मृतिवाक्य सांख्य के विवेक वाले भाग की दृष्टि से कहे गए हैं। ईश्वरप्रतिषेध वाले अंश की दृष्टि से नहीं।[3] उस प्रसङ्ग में तो सांख्य का अप्रामाण्य ही मानना चाहिए।[4]

सांख्यशास्त्र में ईश्वर की मान्यता न होने के कारण आचार्य विज्ञानभिक्षु को थोड़ी-सी खिजलाहट अवश्य थी जो उनके मङ्गलाचरण के चतुर्थ[5] श्लोक में भली-भाँति झलकती है। चाहे वह परमतत्त्व ईश्वर कहा जाय या सांख्य-कारिका के व्याख्याकारों के द्वारा अनीश्वर कहा जाय, आचार्य विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि वस्तु तो चिन्मात्र और एकरस सिद्ध ही है। वही चित्सामान्य है। इसीलिए

---

१. 'यं न पश्यन्ति—व्रज इत्यादिकौर्मवाक्यैः सांख्यनामीश्वराज्ञानस्यैव ना-रायणादिनाप्रोक्तत्वाच्च।—सां० प्र० भा० पृ० ३

२. अतः सावकाशतया सांख्यमेवेश्वरप्रतिषेधांशे दुर्बलमिति।—सां० प्र० भा० पृ० ४

३. 'नास्तिसांख्यसमंज्ञानम्।' इत्यादिवाक्य तद्विवेकांश एवसांख्यज्ञानस्य दर्शनान्तरेभ्युत्प्रकर्षप्रतिपादयति, नत्वीश्वर-प्रतिषेधांशेऽपि।—सां०प्र० भा० पृ० ३

४. 'अक्षपाद-हितौ।' इतिपराशरोपपुराणादिभ्योऽपि ब्रह्ममीमांसाया ईश्वरांशे बलवत्वम्॥—स० प्र० भा० पृ० ३

५. ईश्वरानीश्वरत्वादिचिदेकरसवस्तुनि।
विमूढा यत्र पश्यन्ति तदस्मि परमं महः॥ ४ ॥—सां० प्र० भा० मंगलाचरणम्

सांख्य में ईश्वर की मान्यता के अभाव के कारण 'कारणब्रह्म' के रूप में निर्गुण पुरुष-सामान्य ही स्वीकृत किया जाता है।[1] स्वशक्तिभूतप्रकृतिरूप उपाधि को धारण करके वह जगत् का निमित्तकारण बनता है। यह चित्सामान्य नित्य है। इससे विश्व के रूप में सत्त्वादिशक्तियाँ विकसित होती है। अंश रूप पुरुष भी अंश होने के कारण चित्सामान्य की शक्ति हैं और प्रकृति भी उसकी शक्ति है। इन दोनों प्रकार की शक्तियों के विकास का निमित्तकारण ईश्वरस्थानीय सामान्यचिति ही है। यह सिद्धान्त सांख्यसार के उत्तर भाग पचम परिच्छेद में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि चिन्मात्र के अनन्तशक्तिसागर में अधिष्ठित सत्त्वादि-प्रकृतिशक्ति पुरुषार्थ से प्रेरित हो कर विश्व के बुल-बुले के रूप में विकसित होती है।[2] अतः सांख्य मत से स्वीकृत चित्सामान्य ही योग और वेदान्त के ईश्वर का काम देता है। इसलिए सांख्य की निरीश्वरता को स्पष्टतः घोषित करते हुए भी आचार्य विज्ञानभिक्षु ने नामान्तर में एक ईश्वर [ या चित्सामान्य] सांख्य में भी आविष्कृत कर ही दिया है।[3] अतः सांख्य को कहने भर के लिए उन्होने निरीश्वर माना है परन्तु वस्तुतः उसे सेश्वरता की संभावना से युक्त कर दिया है। कदाचित् वे सांख्य की लुप्तप्राय सेश्वरवादी विचारधारा से भी परिचित थे।[4] परन्तु कापिल सांख्य को वे सदैव निरीश्वर ही कहते हैं। इस निरीश्वरता के बावजूद उन्होंने कापिलसांख्य को ही सांख्यविवेचन का आधार माना है। इस प्रकार से स्वयं सेश्वरवादी होने पर और सांख्य की एकदेशीसेश्वरधारा से परिचित होने पर भी विज्ञानभिक्षु सेश्वर सांख्यवादी नहीं थे क्योंकि प्रसिद्ध कापिल सांख्य को वे सर्वत्र निरीश्वर ही घोषित करते रहे हैं। ईश्वरवादी होना एक बात है किन्तु सेश्वरसांख्यवादी होना उससे सर्वथा भिन्न बात है। विज्ञानभिक्षु स्वयं तो ईश्वरवादी थे किन्तु सांख्य को सेश्वर नहीं मानते थे। फिर भला उन्हें सेश्वर सांख्यवादी कैसे कहा जा सकता है? जो सांख्य को सेश्वर न कहे, प्रत्युत निरीश्वर कहे, वह सेश्वरसांख्यवादी कैसा ?

---

१. अत्र शास्त्रे कारण-ब्रह्मतु पुरुषसामान्यं निर्गुणमेवेष्यते, ईश्वरानभ्युपगमात्। तत्र च कारणशब्दःस्वशक्तिप्रकृत्युपाधिको वा निमित्त-कारणतापरो वा पुरुषार्थस्य प्रकृति-प्रवर्तकत्वादिति मन्तव्यम्॥—सां० प्र० भा० पृ० १६६

२. द्रष्टव्य, सां० सा० पृ० ३२

३. पुमानेव जगत्कर्ता जगद्भर्ताऽखिलेश्ववरः।—सां० सा० पृ० ३२

४. सेश्वरे सांख्यवादेऽपि चितेरेवानुमन्यतेता परेवापरमात्वादिकंतुन जड़े-क्वचित्॥—सां० सा० पृ० ३६

उन्होंने सांख्य में अनेक कार्येश्वर स्वीकार किए हैं। प्रकृति लीन जीव दूसरे सर्गों के आरम्भ में ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि नाम से ईश्वर होते हैं। परन्तु ये ईश्वर नित्येश्वर या वास्तविक ईश्वर नहीं हैं, प्रत्युत जीव कोटिक हैं।[१] इनका ऐश्वर्य परिमित होता है। ये जन्येश्वर हैं। सांख्य सूत्रकार ने इन्हें लौकिकेश्वर भी कहा है। निर्गुण चित्सामान्याधिष्ठान में प्रकृति का जो प्रथम विकास होता है वही महत् कहलाता है। यही महत्[२] कभी विष्णु, कभी नारायण और कभी हिरण्यगर्भ रूप से उस सृष्टि के अन्त तक के लिए लौकिकेश्वर रहता है। इसका ऐश्वर्य नित्य नहीं होता। अहङ्काकारोपाधिक दोनों देव ब्रह्मा और शिव भी लौकिकेश्वर माने गए हैं।[३] किन्तु इन ईश्वरों के ऐश्वर्य की अनित्यता के कारण आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्यशास्त्र को निरीश्वरवादी ही बताया है।[४]

---

१. विष्णवादयोमहैश्वर्यभुञ्जाना अपि नाधिकाः मत्तोऽतोऽतंतदैश्वर्यैर-विवेकिजनप्रियैः।—सां० सा० पृ० ४१

२. महदाख्यः स्वयम्भूय जगदंकुर ईश्वरः। सर्वात्मने नमस्तमै विष्णवे-सर्वंजिष्णवे।—सां० सा० पृ०१

३. अहंकारोपाधिक-ब्रह्मरुद्रयोःसृष्टिसंहारकर्तृत्वं श्रुतिस्मृतिसिद्धम-पिप्रतिपादितम्।—सां० प्र० सा० पृ० १६६

४. अस्मच्छास्त्रे च ब्रह्मशब्दऔपाधिकपरिच्छेदमालिन्यादि-रहितपरिपूर्ण-चेतनसामान्यवाची, न तु ब्रह्ममीमांसायामिवेश्वर्योपवक्षितपुरुष-मात्रवसितिविवेत्कव्यम्॥—सां० प्र० भा० पृ० १४८

# प्रकृति-विचार

## प्रकृति का स्वरूप

सत्त्व, रजस् और तमस् नाम के तीनों गुणों को आचार्य विज्ञानभिक्षु द्रव्य कहते हैं।[१] इन तीनों द्रव्यों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। साम्यावस्था का अर्थ है अन्यूनतया अनधिकावस्था। अर्थात् तीनों द्रव्यों का अन्यूनाधिक भाव से रहना ही सन्तुलितसाम्यावस्था है। साम्यावस्था में तीनों सत्त्वादिद्रव्यों की अकार्यावस्था रहती है। सांख्याचार्यों ने सत्त्वादि तीनों गुणों की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहा है[२]। इस परिभाषा से एक शङ्का उठती है कि यदि सत्त्वादि की साम्यावस्था ही प्रकृति है तो सृष्ट्यादि काल में जब यह साम्यावस्था नष्ट हो जाती है तथा गुणों में वैषम्य आ जाता है उस समय प्रकृति नष्ट हो जानी चाहिए।[३] इस शङ्का को समाहित करते हुए विज्ञानभिक्षु ने प्रकृति की यह परिभाषा दी है —(अकार्यावस्था) साम्यावस्था से उपलक्षित सत्त्वादि तीनों गुण ही प्रकृति हैं।[४] अकार्यावस्थोपलक्षितं गुणसामान्यं प्रकृतिरित्यर्थः।[५] सां० प्र० भा० पृ० ३३। स्मृतियों ने भी गुणों को ही प्रकृति माना है न कि उनकी अवस्था को।[६]

इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रकृति सत्त्वादिकों की साम्यावस्था न होकर साम्यावस्था से उपलक्षित[७] सत्त्वादिगुणत्रय ही सामान्यतः प्रकृति हैं। इस प्रकार

---

१. सत्त्वादीनि द्रव्याणि न वैशेषिकाःगुणाःसंयोगविभागवत्वात्।—सां० प्र० भा० पृ० ३३

२. 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, प्रकृतिः।'—सांख्य सूत्र १।६१

३. यथाश्रुते वैषम्यावस्थायां प्रकृतिनाशप्रसङ्गात्।—सां० प्र०भा०पृ० ३३

४. सत्त्वादीनामनुगमाय सामान्येति। पुरषव्यावर्तनाय गुणेति। महदादि-व्यावर्तनाय चोपलक्षिततान्तमिति।—सां० प्र० भा० पृ० ३३
सा च साम्यावस्थयोपलक्षितं सत्त्वादिद्रव्यत्रयम्॥—सां० सा० पृ० १०

५. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ३३

६. सत्वं रजस्तम इति एषैव प्रकृतिः सदा।
एषैव संसृतिर्जन्तोरस्याः पारे परं पदम्॥ सां० प्र० भा० पृ० ३३ पर उद्धृत, स्मृति।

७. वैषम्यावस्थायामपि प्रकृतित्वसिद्धय उपलक्षितमित्युक्तम्।—सां० सा० पृ० १०

कहने से प्रकृति-नाश का प्रसङ्ग भी नहीं उपस्थित होता क्योंकि सत्त्वादित्रय नष्ट नहीं होते। स्पष्ट है कि प्रकृति सत्त्वादि से भिन्न कोई आधारभूत अलग वस्तु नहीं है। प्रकृति के गुण 'इस प्रकार के वाक्यों का अर्थ 'वन के वृक्ष' इस प्रकार से समझना चाहिए। यहाँ पर षष्ठो विभक्ति भिन्नार्थता की द्योतक नहीं है। योगसूत्र और योगभाष्य में भी गुणों को ही प्रकृति माना गया है।[1] सां० प्र० भा० के छठवें अध्याय में ३९ वें सूत्र का भाष्य करते समय विज्ञानभिक्षु ने जोरदार शब्दों में कहा है कि यद्यपि श्रुतियों और स्मृतियों में दोनों प्रकार के वाक्य पाए जाते हैं तथापि तर्कतः सत्त्वादिकों को प्रकृति का स्वरूप ही मानना चाहिए, धर्म नहीं। अतः प्रकृति सत्त्वादि से अलग स्थित नहीं है। इसके लिए एक और साधक तर्क है[2] कि जब महदादि सारे कार्यों की उत्पत्ति सत्त्वादि गुणों से ही हो जाती है तो उत्पत्ति के लिए उनसे अलग स्थित किसी पदार्थ को कल्पना क्यों की जाय ? अतः साम्यावस्थोपलक्षित गुण-त्रय ही प्रकृति हैं यह निश्चित हुआ।

## प्रकृति का वर्णन

शाब्दी व्युत्पत्ति बताते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि प्रकृष्टाकृतिः परिणामरूपा अस्या इति प्रकृतिः।[3] यह अजशक्ति है। इसे 'प्रधीयतेऽस्मिन् हि कार्यजातमितिप्रधानमुच्यते'[4] इस आधार पर 'प्रधान' भी कहते हैं। महत् इत्यादि तत्त्वों के सुखादि रूप गुणत्रयों का साक्षात्कार होता है इसलिए इन्हें व्यक्त कहा जाता है और इसी तुलना में मूलप्रकृति को साक्षात्कृत न होने के कारण 'अव्यक्त' भी कहते हैं। पुरुष से भिन्न होने के कारण इसे 'अनात्मतत्त्व' भी कहते हैं। सभी महदादि विशेषों का उपादान कारण यह मूल प्रकृति है। पुरुष कूटस्थनित्य तथा अपरिणामी है इसलिए वह महदादि पदार्थों का मूल कारण नहीं बन सकता[5]। यदि यह प्रश्न किया जाय कि जैसे महदादि पदार्थों

---

१. योगसूत्रतद्भाष्याभ्यामपि गुणानामेव प्रकृतित्वचनाच्च।—सां० सा० पृ० १०

२. गुणेभ्य एष कार्योत्पत्तौ तदन्यप्रकृति-कल्पनावैयर्थ्याच्च।—सां० सा० पृ० १०

३. द्रष्टव्य, सां० सा० पृ० १०

४. द्रष्टव्य, सां० सा० पृ० ६२

५. पुरुषस्यापरिणामित्वात्।—सां० प्र० भा० पृ० ४०

का कोई अन्य कारण मानते हैं वैसे ही प्रकृति का भी कोई अन्य कारण क्यों नहीं मानते ? इसका उत्तर देते हुए आचार्य ने स्पष्ट किया है कि इस कारणता में अनवस्था होगी इसलिए जहाँ आप इस कारणता का पर्यवसान मानें वही हमारे द्वारा सिद्धान्तित प्रकृति है ।[1] प्रकृति का सामान्य ज्ञान हमें सामान्यतोदृष्ट अनुमान से होता है और उसकी विशेषताएँ शास्त्र, श्रुतिस्मृति और योग-जप्रत्यक्ष से जाननी चाहिए ।[2] प्रकृति के विषय में इस प्रकार से अनुमान का प्रयोग होगा—

सुखदुःखमोहात्मकमहदादिव्यक्तकार्य किसी सुखदुःखमोहात्मकद्रव्य के कार्य हैं ।

सुखदुःखमोहात्मक होने के कारण ।
वस्त्रादि से बने हुए विस्तरों की तरह ।[3]

इस प्रकार से सामान्यतः अनुमित द्रव्य प्रकृति ही है । ऐसा श्रुतियों ने कहा है । इसी को माया भी कहा गया है ।[4] परन्तु शंकरानुयायी वेदान्तियों के द्वारा प्रतिपादित माया और अविद्या की एकार्थता पर आचार्य को भारी आपत्ति है । क्योंकि अविद्या तो ज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाती है, पर माया या प्रकृति तो नित्य है । अतः अविद्या और माया अलग-अलग हैं । वस्तुओं की मूलकारण भूत माया या प्रकृति है । वह नित्य है । पर यह नित्यता पुरुष कोटि की नहीं है । पुरुष कूटस्थ नित्य है, एकरस है, उसमें कभी भी रूप-परिवर्तन नहीं हो सकता । यही उसकी कूटस्थनित्यता है । प्रकृति एकरस नहीं रह सकती उसकी साम्यावस्था में वैषम्य आता है । इसी से गुणत्रय महदादि रूपों में अनवरत रूप से परिणत या व्यक्त होते रहते हैं । इस प्रकार से प्रकृति में सदा परिवर्तन या परिणमन होता रहता है फिर भी वह सदा रहती है । कभी नष्ट नहीं होती । परिणाम के साथ-साथ प्रकृति में सर्वदा स्थायित्व है अतः प्रकृति में

---

१. अतो यत्र पर्यवसानं सैव नित्याप्रकृतिः । प्रकृतिरिह मूलकारणस्य संज्ञामात्रम्‌इत्यर्थः ।—सां० प्र० भा० पृ० ४०
२. एवं सामान्यदतोऽनुमितायाः, प्रकृतेर्विशेषः शास्त्राद् योगाच्चावगन्तव्याः अनुमानस्य सामान्यमात्रविषयकत्वात् । - सां० सा० पृ० १३
३. द्रष्टव्य, सां० सा० पृ० १३ और सां० प्र० भा० पृ० ३७
४. मायां तु प्रकृतिं विद्यात् । श्वेताश्वतरोपनिषद् का उद्धरण,—सां० प्र० भा० पृ० ४१
मायाशब्देन च प्रकृतिरेवोच्यते ।—सां० प्र० भा० पृ० ४१

परिणामिनित्यता मानी गई है। मायावादियों के द्वारा प्रस्तावित किए गए उरग और रज्जु के दृष्टान्त से आचार्य विज्ञानभिक्षु ने माया या प्रकृति की नित्यता ही सिद्ध की न है कि अनित्यता । उनका कथन है कि प्रकृति सर्प तुल्य है और पुरुष रज्जु तुल्य।[1] रज्जु रूपी पुरुष भी सत् है और सर्परूपी प्रकृति भी। असत् या अनिर्वचनीय दोनों में से एक भी नहीं है । दोनों की अलग-अलग सत्ता है। असत् है केवल सर्प रूपी प्रकृति का रज्जु रूपी पुरुष पर आरोपण। यही मिथ्या आरोप ही अहङ्कार और ममकार उत्पन्न करता है और इस प्रकार से यही दुःख का कारण है, बन्धनजनक है और विवेकख्याति के द्वारा सर्वदा निवारणीय है। यही एक का दूसरे पर समारोप ही अविद्या है, अविवेक है, तुच्छ है, और सदा हेय है। अतः अहि-रज्जु के दृष्टान्त से आदि को तुच्छ समझना बिल्कुल भ्रान्त धारणा है। दो अलग-अलग स्थित वस्तुओं में से एक के दूसरे पर किए गए आरोप को तुच्छ या मिथ्या समझना चाहिए।[2] इस प्रकार प्रकृति भी पुरुष की भाँति सत् और नित्य है। भले ही यह नित्यता पुरुष की भाँति कूटस्थता रूप न हो कर केवल परिणामिनित्यता ही हो। 'वाचारम्भणं विकारोनामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'[3] इस श्रुति से परिवर्तन से व्यक्त होते हुए विकारों की नाम मात्र सत्ता होने पर भी उपादानभूत मृद्रूपी प्रकृति की नित्यता ही बताई गई है।[4]

चूँकि प्रकृति सकल पदार्थों की उपादान है अतः हम उसे परिच्छिन्न नहीं कह सकते। यह व्यापक है, विभु है। इस कथन पर एक स्वाभाविक शंका होती है कि गुणत्रय ही प्रकृति है, और ये गुणत्रय लघुता, गुरुता, चंचलता आदि से युक्त होने के कारण परिच्छिन्न ही होते हैं, तो फिर प्रकृति को विभूति कैसे माना जा सकता है आचार्य ने इस शङ्का का समाधान यह दिया कि परिच्छिन्न होने का अर्थ है—दैशिक अनुपस्थिति की प्रतियोगिता के अवच्छेदक से अवच्छिन्न

---

१. उरगतुल्यत्वं चाप्रधानस्य रज्जुतुल्ये पुरुषे समारोपणादिति । एवं-विधरज्जुसर्पादि-दृष्टान्तानामाशयमबुद्ध्वैवाऽबुधाः केचिद् वेदान्तिब्रुवाः प्रकृतेरत्यन्ततुच्छत्वं मनोमात्रत्वं वा तुलयन्ति ।—सां० प्र० भा० पृ० ११०

२. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ११०

३. द्रष्टव्य, छान्दोग्यपनिषद् ६।१।४

४. एतेन प्रकृतिसत्यतावादिसांख्योक्तदृष्टान्तेन श्रुतिस्मृत्यर्था बोधनीयाः न केवलं दृष्टान्तवत्वेनायमर्थः सिद्ध्यति ।—सां० प्र० भा० पृ० ११०

होना। दैशिक अनुपस्थिति अर्थात् किसी देश या स्थान के अभाव का प्रतियोगी है। उस देश या स्थान का भाव अर्थात् तद्देश की उपस्थिति, उसका अवच्छेदक हुआ तद्देशभावत्व, उससे अवच्छिन्न होना अर्थात् तद्देशीय होना। केवल तद्देशीय (Local) ही होना परिच्छिन्न होना है।[1] और ऐसा न होना अर्थात् तद्देशीय होने के साथ साथ तद्भिन्नदेशीय होना विभु होना है। प्रकृति सारे जगत् का उपादान कारण है, इसलिए वह सब स्थानों पर उपस्थित रहने की सामर्थ्य से युक्त है, अतः प्रकृति में विभुत्व या व्यापकत्व स्पष्टतः सिद्ध है। यद्यपि प्रकृति से स्वतः सृष्टि होती है तथापि उसका प्रयोजन पुरुष का भोगार्थ वर्ग ही है, जैसे ऊँट अपने स्वामी के लिए केसर का बोझ ले जाया करता है अपने लिए नहीं; क्योंकि प्रकृति स्वयम् अचेतन और अभोक्ती है अतः उसकी क्रिया अपने लिए नहीं हो सकती। फिर भी यदि प्रकृति का कुछ स्वार्थ कहा जाय तो वह केवल पुरुष का भोगापवर्ग रूपी परार्थ ही है। इसी परार्थ या पुरुषार्थ को ही उसका स्वार्थ समझना चाहिए।[2]

अन्य सांख्याचार्यों की भाँति सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को मानते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भी महदादि सभी व्यक्त पदार्थों की उत्पत्ति अव्यक्त प्रकृति से मानी है क्योंकि भावात्मक तत्त्व से ही भावात्मक वस्तुओं की सृष्टि सम्भव है। 'नेति नेति' वाले श्रुतिवाक्य जगत्प्रपञ्च की तुच्छता नहीं बताते बल्कि पुरुषतत्त्व की उससे विविक्तता प्रतिपादित करते हैं।[3] कर्म इत्यादि से भी महदादि संसार की सृष्टि नहीं हो सकती, क्योंकि कर्मादि केवल निमित्त कारण हो सकते है। उपादान कारण नहीं।[4] कर्माशय धर्माधर्मरूप होते हैं द्रव्यात्मक वस्तुओं का उपादान बन सकना उनके लिए सम्भव नहीं। अविद्या भी द्रव्य को उत्पन्न नहीं

---

१. परिच्छिन्नत्वमत्र दैशिकाभावप्रतियोगितावच्छेदकाऽवच्छिन्नत्वम्। तदभावश्च व्यापकत्वम्।—सां० प्र० भा० पृ० ४३

२. स्वार्थो हि प्रधानस्य कृतभोगापवर्गात् पुरुषादात्मविमोक्षणम् इति। —सां० प्र० भा० पृ० १०८

३. नेति नेति इत्येवंविधवाक्यानि च विवेकपराण्येव, न तु स्वरूपतः प्रपञ्चनिषेधपराण्येव।—सां० प्र० भा० पृ० ४४

४. कर्मणोऽपि न वस्तुसिद्धिर्निमित्तकारणस्य कर्मणो न मूलकारणत्वं, गुणानां द्रव्योपादानत्वयोगात्।—सा० प्र० भा० पृ० ४४

कर सकती क्योंकि वह भी तो केवल धर्माधर्मरूप ही है, द्रव्य रूप नहीं।[1] पुरुष केवल चिन्मात्र है। अचित् वस्तुओं की उत्पत्ति उससे भला कहाँ सम्भव है? अतः निश्चय ही महदादि का मूल कारण द्रव्यात्मक प्रकृति ही हो सकती है। जिस प्रकार से वैशेषिक मत में परमाणुओं को घटादि कार्यों का कारण केवल द्व्यणुकादि के माध्यम से कहा जाता है वैसे ही समस्त स्थूल जगत् का कारण प्रकृति महदादि की परम्परा के माध्यम से कही गई है। इसीलिए प्रकृति को समस्त पदार्थों का मूल कारण भी कहते हैं।

प्रकृति एक है अथवा पुरुष की भांति अनेक? विज्ञानभिक्षु का कहना है कि जितनी सृष्टियाँ हुई हैं या होंगी उन सबके मूल में मूलप्रकृति होनी चाहिए। इस प्रकार से अनेक या अनन्त सृष्टियों के मूल में अनेक या अनन्त प्रकृतियां हुईं।[2] इस विचारणा के प्रसंग में ईश्वर कृष्ण की कारिका[3] में प्रतिपादित प्रकृति की एक संख्या कैसे मानी जा सकती है? दोनों स्थितियों का समन्वय करते हुए आचार्य ने स्पष्ट किया है कि—

सभी सृष्टियों की मूल प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न नहीं हैं। वस्तुतः वे अभिन्न हैं। किन्तु उस मूल प्रकृति की व्यक्तियाँ हर सर्ग में अलग रहती हैं। जैसे एक ही वृक्ष ऋतुभेद से भिन्न-भिन्न सा व्यक्तित्व ग्रहण करने पर भी स्वयम् अभिन्न रहता है। वैसे ही प्रकृति भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होने पर भी स्वयम् अभिन्न रहती है। इस प्रकार से प्रकृति के अनेक व्यक्तित्व को स्वीकार करने पर भी प्रकृति के एकत्व सिद्धान्त की क्षति न समझनी चाहिए।[4] 'प्रकृति का यह अनेक-व्यक्तित्व पुरुष-बहुत्व के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न प्रकार का है क्योंकि प्रत्येक पुरुष अन्य

---

१. अत्र कर्मशब्दोऽविद्यादीनामप्युपलक्षकःगुणत्वाऽविशेषेण तेषामप्युपादानत्वायोगत्।—सां० प्र० भा० पृ० ४४

२. महान्तं च समावृत्य प्रधानं समवस्थितम्।
अनन्तस्य न तस्यान्तःसंख्यानं चापि न विद्यते॥ विष्णुपुराणम्।

३. हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥—साङ्ख्यकारिका १०

४. अतःप्रकृतेरनेकव्यक्तिकत्वेऽपिनैकत्वक्षतिः।—सा० प्र० भा० पृ० ६३

पुरुषों से भिन्न है जैसे पृथ्वी का एक खण्ड दूसरे से भिन्न होता है। किन्तु एक सर्ग की प्रकृति दूसरे सर्गों की प्रकृति से भिन्न नहीं है। इस प्रकार प्रकृति बहुत्व न होकर प्रकृति व्यक्तित्व बहुत्व ही माना जाता है।[१] अनेक पुरुषों के बीच सजातीय भेद होता है जब कि प्रकृति सर्वथा अभिन्न और एक होती हुई नाना व्यक्तित्वों वाली होती है।[२]

---

१. विष्णुपुराणेनासंख्येयतावचनात् तु प्रधानस्य व्यक्तिबहुत्वसिद्धिरिति।
—सां० प्र० भा० पृ० ६३

२ अनैकत्वं सर्गभेदेप्यभिन्नत्वम्।—सां० प्र० भ० पृ० ६३

# गुण-स्वरूप

प्रकृति त्रिगुणों का ही समवेत नाम है। इन गुणों के स्वरूप का विवेचन भी आवश्यक है। इस विषय पर विज्ञानभिक्षु का मत है कि सत्त्वादि तीनों गुण वैशेषिकमताभिमत शब्दस्पर्शादि गुणों से सर्वथा भिन्न हैं। सत्त्वादिगुण नाम मात्र के लिए गुण हैं। वस्तुतः इन्हें द्रव्य कहना चाहिए। गुण शब्द का प्रयोग सत्त्वादि के लिए भ्रामक है। इनकी द्रव्यता के लिए ये प्रामाण हैं—

१—सत्त्वादि में संयोग और विभाग नामक धर्म हैं, संयोगादि धर्मों को धारण करना द्रव्य के लिए ही सम्भव है, गुणों के लिए नहीं। अतः सत्त्वादि द्रव्य ही हैं गुण नहीं।[1]

२—वैशेषिक गुण किसी द्रव्य के उपादान कारण नहीं वन सकते।

३—ये सत्त्वादि वस्तुएँ लघुत्व चलत्त्व तथा गुरुत्त्व आदि धर्मों से युक्तधर्मी हैं। धर्मी होने के कारण भी इन्हें द्रव्य समझना चाहिए।[2]

यह स्पष्ट हो जाने पर कि सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों द्रव्य ही हैं, यह शंका स्वाभाविक रीति से उठती है कि इन्हें द्रव्य संज्ञा न दे कर सांख्याचार्यों ने गुण क्यों कहा है? इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि—

१—चूँकि ये तीनों द्रव्य पुरुष का बन्ध, मोक्ष या भोगापवर्ग रूपी उपकार करते हैं इसलिए पुरुष के उपकरण होने के कारण इन्हें गुण कहा गया है।[3]

२—गुण का अर्थ रज्जु भी होता है। पुरुष रूपी पशु को बाँधने के लिए त्रिगुणात्मक महदादि रूप रज्जु प्रवृत्त होती हैं। इसलिए भी इन द्रव्यों की गुण संज्ञा अन्वर्थ होती है।[4] महदादि रूप प्रकृति-रज्जु हुई और तीनों गुण उसके तीन

---

१. सत्त्वादीनि द्रव्याणि न वैशेषिका गुणाः संयोगाभिवगवत्वात्।
—सां० प्र० भा० पृ० ३२

२. लघुत्वोज्वलत्वगुरुत्वादिधर्मकत्वाच्च।—सां० प्र० भा० पृ ३३

३. तेष्वत्र शास्त्रे श्रुत्यादौ च गुणशब्दःपुरुषोपकरणत्वात्।—सां० प्र० भा० पृ० ३३

४. गुणशब्दः — पुरुषपशुवन्धकत्रिगुणात्मकमहदादिरज्जुनिर्मितृत्वाच्च प्रयुज्यते।—सां० प्र० भा० पृ० ३३

डोरे हैं जिनके मिलने से यह प्रकृति-रज्जु बनी हुई है। इस प्रकार से जितना जड़ जगत् है वह यही तीन गुण हैं। तीनों गुण अव्यक्तावस्था में प्रकृति कहलाते हैं और व्यक्त दशा में स्थूलता के क्रम से महत्, अहंकार, तन्मात्रा, भूत, इन्द्रिय आदि नाम से कहे जाते हैं। गुण अव्यक्त दशा में कारणावस्था या अकार्यावस्था[1] में रहते हैं और व्यक्त दशाओं में कार्यावस्था में। बस इतना ही अन्तर दोनों दशाओं के बीच समझना चाहिए।

ये तीनों गुण शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि से रहित होते हैं। स्वाभाविक शङ्का यह उठती है कि जब ये शब्दस्पर्श आदि धर्म कारणभूतसत्त्वादि गुणों में नहीं हैं तो विकार्य द्रव्यों में कहाँ से आ जाते हैं। पुरुष चिन्मय और अविकारी है। इसलिए उसके सम्पर्क से भी ये नए धर्म नहीं आ सकते। इसका समाधान यह है कि इन तीनों द्रव्यों के विशिष्ट प्रकार के संयोग होने से ही ये नाना धर्म उत्पन्न हो जाते है।[2] उदाहरण के लिए हम हल्दी और चन्दन लें[3]। न तो हल्दी लाल होती है और न चूना या चन्दन। फिर उन दोनों के विशेष-संयोग से लालिमा उत्पन्न हो जातो है। इस प्रकार संयोग को ही रूपादि का कारण मानने में प्रत्यक्ष और अनुमान से भी सहायता मिलती है। वैशेषिक मतवालों ने इस महत्त्वपूर्ण बात को न समझ कर यह माना है कि मूल तत्त्व परमाणुओं में रूपादि धर्म होते है।[4] सच बात तो यह है कि अनजाने में वे लोग भी सांख्य सिद्धान्त ही अपनाते हैं। वे भी त्रसरेणुओं में महत् परिमाण का कारण अवयवबहुत्वरूपी संयोग ही मानते हैं। वस्तुतः मूलतत्त्वभूत परमाणु में रूपादि की कल्पना तर्क की कमी की ही द्योतक है।

सत्त्वादि गुणों में गुरुत्व, लघुत्व, चलत्वादि की मान्यता देखकर आपाततः यह प्रतीत होता है कि ये गुण विभु नहीं हैं बल्कि परिच्छिन्न ही हैं। परन्तु जैसा कि हम सिद्ध कर आए हैं कि परिच्छिन्न होना, स्थान पर अनुपस्थिति

---

१. अकार्यावस्थोपलक्षितं गुणसमान्यं प्रकृतिरित्यर्थः—सां०प्र०भा० पृ० ३३

२. स्वकारणद्रव्याणां न्यूनाधिकभावेनान्योऽन्यं संयोगविशेष एव। —सां० प्र० भा० पृ० ३५

३. हरिद्रादीनां संयोगस्य तदुभयारब्धद्रव्यैरक्तरूपादिहेतुदर्शनात्। —सां० प्रं० भा० पृ० ३५

४. दृष्टानुसारेण स्वाश्रयहेतुसंयोगानामेव रूपादिहेतुत्वसम्भवे तार्किकाणां परमाणुषु रूपकल्पनं तु हेयम्। त्रसरेणुमहत्त्वादावैक्यबहुत्वादेरवतैरपि हेतुत्वाभ्युपगमादिति दिक्।—सां० प्र० भा० पृ० ३५

की प्रतियोगिता के अवच्छेदक से अवच्छिन्न होना है[1] और वैसा न होना विभु होना है सत्त्वादि द्रव्य चूंकि संसार की सभी वस्तुओं के उपादान कारण हैं अतः उनमें स्थानीय अभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक से अवच्छिन्नता नहीं है। इसलिए सत्वादि-त्रय विभु या व्यापक सिद्ध होते हैं। उन्हें परिच्छिन्न समझना ठीक नहीं।

इन तीनों गुणों में पारस्परिक वैधर्म्य भी है। इन्हें बिल्कुल एक प्रकार का न समझ लेना चाहिए। इनकी यह भिन्नता इनके कार्यों में स्पष्ट दीख पड़ती है।[2] ये कार्य सुखात्मक दुःखात्मक तथा मोहात्मक होते हैं। यही सत्त्व, रजस् और तमस् की अलग-अलग विशेषताएँ या वैधर्म्य हैं। सत्त्व गुण प्रसाद, लाघव, अभिष्वङ्ग, प्रीति, तितिक्षा और सन्तोषादिरूप वाला तथा अनन्त भेद वाला है।[3] अतः संक्षेपतः हम इसे सुखात्मक कहते हैं। इसी प्रकार शोकादिक नाना भेदों से युक्त रजोगुण संक्षेपतः दुःखात्मक कहलाता है[4] और निद्रादि अनेक भेदों वाला तमोगुण संक्षेपतः मोहात्मक कहलाता है।[5]

एक बात इन गुणों के विषय में और जानने योग्य है कि ये तीनों गुण संख्या में केवल तीन ही नहीं है। अपितु व्यक्ति-भेद से अनन्त हैं।[6] इन्हें अनन्तव्यक्ति वाला न मानने से यह सिद्धान्त कभी उत्पन्न नहीं हो सकता कि गुणों के परस्पर मिश्रण वैचित्र्य से कार्यवैचित्र्य होता है। ये गुण विभु अवश्य माने ही गए हैं, किन्तु केवल विभु मानने से कार्यवैचित्र्य की सिद्धि

---

१. अत्रोच्यते परिच्छिन्नत्वमत्र दैशिकाभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न-त्वम्।—सां० प्र०भा० पृ० ४३

२. गुणानां सत्त्वादिद्रव्यत्रयाणामन्योऽन्यं सुखदुःखाद्यवैधर्म्यं, कार्येषु-तद्दर्शनात्।—सां० प्र० भा० पृ० ६३

३. यथासत्त्वं नाम प्रसादलाघवाभिष्वङ्गप्रीतितितिक्षासन्तोषादिरूपानन्त-भेदं समासतः सुखात्मकम्।—सां० प्र० भा० पृ० ६३

४. एवं रजोऽपि शोकादिनानाभेदं समासतो दुःखात्मकमिति।—सां० प्र० भा० पृ० ६३

५. एवं तमोऽपि निद्रादिनानाभेदं समासतो मोहात्मकमिति।—सां० प्र० भा० पृ० ६३

४. सत्त्वादित्रयमपि व्यक्तिभेदादनन्तम्।...अन्यथाहि विभुमात्रत्वे गुणविमर्दवैचित्र्यात् कार्यवैचित्र्यमितिसिद्धान्तो नोपपद्येत। विमर्दऽ-वान्तरभेदासम्भवात्।-- सां० प्र० भा० पृ० ६३

नहीं हो सकती, अनन्त इकाईवाले गुणों का मिश्रण-विशेष न मानने पर कार्यवैचित्र्य का कारण नहीं खोजा जा सकता। यह मिश्रण-विशेष या विमर्द-वैचित्र्य किसी चौथे प्रकार के अवान्तर गुण को नहीं उत्पन्न करता। गुण तो तीन ही प्रकार के रहते हैं क्योंकि यह विमर्द तीन प्रकार के गुणों का भिन्न-भिन्न मात्राओं में मिलन ही तो है। गुणों के असंख्य व्यक्तित्ववाले होने पर भी उन्हें तीन ही कहना जाति या सामान्य की दृष्टि से सगत है।

इन गुणों की अनन्तता की सिद्धि के लिए एक सुदृढ़ युक्ति यह है कि यदि सत्त्वादि तीनों क्रमशः एक ही एक हैं तो इनकी वृद्धि या इनका ह्रास कैसे सम्भव है ?[1] साथ व्यक्तित्रय होने के कारण ये परिच्छिन्नस्वरूप वाले गुण प्रकृति को भी परिच्छिन्न कर देंगे। ऐसी दशा में अनन्त ब्रह्माण्डों की स्थिति, उत्पत्ति और लय एक ही साथ कैसे बन पड़ेंगे। अतः ये असंख्य व्यक्तियों वाले हैं यही निश्चित सिद्धान्त है।

पूर्व-पृष्ठ पर कहा गया है कि असंख्य होने पर भी 'जातावेकवचनम्' के अनुसार उन्हें तीन बताया गया है। असंख्य सत्त्वगुणों में, लघुत्वादिधर्म की दृष्टि से साधर्म्य और रजोगुण तथा तमोगुणों से वैधर्म्य है। वैसे ही रजोगुण और तमोगुण की व्यक्तियों में भी अलग-अलग अपने-अपने वर्ग में परस्पर साधर्म्य तथा भिन्न जातीय व्यक्तियों से वैधर्म्य है। अब समस्या यह आती है कि मूल कारण को परिच्छिन्न संख्या से अतीत और अनन्त व्यक्तियों वाला मानने पर वैशेषिकों के द्वारा माने गए परमाणुओं से इनमें भेद ही क्या रह गया ? इस समस्या का हल विज्ञानभिक्षु ने इस प्रकार किया है कि सत्त्वादि तीनों गुण शब्दस्पर्श इत्यादि धर्मों से रहित हैं जब कि परमाणुओं में ये धर्म विशेष के माध्यम से उपस्थित माने गए हैं।[2]

---

१. गुणानां सत्त्वादीनामेकैकव्यक्तिमात्रत्वे वृद्धिह्रासादिकं नोपपद्यते।—सां० प्र० भा० पृ० ६३

२. नन्वेवं मूलकारणस्य परिच्छिन्नापरिच्छिन्नासंख्यव्यक्तित्वे वैशेषिकमतादत्र को विशेष इति चेत्। कारणद्रव्यस्य शब्दस्पर्शादिराहित्यमेव॥—सां० प्र० भा० पृ० ६४

# अविद्या

सृष्टि का निमित्त कारण न तो पुरुष है न प्रकृति, क्योंकि पुरुष सर्वथा असङ्ग और अविकारी है तथा प्रकृति स्वतः जड है। फिर आखिर कैसे पुरुष को बन्ध होता है और वह क्यों मोक्ष के द्वारा शुद्ध स्वरूप में अधिष्ठित होता है? इन सब प्रश्नों का एक उत्तर है कि अविद्या के कारण पुरुष प्रकृति के बन्धनों में फँसता और उस अविद्या के दूर होने पर वह अपने शाश्वत मुक्त तथा असङ्ग रूप में आसीन होता है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने इस अविद्या के सांख्यसम्मत स्वरूप को भलीभाँति प्रस्तुत किया है। बौद्धों तथा मायावादी वेदान्तियों के अविद्यासम्बन्धी मत का खण्डन करते हुए उन्होंने अपने सिद्धान्त को वक्ष्यमाण रीति से प्रस्तुत किया है।

मायावादीवेदान्तियों ने अविद्या को तुच्छ बताया है किन्तु यह बात बिल्कुल निराधार है[1] क्योंकि अद्वैतज्ञान होने के बाद भी बन्धन की निवृत्ति नहीं होती। भ्रान्त ज्ञान शुद्ध ज्ञान होने पर तुरन्त नष्ट हो जाता है परन्तु अद्वैत ज्ञान के बाद भी बिना योगाभ्यास किए अविद्या की निवृत्ति नहीं होती।[2] इससे यह स्पष्ट है कि अविद्या तुच्छ नहीं है अपितु यौगिक चेष्टाओं से दूर की जा सकती है यह स्मरणीय है कि यह दूर की जा सकती है किन्तु इसका आत्यन्तिक लोप नहीं किया जा सकता। यदि केवल आत्म-विज्ञान से अविद्या दूर हो जाती तो भला कौन कठोर योगाभ्यास करने का वृथा आयास करता। अतः अद्वैतज्ञान के साथ योगाभ्यास की सहकारिता भी उसमें अनिवार्य है। इस कारण से अविद्या को तुच्छ नहीं माना जा सकता।

मायावादियों ने अविद्या और माया की एकता को स्वीकार करते हुए अविद्या को सत् और असत् से परे अर्थात् अनिर्वचनीय बताया है। यह बात बिल्कुल असंगत है। किसी भी वस्तु को एक ही समय सत् और असत् से भिन्न अर्थात् भावात्मकता तथा अभावात्मकता से भिन्न कहना सर्वथा युक्तिविरुद्ध है।[3] यह तो स्ववचोविरोध है।

---

१. तस्माद्योगदर्शनोक्तादन्या नास्त्यविद्या। सा च बुद्धिधर्म एव न पुरुषधर्म इति सिद्धा।—सां० प्र० भा० पृ० १२६

२. अविवेको युक्तितः श्रवणतश्च न बाध्यते नोच्छिद्यते।—सां० प्र० भा० पृ० ३२

३. न तु ज्ञानराश्या अविद्यामायाशब्दार्थः।—सां० प्र० भा० पृ० ४१.

अविद्या को यदि बिल्कुल सत् माना जाय तो फिर अद्वैत की मान्यता का खण्डन होता है। यदि ब्रह्म की ही भाँति अविद्या भी सत् है तो फिर दो पारमार्थिक सत्ताएँ हुईं। अद्वैत कहाँ रह गया ? इन प्रश्नों का समाधान करते हुए विज्ञानभिक्षु ने अविद्या के विषय में यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया है कि अविद्या आत्मा या पुरुष की भाँति कूटस्थ नहीं है किन्तु फिर भी घटपटमठ आदि की भाँति वास्तविक है। इस प्रकार से प्रकृति की भाँति वास्तविकता अविद्या में माननी ही चाहिए, अतः यह अविद्या अभावरूप नहीं है। अपितु विद्या-विरोधी भावात्मक सत्ता है।[1] अविवेक और अविद्या एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। यह अविवेक वृत्ति रूप नहीं होता अपितु बीज-रूप या वासना-रूप का होता है।[2] योगभाष्यकार व्यास का भी यही मत है। इसको परिभाषा विज्ञानभिक्षु ने व्यतिरेक विधि से इस प्रकार की है कि यह अविवेक असंसर्ग को न ग्रहण करने वाला प्रकृतिपुरुष का अशुद्ध ज्ञान है।[3] प्रकृति और पुरुष की विविक्ता को न ग्रहण करनेवाला ज्ञान ही अविद्या है।[4]

अविद्या पुरुष के बन्ध का कारण है, यह चर्चा हो चुकी है। परन्तु अविद्यता की कारणता का स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ। बन्ध का साक्षात् कारण तो पुरुष और प्रकृति का संयोग है।[5] यह पुरुषप्रकृतिसंयोग स्वयं स्वाभाविक तो है नहीं। इस संयोग का कारण अविद्या है। इस प्रकार से अविद्या बन्ध का परम्परा से कारण बनी साक्षात् कारण नहीं। अविद्या से संयोग और संयोग से बन्ध हुए। मुक्त पुरुषों में अविद्या की प्रसक्ति नहीं होती इसलिए वहाँ प्रकृति-पुरुषसंयोग नहीं होता और इसीलिए उन्हें फिर कभी बन्ध नहीं

---

१. अत एव चाविद्या नाभावोऽपितु विधाविरोधिज्ञानान्तरम् ॥—सां० प्र० भा० पृ० २८

२. अस्मन्मते च वासनारूपस्यैवाविवेकस्य संयोगाख्यजन्महेतुतया तमोवदावरकत्ववृद्धिह्रासादिकमञ्जसैवोपपद्यते।—सां० प्र० भा० पृ० २८

३. अयं चाविवेकोऽगृहीतासंसर्गकमुमज्ञानमविद्यास्थलाभिषिक्त एव विवक्षितः।—सां० प्र० भा० पृ० २७

४. अविद्या हि अन्यस्मिंस्तदाकारता। सा च विकारविशेषोऽधिकार-हेतुसंयोगरूप-सङ्गं विना न सम्भवतीत्यर्थः।—सां० प्र० भा० पृ० १२५
अविद्या च मिथ्याज्ञानरूपा बुद्धिधर्म इतिसूत्रितमतो न तत्त्वाधिक्यम्।।
—सां० प्र० भा० पृ० ४०

५. अविवेकश्च संयोगद्वारैव बन्धकारणम्—सां० प्र० भा० पृ० २७

होता। इस संयोग का दूसरा नाम है जन्म ।[1] क्योंकि जन्म ही स्वस्वबुद्धिभाव में आपन्न प्रकृति का पुरुष से संयोग है। यह अविद्या जन्म नामक प्रकृति-पुरुष-संयोग का कारण तीन प्रकार से बनती है—

१—साक्षात्

२—धर्माधर्मोत्पत्ति द्वारा

३—रागादिदृष्ट द्वारा

अविद्या इन तीन में से किसी एक प्रकार से जन्म का कारण बनती है और जन्मनामक संयोग साक्षात् रीति से बन्ध का कारण होता है। जैसे अन्धकार आलोक रूपी नियतकारण से दूर होता है वैसे ही अविद्या विद्यारूपी नियत-कारण से दूर होती है। योगाभ्यास आदि कर्म सहकारी कारण हैं। विवेक-ख्याति लाभ करने के लिए योगाभ्यास आदि कर्म सत्त्वशुद्धि के द्वारा सहायता पहुँचाते हैं। यह अविद्या प्रकृति और माया से सर्वथा भिन्न है। प्रकृति और माया एक हैं और इस जगत्प्रपञ्च का उपादान कारण हैं।

---

१. अयञ्चाविवेकस्त्रिधासंयोगाख्यजन्महेतुः।—सां० प्र० भा० पृ० २८

# सृष्टि अर्थात विकास

विज्ञानभिक्षु संसार को तुच्छ या मिथ्या नहीं मानते। इसलिए इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय के रूपों की व्याख्या करनी उनके लिए अनिवार्य है। अन्य सांख्याचार्यों की भाँति विज्ञानभिक्षु के मत में भी अभिव्यक्ति रूपिणी सच्ची सृष्टि होती है।[1] परन्तु यह सृष्टि किसी की निर्मिति नहीं है प्रत्युत प्रकृति के परिणाम-रूप होतो है। चिन्मय पुरुष और जड प्रकृति के सान्निध्य से प्रकृति में क्षोभ होता है।[2] इस क्षोभ से प्रकृति में रजोगुण प्रमुख हो जाता है और महत्तत्त्व का आविर्भाव होता है। यह प्रश्न उठता है कि प्रकृति और पुरुष का सान्निध्य या संयोग आखिर क्यां होता है? इसका उत्तर यह है कि पुरुष के भोगापवर्ग[2] की सिद्धि के लिए प्रकृति स्वयं पुरुष से संयुक्त होती है जैसे अयस्कान्त से प्रेरित लौह उससे संयुक्त होता है। तव सारा संसार आविर्भूत होता है। वेदान्त-सिद्धान्त में यह संयोग ईश्वर की इच्छा से होता है।

सत्कार्यवाद के सिद्धान्त से सृष्टिक्रम को कारण की अभिव्यक्तावस्था और लयक्रम को कार्य की अनभिव्यक्तावस्था समझनी चाहिए। इसलिए कोई वस्तु नई निर्मित नहीं होती अपितु अभिव्यक्त होती है अथात् विकसित होती है। अतः आचार्य विज्ञानभिक्षु को भी कट्टर सृष्टिवादी न मान कर परिणामवादी या विकासवादी ही मानना चाहिए। इस विकास का क्रम इन्होंने भी अन्य सांख्याचार्यो की ही भाँति बताया है। अन्तर केवल यह है कि यह विकास होता तो प्रकृति से ही है किन्तु स्वतन्त्र नहीं, अपितु परमेश्वर की इच्छा से। इस अंश में

---

१. कार्याणामर्थक्रियाकारितया वास्तवत्वेन कार्यत एव धर्मिग्राहक प्रमाणेन प्रकृतेर्वास्तवसृष्टत्वसिद्धे रित्यर्थः । स्वप्नादितुल्यताश्रुतयस्त्वं नित्यतारूपासत्वांशे मात्रे पुरुषाध्यस्ततत्वांशे वा बोध्याः, अन्यथा सृष्टिप्रतिपादकश्रुतिविरोधात् । स्वप्नपदार्थनामपिमनःपरिणामित्वेन अत्यन्तासत्ताविरहाच्चेति ॥—सां० प्र० भा० पृ० ८०

२. प्रकृति स्वातंत्र्यवादिभ्या साख्ययोगिभ्यापुरुषार्थ-प्रयुक्ता-प्रकृतिः स्वयमेव पुरुषेण आद्यजीवेने संयुज्यते इत्यभ्युपगम्यते अयस्कान्तेन लौहवत्। अस्माभिस्तु प्रकृतिपुरुषसंयोगः ईश्वरेण क्रियते इत्यभ्युपगम्यते। —वि० भा० पृ० ३४

वे सांख्यशास्त्र को दुर्बल मानकर वेदान्त का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि प्रकृति और पुरुष ईश्वर की शक्तियाँ हैं। ईश्वर की इच्छा से ही प्रकृति और पुरुष दोनों का संयोग होता है। उस संयोग से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है यही महत्तत्त्व हिरण्यगर्भ कहलाता है। इसी से पूरी सृष्टि का विकास होता है। इस मान्यता के फलस्वरूप प्रकृति की स्वतन्त्र कारणता के जो मौलिक दोष हैं वे दूर हो जाते हैं। सांख्ययोग केवल इसी मान्यता के प्रसङ्ग में अप्रामाणिक है।[1] पुरुष चेतन किन्तु निष्क्रिय है और प्रकृति सक्रिय किन्तु जड़ है। दोनों का संयोग, भले ही वह पङ्ग्वन्धवत् माना जाय, कैसे सम्भव हो सकता है? इस प्रश्न का समाधान भी विज्ञानभिक्षु के मतवाद में हो जाता है। इस विकास क्रम के लिए उन्होंने श्रुति-स्मृतियों को ही प्रमाण माना है।[2]

यही महत्तत्त्व अपने सत्त्वादि तीनों अंशों से ब्रह्मा, विष्णु और महेश की उपाधि बनता है। और इन उपाधियों सहित वे इन नामों से प्रसिद्ध होते हैं।[3] इन तीनों देवताओं में भी महान् या विष्णु वाला अंश पहले प्रादुर्भूत होता है।[4] यही महत्तत्त्व तीनों गुणों से संभिन्न होते हुए परिणत होकर व्यष्टि जीवों की उपाधियों से युक्त होता है। इस प्रकार विशाल सृष्टि होती रहती है। महत्, अहंकार और मन-ये तीनों मिल कर अन्तःकरण बनते हैं। प्रतीक की दृष्टि से महत् इन तीनों की बीजावस्था है। जैसे, वृक्षों के अंकुर से शाखाएँ

---

१. स्वतन्त्रप्रधानकारणतावादिन्याश्च कपिलस्मृतेरप्रामाण्यं प्रसज्यते... तथा च तुल्यबलस्मृत्यन्तरविरोधेन कुण्ठितया कपिलस्मृत्या वैयासिकस्तर्कगणो नाभासीकर्तृ शक्यते—इतश्चेश्वरप्रतिषेधांशे कपिलस्मृतेदुर्बलत्वम्।—वि० भा० पृ० २६५
एतेनान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगेन मूलभूतशाखानुपलब्ध्याच योगःपातंजलभाष्यं प्रकृतिस्वातन्त्र्यमात्रांशे प्रत्यक्तः प्रत्याख्यातः इत्यर्थः॥
-- वि० भा० पृ० २७१

२. अत्र सत्त्वाद्यंशत्रयेण महतो देवतात्रयोपाधित्वात् तदविवेकेन ब्रह्मविष्णुशिवत्ववचनम्।—सां० सा० पृ० १५
अत्र प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारइत्यादि सृष्टिक्रमे शास्त्रमेवप्रमाणम्।—
सांख्यसार पृ० १६

३. ब्रह्मशंकरापेक्षयाऽप्यादौ विष्णुरूपेणैव महानाविर्भवति इति विष्णुरेवेत्यर्द्धेनोक्तम् अनुगीतायाम्...विष्णुरेवादिसर्गेषु स्वयम्भूर्भवतिप्रभुः। सां० सा० पृ० १६

हैं। यही विष्णु हैं,[1] और ब्रह्मा तथा रुद्र को उत्पन्न करते हैं। ये दोनों अहङ्कारतत्त्वौपाधिक होते हैं और क्रमशः सृष्टि तथा संहारकार्य करते हैं।[2] संहार या लय की क्रिया कोई नई घटना नहीं है अपितु कार्य का कारण दशा में उल्टा परिणत होना ही संहार है। इस अनादि-संयोगपरम्पराजन्य सृष्टि स्थिति और लय का प्रयोजन 'प्रतिपुरुषविमोक्ष' मात्र है।[3]

---

१. महदाख्यः स्वयम्भूर्यो जगदङ्कु़र ईश्वरः ।
सर्वात्मने नमस्तस्मै विष्णवे सर्वजिष्णवे ॥—सां० सा० पृ० १

२. अनेन सूत्रेण अहङ्कारोपाधिकं ब्रह्मरुद्रयोः सृष्टिसंहारकर्तृत्वं श्रुतिस्मृति-सिद्धमितिप्रतिपादितम् ।—सां० प्र० भा० पृ० १६६

३. यद्यपि मोक्षवद् भोगोऽपिसृष्टेःप्रयोजनम् तथापि मुख्यत्वान्मोक्ष एवोक्तः ।—सां० प्र० भा० पृ० ७९

# कैवल्य

विज्ञानभिक्षु ने कैवल्य, मोक्ष और अपवर्ग—तीनों शब्दों का प्रयोग पूर्ण पर्यायवाची मान कर किया है। उनके लिए तीनों पदों का अर्थ एक ही है। सांख्यशास्त्र को भी उन्होंने योग और वेदान्त की भाँति 'तदिदं मोक्षशास्त्रम् चिकित्साशास्त्रवच्चतुर्व्यूहम्'[1] कहा है। त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही कैवल्य है। आत्यन्तिक शब्द का अर्थ है स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूप से। इस प्रकार अर्थात् पूर्णतया जो निवृत्ति है वही आत्यन्तिक निवृत्ति है। केवल दुःख का न होना अपवर्ग नहीं है। स्थूल का अर्थ है वर्तमान अवस्थावाला। वह तो दूसरे क्षण आपसे आप नष्ट हो जायगा। अतीतावस्था का दु ख तो नष्ट ही हो गया है। इसलिए पारिशेष्यात् अनागत अवस्था वाले दुःख की निवृत्ति ही पुरुषार्थ है।[2] यह बात स्पष्ट है कि जब तक चित की स्थिति है तब तक अनागत दुःख की सत्ता की अविकल सम्भावना बनी हुई है। इसलिए दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि चित्त की निवृत्ति ही कैवल्य है।[3] थोड़ी-सी बात और कह देने योग्य है कि जीवन्मुक्ति की दशा में यद्यपि चित्त की पूर्ण निवृत्ति नहीं होती तथापि वह कैवल्य की ही दशा है। इस दशा में अनागत-अवस्था वाले दुःखों के बीजों का दाह हो जाता है। इसलिए चित्त रहने पर भी अनागत दुःखों की सम्भावना नहीं रह जाती। विदेहकैवल्य में अलबत्ता चित्त के साथ-साथ दुःखों की निवृति होती है। विदेहकैवल्य ही तो शाश्वतिक कैवल्य है। जीवन्मुक्ति तो कैवल्य का ऐहिक स्वरूप है।

क्या यह दुःखनिवृत्ति पुरुष में सम्भव है ? नहीं। क्योंकि पुरुष तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त बताया गया है। इस दृष्टि से विचार करने पर तो उसको दुःख कभी था ही नहीं उसकी निवृति का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः सुख और दुःख पुरुष में प्रतिबिम्ब-रूप से सम्भव है वास्तविक रूप से नहीं। तत्तद् उपाधियों में बिम्बाकार चित्तपरिणाम ही प्रतिबिम्ब है।[4] इस प्रतिबिम्ब-स्वरूप

---

१. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ६
२. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ७
३. अतो यावच्चित्तसत्ता तावदेवानागतदुःखसत्तानुमीयते तन्निवृत्तिश्च पुरुषार्थ इति।—सां० प्र० भा० पृ० ७
४. प्रतिबिम्बश्च तत्तदुपाधिषु बिम्बाकारश्चित्तपरिणाम इति।—सां० प्र० भा० पृ० ८

दुःख की निवृति ही कैवल्य है। योगभाष्य में बताया गया कैवल्य का स्वरूप ही आचार्य विज्ञानभिक्षु को अभीष्ट है।[1] प्रकृति और पुरुष दोनों की पारस्परिक उदासीनता अर्थात् दोनों का एकाकी होना या लौकिक शब्दों में दोनों का परस्पर वियोग ही कैवल्य है। इस प्रकार से प्रकृति का एकाकी होना भी वैसे ही कैवल्य कहलायेगा जैसे कि पुरुष का एकाकी होना। परन्तु साधक की दृष्टि से प्राप्य कैवल्य तो पुरुष की ही केवलता है। इसलिए विज्ञानभिक्षु ने इसी प्रसंग में कह दिया है कि 'अथवा पुरुषस्यैव कैवल्यम्।'[2] जीवन्मुक्ति भी मुक्ति का ही एक स्वरूप है। शास्त्रों में विवेकप्राप्ति के विषय में गुरुशिष्यभाव प्रतिपादित किया गया है। जीवन्मुक्त ही गुरु हो सकता है।[3] श्रुतियों का भी आग्रह जीवन्मुक्ति मानने में ही है।[4] जीवन्मुक्त[5] अपने शरीर को कालसात्कर के विदेहमुक्त हो जाता है जैसे कि पवन निस्पन्द हो जाता है। मुक्त-दशा में पुरुष-चिन्मात्र और शान्त रहता है वहाँ पर आनन्दादि की कल्पना न करनी चाहिए।[6]

---

१. अविवेकनिमित्तात् प्रकृतिपुरुषयोः संयोगः। तस्माच्च संयोगादुत्पद्यमानस्य प्राकृतदुःखस्य पुरुषे यः प्रतिबिम्बः स एव दुःखभोगो दुःखसम्बन्धस्तन्निवृत्तिरेव च मोक्षाख्यः पुरुषार्थ इति।—सां० प्र० भा० पृ० ११२

२. द्वयोःप्रधानपुरुषयोरेवौदासीन्यमेकाकिता। परस्परवियोग इतियावत्। सोऽपवर्गः। अथवा पुरुषस्यैव कैवल्यम्॥—सां० प्र० पृ० भा० १०९

३. जीवन्मुक्तस्यैवोपदेष्टृत्वसम्भवादिति।—सां० प्र० भा० पृ० ११३

४. यो जागर्तिसुषुप्तस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते॥—सां० सा० पृ० ४८
न मोक्षो नभसःपृष्ठे न पाताले न भूतले।
सर्वाशासंक्षये चेतःक्षयो मोक्षइतिश्रुतेः॥—सां० सा० पृ० ४८

५. जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव॥—सां० सा० पृ० ४८

६. चिन्मात्रं चेत्यरहितमनन्तमजरं शिवम्।
अनादिमध्यनिलयं यदनाधिनिरामयम्॥—सां० सा० पृ० ४८
न शून्यं नापि चाकारं न दृश्यं न च दर्शनम्।
अनाख्यमनभिव्यक्तं तत्किंचिदवशिष्यते॥—सां० सा० पृ० ४८

कैवल्य-लाभ के लिए एकमात्र साधन है विवेकख्याति ।[1] इस विवेकख्याति की प्राप्ति के लिए आचार्य विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में योग-मार्ग का ही आश्रय लेना पड़ता है। इसलिए योग-सिद्धान्तों में बताए गए सारे मोक्ष-साधन सांख्य-सिद्धान्त में भी उन्होंने निर्दिष्ट किए हैं। उत्तम, मध्यम और मन्द तीन प्रकार के अधिकारी सांख्य में भी बताए गए हैं। योगमार्ग से ही विवेकनिष्पत्ति और तद्द्वारा जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति उन्हें अभीष्ट है।[2]

---

१. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० १२२

२. इति पातञ्जलोक्तप्रक्रियया तन्निरोध उपरागनिरोधो भवति चित्त-वृत्तिनिरोधाख्ययोगद्वारेत्यर्थः।—सां० प्र० भा०, पृ० २५७

## अध्याय ४

# आचार्य विज्ञानभिक्षु के योग-सिद्धान्त

# योग-स्वरूप

आचार्य विज्ञानभिक्षुयोगवार्तिक का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि योग दो प्रकार का होता है—

१—ज्ञान का साधन-रूप योग अर्थात् सम्प्रज्ञातयोग

२—ज्ञानजन्य योग अर्थात् असम्प्रज्ञातयोग

इन दोनों प्रकार के योगों का सविस्तर वर्णन भगवान् पतञ्जलि ने योग-सूत्रों में और व्यास ने यो० भा० में किया है। व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ करते हुए विज्ञानभिक्षु ने भी तत्त्ववैशारदीकार की ही भाँति योग शब्द को 'युज्'—समाधौ धातु से निष्पन्न माना है। चित्त की क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच भूमियाँ[१] मानी गई हैं थोड़ी बहुत समाधि इन पाँचों भूमियों में सम्भव है, इसीलिए समाधि को चित्त का सार्वभौम धर्म कहते हैं।[२] इनमें से एकाग्र और निरुद्ध भूमि में रहने वाली समाधि योग कहलाती है शेष तीन भूमियों क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त में संभव समाधि को योग नहीं कहते।[३] योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः सूत्र का[४] लक्षण करते हुए उन्होंने वार्तिक में कहा है कि अन्तःकरण-सामान्य को ही चित्त कहा गया है। चित्त की पाँच[५] वृत्तियाँ होती हैं १. प्रमाण २. विपर्यय ३. विकल्प ४. निद्रा और ५ स्मृति। इन वृत्तियों का निरोध ही योग कहलाता है। निरोध का अर्थ है अधि-करण में लीन हो जाना। यह लय

---

१. क्षिप्तं, मूढं, विक्षिप्तम्, एकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः।—यो० भाष्य पृ० ७

२. समाधिः चित्तवृत्तिनिरोधः, स च सार्वभौमः सर्वासु वक्ष्यमाणासु क्षिप्ताद्यवस्थासु साधारणश्चित्तस्य धर्मः स्वाभाविको जलस्य द्रवत्ववत्। —यो० वा० पृ० ८

३. तत्र तासु पञ्चसु मध्ये विक्षिप्ते चेतसि वर्तमानः समाधिरल्पो बहुल विक्षेपशेषोभूतत्वान्न योगपक्षे योगमध्ये प्रविशति क्लेशहान्यहेतुत्वात, सुतरां तु क्षिप्तमूढयोश्चित्तयोर्वर्तमानौ समाध्यभ्यासावित्याशयः। —यो० वा० पृ० ८

४. यो० सू० १।२

५. चित्तमन्तःकरणसामान्यम्।—यो० वा० पृ० १२

अधिकरण की ही एक विशेष अवस्था है। इस प्रकार से वृत्तियों का अपने अधिकरणभूत चित्त में लय ही इन चित्त-वृत्तियों का निरोध है।[१] इस लयावस्था में वृत्तियों की संस्कारशेषावस्था रहती है।[२] निरोध का अर्थ नाश या अभाव नहीं है।[३] इसलिये योगकाल में चितवृत्तियों का सर्वथा नाश या अभाव नहीं होता।

अब इस परिभाषा की संगति बैठाने में दो शङ्काएँ उठती हैं।[४] पहली शङ्का तो यह होती है कि चित्त-वृत्तियों का निरोध तो प्रलयकाल में भी रहता है। क्या प्रलयकाल में सभी प्राणियों को योग की सिद्धि होती रहती है। अर्थात् क्या प्रलय-वेला में योग की ही स्थिति रहती है। बात स्पष्ट है कि प्रलयकाल योग की स्थिति नहीं है। अतः इस परिभाषा में अतिव्याप्ति-दोष की प्रसक्ति होती है। दूसरी शङ्का यह है कि यदि चित्तवृत्तिनिरोध ही योग है तो थोड़ा बहुत चित्तवृत्तिनिरोध चित्त की क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त भूमियों में भी रहता है फिर क्यों न उन भूमियों में भी योग की सत्ता स्वीकार की जाय—किन्तु इन तीनो भूमियों की समाधि अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध को योगरूप में स्वीकार करना योग-शात्र को अभीष्ट नहीं है। अतः इस दृष्टि से भी अतिव्याप्ति-दोष दुर्निवार हो जाता है। इसलिए विज्ञानभिक्षु इस दोष का परिमार्जन करने के लिए 'योग' की परिभाषा यह करते हैं—

"पुरुषस्यात्यन्तिकस्वरूपावस्थितेर्हेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधो योगः।
इति योगद्वयसाधारणं लक्षणम्।[५]

इस परिभाषा का अर्थ यह है कि पुरुष की आत्यन्तिकी स्वरूपावस्थिति अर्थात् कैवल्य का हेतुभूत चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। इस परिभाषा में ऊपर निर्दिष्ट दोनों दोषों का परिहार हो जाता है आत्यन्तिक पद के प्रयोग से प्रलयकालीनावस्था में अतिव्याप्ति नहीं होती और 'स्वरूपावस्थिति का हेतुभूत-

---

१. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।—यो० सू० १।५
प्रमाणविपर्य्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।—यो० सू० १।६

२. तासां निरोधस्तासां लयाख्योऽधिकरणस्यैवावस्थाविशेषः।—यो० वा० पृ० १२

३. वृत्तिनिरोधश्च चित्तस्य वृत्तिसंस्कारशेषावस्था।—यो० वा० पृ० १०

४. निरोधो न नाशोऽभावसामान्यं वानङ्गीकारात् वक्ष्यमाणसंस्कारजनकानुपपत्तेश्च।—यो० सा० सं० पृ० ६

५. द्रष्टव्य, यो० सा० सं० पृ० २

पद से चित्त की क्षिप्तादि अवस्थाओं में योग की अति-व्याप्ति मिट जाती है। इनके पूर्ववर्ती योगशास्त्र के अन्य आचार्यों ने इस प्रकार की विशुद्ध परिभाषा देने के प्रयास में कोई रुचि नहीं दिखाई थी।

## सम्प्रज्ञात योग

योग दो प्रकार के होते हैं—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात योग का वर्णन करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि यह योग एकाग्र-चित्त में सद्भूत अर्थ को प्रद्योतित करता है, क्लेशों को नष्ट करता है, कर्म के बन्धनों को शिथिल करता है, निरोधरूप असम्प्रज्ञातसमाधि को अभिमुख करता है। इस वर्णन को और अधिक स्पष्ट करते हुए विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि जो योग एकाग्रचित्त में वर्तमान होता है, ध्येय वस्तु के परमार्थतः सत्यस्वरूप का साक्षात्कार कराता है और तद्द्वारा अविद्यादि पाँचों क्लेशों को नष्ट कर देता है साथ ही धर्माधर्म रूप कर्माशयों को जो कि बुद्धि एवं पुरुष को एक बन्धन में बाँधते हैं—अदृष्टोत्पादन में असमर्थ कर देता है, और फिर वैराग्यजनन के द्वारा असम्प्रज्ञात योग को प्रत्यासन्न या सन्निकट करने की क्षमता से युक्त होता है वह सम्प्रज्ञात कहलाता है। सम्प्रज्ञात पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार है सम्प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयमस्मिन्निरोधविशेषरूपे योगे इति सम्प्रज्ञातो योग इति।[1] अर्थात् जिस चित्तवृत्तिनिरोधरूप विशेष योग में ध्येय को सम्यग् रूप से जाना जाता है, ध्येय का साक्षात्कार किया जाता है, उसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। इस प्रकरण में आए हुए सत् पद का अर्थ वाचस्पति मिश्र ने केवल शोभन या सत्त्वप्रकाश्य लिया है परन्तु किसी वस्तु का सच्चा रूप केवल शोभन ही हो ऐसा सर्वथा सम्भव तो नहीं है। अतः इस पद का अर्थ 'परमार्थभूत' अथवा 'वास्तविक' करके विज्ञानभिक्षु ने अपनी तत्त्व-निबद्ध-दृष्टि का परिचय दिया है।[2]

## असम्प्रज्ञात योग

सम्प्रज्ञात योग में चित्त की एकाग्रावस्था रहती है और उसमें रजस्तमोमयी-प्रमाणादिवृत्तियों का निरोध होता रहता है। इसमें चित्त की साक्षात्काररूपिणी सात्त्विक वृत्ति बनी रहती है। जिस योग में इस वृत्ति का भी निरोध हो जाता

---

१. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ९

२. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ९

है वह योग असम्प्रज्ञात कहलाता है ।[1] असम्प्रज्ञात योग में सभी चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध होता है। संस्कारमात्रानुसारी चित्त संस्कारमात्र रूप से प्रशान्त-वाही होता है। यही पूर्णप्रशान्तवाहिता ही असम्प्रज्ञातयोग कहलाती है।[2] इस योग भूमि पर न कोई आलम्बन होता है और न कुछ ज्ञान। इसीलिए कहा जाता है कि 'न किञ्चित्तत्र योगे ज्ञायते इति विग्रहेणासम्प्रज्ञातनामा चेति।'[3] यही निर्बीज समाधि कहलाती है। तत्त्वज्ञानजन्यसंस्कारपर्य्यन्त चित्त के सारे संस्कार ही चित के बीज हैं। इन सभी सस्कारों का पूर्णरूपेण दाह हो जाने के कारण इस समाधि में ये संस्कार भी नहीं रह जाते। इसलिये इस योग को निर्बीज समाधि कहते हैं। इस समाधि में केवल निरोध-संस्कार रहते हैं। किन्तु निरोध संस्कारों के कारण समाधि की निर्बीजता की क्षति नहीं होती क्योंकि ये संस्कार चित्त के बीज नहीं माने जाते। तत्त्वज्ञानजन्यसंस्कारपर्यन्त संस्कारों की ही चित्तबीज संज्ञा है।[4]

आचार्य वाचस्पतिमिश्र के अनुसार क्लेशसहित कर्माशय और जात्यायुर्भोग ही बीज हैं।[5] असम्प्रज्ञात समाधि में इनका राहित्य होता है, अतः इसका नाम निर्बीज समाधि है। मिश्रजी की मान्यता की भ्रान्ति को कोई भी अध्येता सरलता से आकलित कर सकता है कि क्लेश सहित कर्माशय तथा जात्यायुर्भोग का दाह तो सम्प्रज्ञात से भी हो जाता है। फिर उसे निर्बीज समाधि क्यों नहीं कहते ?

शाङ्करमतावलम्बी वेदान्ती लोग इसी असम्प्रज्ञात को निर्विकल्प समाधि नाम देना चाहते हैं। इस धारणा का खण्डन विज्ञानभिक्षु इस प्रकार करते हैं कि निर्विकल्प आत्मज्ञान तो सम्प्रज्ञान की निर्विचारा-समापत्ति-दशा में ही हो

---

१. सम्प्रज्ञातकालीना साक्षात्काररूपिणी या वृत्तिः तस्या अपि वक्ष्यमाणप-रवैराग्येण निरोधे जायमाने त्वसम्प्रज्ञातयोग इत्यर्थः।—यो०वा०पृ० ३

२. निरोधावस्थं चित्तं संस्कारोपगं संस्कारमात्ररूपेण प्रशान्तवाहि भवति, सेयं प्रशान्तवाहिता स पूर्वोक्तो निर्बीजः समाधिः।—यो० वा० पृ० १७

३. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० १७

४. असम्प्रज्ञातयोगे चित्तबीजस्य संस्कारस्य तत्त्वज्ञानजन्यपर्यन्तस्याशेषतो-दाहान्निर्बीजसंज्ञा तस्येति भावः।—यो० वा० पृ० १७

५. क्लेशसहितः कर्माशयो जात्यायुर्भोगा बीजं तस्मान्निर्गत इति निर्बीजः। —त० वै० पृ० १७

जाता है।[1] असम्प्रज्ञात काल में निर्विकल्पक आत्मज्ञान भला कैसे हो सकता है? उस समय कोई ज्ञान होना असम्भव है, क्योंकि साक्षात्कारिणी सात्त्विकवृत्ति का भी उसमें पूर्ण निरोध हो जाता है। इसलिये यह मान्यता योगभाष्यविरुद्ध है, तथा अप्रामाणिक है।[2] अतः असम्प्रज्ञात को निर्विकल्पक कहना सर्वथा अनुपयुक्त है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात-योग में सम्पूर्ण निरोध न होकर एक विशिष्ट प्रकार का किञ्चित् सीमित निरोध ही होता है। कहीं धारणा-ध्यान और समाधि नाम के तीन योगाङ्गों और सम्प्रज्ञात योग के यथार्थ स्वरूपों में कोई भ्रान्ति न हो, इसके लिए उन्होंने स्पष्ट कर दिया है[3] कि सम्प्रज्ञातयोग का निरोध ध्येय के साक्षात्कार नामक फल से युक्त या उपहित होता है जब कि यह बात ऊपर कहे गए तीनों योगाङ्गों में नहीं होती।

दोनों प्रकार के योगों का भेद इस प्रकार से भी समझना चाहिए कि यद्यपि निरोध दोनों योगों में है तथापि सम्प्रज्ञात में ध्येय वस्तु साक्षात्कारिणी सात्त्विक-वृत्ति के अतिरिक्त स्वकीय चित्तवृतियों का निरोध होता है जब कि असम्प्रज्ञात में सकल चित्तवृतियों का और निरोध संस्कारों के अतिरिक्त सकलचित्तसंस्कारों का निरोध हो जाता है।[4]

## दोनों का प्रयोजन

वृत्तियाँ कहने को तो सुखदुःखमोहात्मक हैं परन्तु विवेकी के लिए दुःख-सम्पर्क के कारण वस्तुतः दुःखदायिनी ही हैं। इन वृत्तियों के निरोध का दृष्ट फल दुःखभोग-निवृति ही है। असम्प्रज्ञातयोग में सर्ववृत्ति-निरोध होता है। अतः वह सकल वृत्त्युत्थदुःखभोग की निवृत्ति नामक दृष्टफल देने वाला है। सम्प्रज्ञात योग में भी चूँकि रजस्तमोमयी वृत्तियों का निरोध हो जाता है। इसलिए केवल सात्त्विक वृत्ति रहती है और वह अधिकांशतः सुखात्मक है। फलतः दुःख और मोह के विशेष सम्पर्क से विहीन रहती है। सम्प्रज्ञातयोग का भी दृष्टफल

---

१. निर्विकल्पं त्वात्मज्ञानं सम्प्रज्ञातकाल एव भवति।—यो० वा० पृ० १७
२. तदप्रामाणिकत्वेनैतद्भाष्यविरोधेन चोपेक्षणीयम्।—यो० वा० पृ० १७
३. ध्येयसाक्षात्काराख्यफलोपहितनिरोधत्वं सम्प्रज्ञातत्वम्।—यो० सा० सं० पृ० १७
४. सम्प्रज्ञातो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधविशेषः।....यो० सा० सं० पृ० ७ तस्य [असम्प्रज्ञातस्य] च लक्षणम् तत्त्वज्ञानसंस्कारदाहकत्वे सतिसर्ववृत्तिनिरोधत्वम्।—यो० सा० सं० पृ० ९

वृत्युत्थदुःख-भोग की निवृत्ति ही है। इस प्रकार दोनों योगों का दृष्टफल वृतिजन्य-दुःखभोगनिवृत्ति ही है।[१]

दोनों योगों का अदृष्टफल भिन्न-भिन्न है। सम्प्रज्ञातयोग में ध्येय का शुद्ध साक्षात्कार होता है और अन्त में विवेकख्याति होती है जिससे अविद्यादि क्लेशों की दग्धबीजभावता हो जाती है। इस प्रकार मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। यदि श्रेष्ठ भोगों की कामना हुई तो सम्प्रज्ञातयोग से भूतेन्द्रियप्रकृतिजय से सम्पादित स्वेच्छाभोग सम्पन्न हो सकता है।[२] सम्प्रज्ञातयोग से विवेकख्याति होता है पर जिसे प्रसंख्यान भी कहते हैं।[३] इस विवेकख्याति के सुदृढ़ तथा निर्बाध हो जाने की स्थिति का नाम धर्ममेघसमाधि भी है।[४] इस निर्विप्लव विवेकख्याति से कैवल्य प्राप्त होता है।[५] विवेकख्याति या तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्धकर्मभोग के लिए कुछ काल तक शरीर धारण किए रहना पड़ता है। यह प्रारब्धकर्मभोगकाल जीवन्मुक्ति की दशा कहलाती है। इस काल में कोई नया कर्माशय नहीं बनता। इस प्रकार सम्प्रज्ञातयोग से विवेकख्याति होती है जिसे तत्त्वज्ञान भी कहा जा सकता है। इस विवेकख्याति से कैवल्य की सिद्धि होती है। इसलिए सम्प्रज्ञातयोग तत्त्वज्ञान या विवेकख्याति के माध्यम से कैवल्य का हेतु बनता है। असम्प्रज्ञातयोग कैवल्य का साक्षाद् हेतु है[६] क्योंकि पूर्णरूप से असम्प्रज्ञातयोग सिद्ध, हो, पर तत्कालविदेहकैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

इस सन्दर्भ में विज्ञानभिक्षु की एक मान्यता यह है कि सञ्चित और क्रियमाण कर्माशयों का क्षय तो विवेकख्याति अथवा तत्त्वज्ञान के द्वारा हो जाता है

---

१. 'तत्र तावद्योगद्वयसाधारणं दृष्टं फलं वृत्तिनिरोधेन वृत्युत्थदुःखभोग—निवृत्तिः।'—योगसारसंग्रह पृ० ९

२. तथा सत्यां कामनायां भूतेन्द्रियप्रकृति-[illegible] —यो० सा० सं० पृ० १०

३. तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः।—[illegible]

४. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा[illegible] सू० ४।२९

५. विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।—[illegible]

६. तथा च द्वारद्वारिभावेनापि ज्ञान[illegible] सिद्धम्; असम्प्रज्ञातयोगस्य च साक्षा[illegible]

किन्तु प्रारब्धकर्माशय का क्षय करने में तत्त्वज्ञान या विवेकख्याति असमर्थ है।[1] "तस्य तावदेव चिरम्" इत्यादि श्रुति तथा जीवन्मुक्ति की स्थिति प्रतिपादित करनेवाली अन्य श्रुतियाँ एवं स्मृतियाँ तत्त्व-ज्ञान के प्रारब्ध-कर्मक्षयशक्तिराहित्य को ही सिद्धान्तित करती हैं। असम्प्रज्ञातयोग कर्मविपाकोक्तप्रायश्चित्तादि की भाँति प्रारब्धकर्म को भी सहसा नष्ट कर के शीघ्र ही मोक्ष देता है।[2] 'दग्ध कर्मचयोऽचिराद्'[3] इत्यादि स्मृतियाँ इस बात की पोषक हैं।[2] असम्प्रज्ञातयोग के द्वारा अखिल संस्कारों के क्षय हो जाने से भोगहेतुवासनारूप संस्कारनामक सहकारी की अनुपस्थिति के कारण फल देने में प्रारब्ध-कर्म भी सर्वथा असमर्थ हो जाता है। मोक्ष-धर्म में जो योग को सर्वोत्कृष्ट-बल कहा गया है वह प्रारब्धकर्म के अतिक्रमण के द्वारा स्वेच्छा से शीघ्रतम मोक्ष-प्रदान करने की शक्ति के ही कारण से कहा गया है।[4] इस प्रकार श्रुति, स्मृति तथा युक्ति हर प्रकार से असम्प्रज्ञात में प्रारब्धकर्मनाशकत्व का वैशिष्ट्य सिद्ध होता है; अतः असम्प्रज्ञातयोग कैवल्य का साक्षाद् हेतु बनता है।

## दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध

स्पष्ट है कि सम्प्रज्ञातयोग असम्प्रज्ञात के लिए एक सोपान बनता है। असम्प्रज्ञातयोग, योग की अन्तिम कड़ी या चरम सीमा है। सम्प्रज्ञातयोग की परिपक्वता का फल है विवेकख्याति। विवेकख्याति की उत्कृष्टावस्था ही योग की पदावली में धर्ममेघसमाधि[5] है। उसमें भी परवैराग्य उत्पन्न होने पर

---

१. द्रष्टव्य, यो० सा० सं० पृ० १०

२. अतः प्रारब्धमपि कर्म कर्मविपाकोक्तप्रायश्चित्तादिवदेवातिक्रम्य झटिति मोचनमेव योगस्य फलम् ॥--यो० वा० पृ० ११, यो० सा० सं० पृ० ११

३. विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मना प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात्।—यो० सा० सं० पृ० ११ पर उद्धृत

४. इदमपि योगफलं, तदुक्तं मोक्षधर्मे—
'नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्, 'इति बलं प्रारब्धस्यापि व्यतिक्रमेण स्वेच्छया शीघ्रमोक्षहेतुः।—यो० वा० पृ० ११

५. अस्यैव चात्मसाक्षात्कारस्य [अस्मितानुगतसम्प्रज्ञाते] पराकाष्ठा धर्ममेघ-समाधिरित्युच्यते तस्योपेक्षातोऽप्यलंप्रत्ययरूपेण परवैराग्येण असम्प्रज्ञात-योगो जायतेइति।—यो० सा० सं० पृ० २१

असम्प्रज्ञातयोग की अवस्था आती है। इस प्रकार से सम्प्रज्ञातयोग असम्प्रज्ञात-योग का आधार है।[१] सम्प्रज्ञात अवस्था में रजस्तमोमयी वृत्तियों का निरोध हो जाता है केवल सात्त्विकी वृत्ति रह जाती है अर्थात् सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध नहीं होता है। असम्प्रज्ञातयोग में इस सात्त्विकी वृति का भी निरोध हो जाने से वृत्तिनिरोध पूर्ण हो जाता है। अतः सम्प्रज्ञातयोग सीमितवृतिनिरोध है जब कि असम्प्रज्ञातयोग पूर्णवृत्ति निरोध है। इस प्रकार असम्प्रज्ञातयोग योगशास्त्र का पार्यन्तिक प्रतिपाद्य है और सम्प्रज्ञातयोग महत्त्वपूर्ण होने पर भी आनुषङ्गिक प्रतिपाद्य है।

किन्तु सम्प्रज्ञातयोग का महत्त्व इस बात से कम न समझना चाहिए। माना कि असम्प्रज्ञात सद्यः मोक्षदायक है और अपने आप में पूर्ण है किन्तु सम्प्रज्ञात में दोनों गुण विद्यमान हैं। एक ओर जहाँ सम्प्रज्ञात के बिना असम्प्रज्ञात की सिद्धि की चर्चा ही दुष्कर है वहीं दूसरी ओर सम्प्रज्ञात स्वयं ही बिना असम्प्रज्ञात की सहायता के ही—मोक्ष देने में भी सर्वथा समर्थ है। विवेकख्याति के पश्चात् सञ्चित और क्रियमाण कर्माशय फल देने में—सर्वथा अक्षम हो जाते हैं। केवल प्रारब्धकर्मों का ही भोग अवशिष्ट रह जाता है। जिसके कारण जीवन्मुक्ति की स्थिति में रह कर शरीरपात के अनन्तर मोक्षलाभ किया जा सकता है।[२] इसीलिए सांख्यशास्त्र में विवेकख्याति से ही जो केवल सम्प्रज्ञातयोग का ही फल है कैवल्य-फल-लाभ बताया गया है।[३] वेदान्त में प्रतिपादित निदिध्यासन का

---

१. असम्प्रज्ञातयोग से तात्पर्य उपाय-प्रत्यय असम्प्रज्ञात से ही है क्योंकि भवप्रत्ययासम्प्रज्ञात तो असम्प्रज्ञाताभास ही है। उसे योग कहना ही ठीक नहीं है। उसकी उपयोगिता मानव साधकों के लिए साक्षाद् रूप से नहीं के बराबर है।

२. एतेनासम्प्रज्ञाताभावेऽपिप्रारब्धभोगानन्तरं ज्ञानिनां मोक्षो भवत्येवेति सिद्धान्तो न विरुध्यते।—यो० सा० सं० पृ० ११
अविद्याविनिवृत्तौ बीजाभावात्पुनर्जन्मानुपपत्तिश्च।—यो० सा० सं० पृ० ११

३. सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः ॥ ६७॥
प्राप्तेशरीरभेदे चरितार्थत्वात्प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥—सांख्यकारिका।

पर्यवसान भी सम्प्रज्ञात-भूमि में ही हो जाता है। इस रीति में सांख्य-योग-वेदान्तादि सभी शास्त्रों ने सम्प्रज्ञातयोग के इस अप्रतिम महत्त्व को स्वीकार किया है।

सरल शब्दों में इन दोनों के भेदों को प्रकट करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु ने कहा है कि सम्प्रज्ञात-योग से शुद्धतत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। जिसे विवेकख्याति आदि नाम दिया जाता है क्योंकि अप्रतिरुद्धसात्त्विक-वृत्ति इस दशा में प्रकाशित होती रहती है। इस तत्त्वज्ञान से प्रारब्ध कर्मों तथा तत्त्वज्ञानजन्य संस्कारों को छोड़ कर शेष सभी कर्मों के संस्कार नष्ट हो जाते हैं। असम्प्रज्ञातयोग, जो कि इस परमतत्त्वज्ञान का भी निरोध हो जाने पर उत्पन्न होता है, इन दोनों प्रकार के संस्कारों को भी नष्ट कर देता है। क्योंकि सात्त्विकी वृत्ति का भी यहाँ निरोध हो चुकता है। इस रीति से असम्प्रज्ञात के द्वारा शीघ्र ही मोक्ष सम्पन्न हो जाता है। सम्प्रज्ञातयोग यदि तत्त्वज्ञान का जनक है तो असम्प्रज्ञातयोग तत्त्वज्ञान-जन्य है।[1] यद्यपि शास्त्र भर में सम्प्रज्ञात को असम्प्रज्ञात की अपेक्षा व्युत्थान[2] कहने तथा असम्प्रज्ञात को सम्प्रज्ञात की अपेक्षा निरोध कहने की प्रणाली अपनाई गई है, तथापि दोनों को समान रूप से 'मोक्षप्रद' होने का गौरव प्रदान किया गया है।[3]

यह स्पष्ट हो चुका है कि समाधि और योग शब्द पूर्णतः पर्यायवाची नहीं हैं। समाधि चित्त की सभी भूमियों में किसी न किसी मात्रा में सम्भव है किन्तु प्रत्येक भूमि की समाधि को योग नहीं कहा जा सकता। केवल 'एकाग्र' और 'निरुद्ध' नामक चित्त की भूमियों में होनेवाली समाधि को योग नाम दिया जाता है। इसीलिए समाधि चित्त का सार्वभौम धर्म कहा जाता है।[4] योग चित्त का सार्वभौम धर्म नहीं है। चित्त की एकाग्रभूमि की समाधि को सम्प्रज्ञातसमाधि और निरुद्ध भूमि की समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। ये दोनों समाधियाँ

---

१. ब्रह्ममीमांसासांख्यादिषु च ज्ञानमेव विचारितं बाहुल्येन ज्ञानसाधनमात्रस्तु योगः संक्षेपतः, ज्ञानजन्ययोगस्तु संक्षेपतोऽपि तेषु नोक्तोऽतोऽतिविस्तरेण द्विविधं योगं प्रतिपिपादयिषुर्भगवान् पतञ्जलिः...प्रतिज्ञातवान्।—यो० वा० पृ० ५.६

२. असम्प्रज्ञातापेक्षयासमाधिप्रज्ञाऽपि व्युथानम्।—यो० वा० पृ० १३४

३. प्रकृतिपुरुषविवेकसाक्षात्कारो दुःखहानोपायो मोक्षोपाय इत्यर्थः। असम्प्रज्ञातयोगस्त्वाशुतरमोक्षार्थमेवापेक्ष्यते इत्याशयः।—यो० वा० पृ० १८६

४. योगः समाधिः, स च सार्वभौमश्चित्तस्यधर्मः।—यो० भा० पृ० ७

क्रमशः सम्प्रज्ञातयोग और असम्प्रज्ञातयोग की संज्ञा प्राप्त करती हैं।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि प्रत्येक योग समाधि है तथापि प्रत्येक समाधि योग नहीं है।

असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद किए जाते हैं—(१) उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि और (२) भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि। आचार्य विज्ञानभिक्षु असम्प्रज्ञात समाधि के इन दोनों भेदों को असम्प्रज्ञातयोग के रूप में स्वीकार करते हुए असम्प्रज्ञातयोग के दो भेद प्रतिपादित करते हैं—(१) उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातयोग और (२) भवप्रत्यय असम्प्रज्ञातयोग। किन्तु इस सम्बन्ध में अन्य योग-व्याख्याताओं का मत इससे भिन्न है। आचार्य वाचस्पतिमिश्र और स्वामी हरिहरानन्द आरण्य दोनों ने केवल 'उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि' को ही योग माना है और विदेह-कैवल्य का हेतु बताया है। ये लोग 'भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि' को योग नहीं मानते।[2] और इसीलिए विदेह-कैवल्य के हेतु के रूप में भी नहीं स्वीकार करते। योगभाष्यकार व्यास ने यद्यपि स्पष्टतः ऐसी कोई बात नहीं कही है फिर भी उनका स्वारस्य भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि को योग न मानने के पक्ष में ही प्रतीत होता है क्योंकि उनका यह कथन कि ''तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां भवति।'[3]—भवप्रत्यय को योगिजनभिन्नप्राणियों के लिए ही सिद्ध करता है। अर्वाचीन योगशास्त्री म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज भी इस समाधि को योग-कोटि में नहीं स्वीकार करते।[4] भोजराज ने भी इस समाधि को योग न मानकर योगाभासमात्र ही कहा है।[5]

## असम्प्रज्ञातयोग के भेद और उनका स्वरूप

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में असम्प्रज्ञातयोग के दो भेद हैं १—भवप्रत्यय और २—उपायप्रत्यय। सूचीकटाहन्याय से पहले 'भवप्रत्यय असम्प्रज्ञातयोग' का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। 'भव' का अर्थ है जन्म, और 'प्रत्यय' पद कारणवाची है। पूर्वजन्मों में किए गए साधनों के फलस्वरूप वैदेह्य एवं प्रकृतिलयत्व को प्राप्त प्राणियों को तत्तद् योनि के साद्गुण्य

---

१. द्विविधः स योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति।—यो० भा० पृ० १७
२. द्रष्टव्य, त० वै० पृ० ५७-५९ और भास्वती पृ० ५६-५८
३. द्रष्टव्य, यो० भा० पृ० ५६-५७
४. द्रष्टव्य, सूर्योदयः अङ्क १
५. तेषां परतत्त्वादर्शनाद्योगाभासोऽयम्।—रा० मा० वृ० पृ० १२

से अर्थात् इस नए एवं विशिष्ट जन्म को प्राप्त करने के निमित्त से स्वतःसिद्ध असम्प्रज्ञातसमाधि को जन्ममात्रनिमित्तक होने के कारण 'भवप्रत्यय असम्प्रज्ञातयोग' कहते हैं।[1] जैसे 'हिरण्यगर्भ' इत्यादि को जन्मसिद्ध 'योगनिद्रा'[2] सुलभ होती है वैसे ही विदेहों और प्रकृतिलीनों को यह असम्प्रज्ञातयोग जन्मसिद्ध रूप में प्राप्त होता है। विदेह लोग दैनन्दिन प्रलय में और कभी-कभी सर्गकाल में भी संस्कार-मात्रोपगत अर्थात् निरोधावस्थसंस्कार-शेष-चित्त से कैवल्य पद का सा अनुभव करते रहते हैं। जब व्युत्थान होता है तब अपने देवपदप्रापक संस्कारों के फलस्वरूप सूक्ष्मऐश्वर्यभोग को प्रारब्धकर्मयन्त्रित होकर भोगते हैं, और इस भोग के द्वारा इन संस्कारों को समाप्त करते हैं। इनके समाप्त हो जाने पर मुक्त हो जाते हैं। यह व्युत्थानावस्था मनुष्य साधनों की जीवन्मुक्तावस्था के समान होती है। इसी प्रकार प्रकृतिलीन जीव भी—जो कि सावरण ब्रह्माण्ड को त्याग कर लिङ्ग शरीर से प्रकृति में लीन रहते हैं—साधिकार रहते हुए भी संस्कार मात्रावशिष्ट चित्त से कैवल्य पद का-सा अनुभव करते हैं, और व्युत्थान होने पर अपने सूक्ष्मातिसूक्ष्म भोग के द्वारा तादृश संस्कारों को समाप्त करते है। चित्त का अधिकार समाप्त हो जाने पर ये भी कैवल्य प्राप्त कर लेते हैं[3]।

इसी सन्दर्भ में विज्ञानभिक्षु ने वाचस्पतिमिश्र के भवप्रत्ययसमाधिविषयक सिद्धान्त को खण्डित करने का भी उपक्रम किया है। खण्डन इस प्रकार है[4]—

"कुछ लोगों ने "भवत्यस्यामिति भवोऽविद्या—" इस व्युत्पत्ति के आधार पर भव का अर्थ अविद्या लिया है और "भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्" यो० सू० १।१९—इस सूत्र को एतदनुसार व्याख्यात किया है कि इन्द्रिय से लेकर अव्यक्तप्रकृतिपर्यन्त तत्त्वों के चिन्तकों को अविद्याकारणक यह असम्प्रज्ञातसमाधि-सिद्ध होती है। किन्तु यह धारणा निम्नलिखित कारणों से सर्वथा अनुपयुक्त है—

(१) असम्प्रज्ञात योग का हेतु-भूत परवैराग्य जैसा उच्चतम ज्ञान अविद्यायुक्त प्राणी में असंभव हैं; अतः अविद्या से असम्प्रज्ञात की सिद्धि नहीं हो सकती।

---

१. ते च महदादयो देवास्तेषां साधनानुष्ठानं विनैवासम्प्रज्ञातयोगो जन्ममात्रनिमित्तको भवति योनिसादृगुण्येनौत्पत्तिकज्ञानात्।—यो०वा० पृ० ५८

२. यथा हिरण्यगर्भादीनां योगनिद्रादिकम्।—यो० सा० सं० पृ० ३३

३. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ५८

४. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ५८, ५९

(२) वायुपुराण में इन चिन्तकों का जो समय दिया गया है वह इनके तत्तत्पदों पर आरूढ रहने को अवधि को निश्चित करता है; इनके असम्प्रज्ञात-समाधि के अथवा इनके चित्तों की वृत्ति-शून्यता के काल का निर्धारण नहीं करता।

(३) इन्द्रियादिचिन्तन से असम्प्रज्ञात की सिद्धि सर्वथा असम्भव है।

(४) कुछ समय के लिए होनेवाले वृत्यभाव को असम्प्रज्ञात नहीं कहा जा सकता। अन्यथा प्रलय एवं मरण की वेला में सभी को असम्प्रज्ञात की सिद्धि माननी पड़ेगी।

(५) इन्द्रियादि की उपासना का सूर्यादिपद-प्राप्तिरूप भिन्न फल शास्त्रों में बताया गया है। इन्द्रियाद्युपासना से असम्प्रज्ञात-लाभ नहीं बताया गया है।

## उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञातयोग

उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात योग वह है जो शास्त्रोक्त उपायों के अनुष्ठान से इसी लोक में सिद्ध होता है। इसके उपाय श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा हैं[१]। योग में प्रीति श्रद्धा कहलाती है, चित्त की धारणा ही वीर्य है, ध्यान ही स्मृति है, योग का चरम अङ्ग समाधि कहलाता है और सम्प्रज्ञातयोगजन्य साक्षात्कार ही प्रज्ञा है। ये चारों परवैराग्य के द्वारा उपाय-प्रत्यय-असम्प्रज्ञात के उपाय बनते हैं[२]। इन उपायों के अतिशीघ्र तथा तीव्रतर अनुष्ठान से असम्प्रज्ञात-पर्यन्त योग तथा उनका फल मोक्ष बिल्कुल निकट हो जाते हैं। उपायों के अनुष्ठान में यदि अतिशीघ्रता और तीव्रतरता न भी हो उसके उत्थान पर ईश्वर-प्रणिधान की सहायता ली जाय तो भी असम्प्रज्ञातपर्यन्त योग और तत्फल कैवल्य बिल्कुल निकट हो सकते हैं।[४]

असम्प्रज्ञातयोग की सद्यःसिद्धि के लिए सुलभ इन दो प्रकारों की आपेक्षिक उपादेयता के विषय में आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भक्तिभाव से प्रेरित होकर ईश्वर

---

१. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।—यो० सू० १।२०

२. तत्र श्रद्धा योगे प्रीतिः वीर्यम्....एतानि क्रमेण वक्ष्यमाणपरवैराग्यद्वारेण असम्प्रज्ञातस्योपाया भवन्ति।—यो० सा० सं० पृ० ३०-३१

३. प्रणवपूर्वकं च तदनुचिन्तनं साक्षात्कारपर्यवसायि प्रणिधानमिति।
—यो० सा० सं० पृ० ३२

४. उपायानुष्ठानमान्द्येऽपि चेश्वरप्रणिधानादासन्नतरौ तौ भवतः, परमेश्वरप्रणिधानेन तदनुग्रहादिति।—यो० सा० सं० पृ० ३१

प्रणिधान को ही श्रेयस्कर बताया और मुख्यकल्प समझा है।[1] उपायानुष्ठान में तीव्रतरता और शीघ्रता न होने पर भी ईश्वर-प्रणिधान की सहायता से असम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि की आसन्नतरता सुसम्पाद्य होती हैं। ईश्वर-प्रणिधान से योग के अन्तरायों का भी प्रशमन हो जाता है। इसकी श्रेष्ठता में उन्होंने स्मृति का भी उद्धरण दिया है।[2]

## सम्प्रज्ञातयोग के भेद

सम्प्रज्ञातसमाधि को ही सम्प्रज्ञातयोग कहते हैं। सम्प्रज्ञात-समाधि तत्त्वसाक्षात्कारपरक है। साक्षात्कार की अनेकरूपता के आधार पर इस योग के चार भेद माने गए हैं[3]—

१—वितर्कानुगत स० यो०

२—विचारानुगत स० यो०

३—आनन्दानुगत स० यो०

४—अस्मितानुगत स० यो०

वितर्कानुगत सम्प्रज्ञातयोग में स्थूलपदार्थ में—चाहे वह योनिज हो चाहे विराट् या चतुर्भुजादि रूप समाधि लगती है। इसके पश्चात् चित्त क्रमशः सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर साक्षात्कार करने में समर्थ होता जाता है।[4] वस्तुतः इन चारों योग-भूमियों में एकाग्रचित के साक्षात्कार की सूक्ष्मता की विकासपरम्परा देखने को मिलती है।[5] सम्प्रज्ञातयोग की ये चारों दशाएँ क्रमशः एक ही आलम्बन में

---

१. एवं च सति मुख्यकल्पानुकल्पभेदेन परमात्मजीवात्मप्रज्ञयोर्मोक्षहेतुत्वम् बोध्यम्।—यो० वा० पृ० ६३

२. तस्मान्मुमुक्षोःसुसुखो मार्गःश्रीविष्णुसंश्रयः।
चित्तेन चिन्तयन्नेव वञ्च्यते ध्रुवमन्यथा॥—इति स्मृतिः

३. वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः।—यो० सू० १।१७
स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते स च वितर्कानुगतो, विचारानुगत, आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इत्युपरिष्टाद् प्रवेदयिष्यामः।—यो० भा० पृ० ९-१०

४. एकदा चित्तस्य परमसूक्ष्मप्रवेशस्य प्रायशोऽसम्भवात्।—यो० सा० सं० पृ० १५

५. वितर्कादिकं क्रमिकं भूमिका-चतुष्टयमुच्चारो हि-क्रमिकसोपानपरम्परावत्।—यो० सा० सं० पृ० १५

साधी जानी चाहिए।[1] किसी विराट् चतुर्भुजादिस्वरूप अथवा घटादि या समष्टिव्यष्ट्यात्मक २६ तत्त्वों के किसी भी संघात को लेकर पहले समाधि-भावना करनी चाहिए। इसी आलम्बन में पहले स्थूलाकार धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा स्थूल रूपगत अभी तक अश्रुत, अदृष्ट और अमत सकल विशेषों का साक्षात्कार वितर्कानुगत सम्प्रज्ञातयोग में होता हैं।[2] इस भूमिगत आलम्बन में चित्त का स्थूल आभोग होता है। आभोग शब्द का अर्थ है परिपूर्णता या चित्त की तदाकारता। ध्येयवस्तु के अशेषविशेषों के स्थूल रूप से चित्त का परिपूरित हो जाना अर्थात् तदाकार हो जाना ही चित्त के द्वारा उनका साक्षात्कृत होना है। चित्त के द्वारा किया गया एवम्भूत साक्षात्कार ही वितर्कानुगत-सम्प्रज्ञात-योग का लक्षण है।

इस स्थूलसाक्षात्कार से सूक्ष्मसाक्षात्कार की ओर उन्मुखता होती है। उसी आलम्बन में कारणत्वानुगत प्रकृतिमहदहङ्कारतन्मात्ररूपी जो भूतेन्द्रियों के सूक्ष्म अर्थ है उनमें पहले की ही भाँति धारणादि तीनों की सहायता से अशेष-विशेषतः उन सभी सूक्ष्म अर्थों का साक्षात्कार करने से चित्त की जो सूक्ष्मरूप की परिपूर्णता या सूक्ष्माकाराकारितता होती है उसे ही विचारानुगत-सम्प्रज्ञात-योग कहते हैं।[3]

उसी आलम्बन में विचारानुगतभूमिलाभजन्य सत्त्वप्रकर्ष से उत्पन्न हुए ह्लाद-नामक सुखविशेष में चित की परिपूर्णता या उस सुखविशेष का साक्षात्कार होता है। उससे अनुगत निरोध को आनन्दानुगतसम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। उस समय मैं सुखी हूँ इस प्रकार की चितवृत्ति आनन्दगोचर[4] ज्ञान में ही होती है किसी भी ज्ञेयभूत सूक्ष्म वस्तु में नहीं, इस दशा में आनन्दगोचर ज्ञान ही

---

१. एतच्च भूमिकाचतुष्टयमेकस्मिन्नेवावलम्बने क्रमात्कर्तव्यम्, अन्यथा पूर्वपूर्वोपासगत्यागदोषापत्तेः। चितचाञ्चल्यदोषप्रसङ्गाच्च।—यो० सा० सू० पृ० १६

२. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ५२

३. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ५२

४. तत्रैवालम्बने सूक्ष्माकारसाक्षात्कारानन्तरं तामपि दृष्टिं त्यक्त्वा चतुर्विंशतितत्त्वानुगते सुखरूपपुरुषार्थे धारणादित्रयेण यः पूर्ववदशेषविशेषतः सुखाकारसाक्षात्कारः स आनन्द इत्युच्यते, ज्ञानज्ञेययोरभेदोपचारात्। —यो० सा० सं० पृ० २०

ज्ञेय बन जाता है। विचारानुगत समाधि से इसका विशद भेद है।[1] आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात के लक्षण के प्रसङ्ग में विज्ञानभिक्षु ने श्री वाचस्पति मिश्र को आड़े हाथों लिया है और उसे अप्रामाणिक सिद्ध किया है। वाचस्पतिमिश्र के अनुसार सत्त्वप्रधान अहङ्कार से उत्पन्न ज्ञानेन्द्रियाँ ही सुखरूप हैं इसलिए ज्ञानेन्द्रियों में चित्त का आभोग या तदाकाराकारित होना ही आनन्दानुगत सम्प्रज्ञातयोग है[2]। विज्ञानभिक्षु ने इस मान्यता का खण्डन इस प्रकार किया है—

(१) आनन्दानुगत सम्प्रज्ञातयोग का ऐसा लक्षण करने में कोई प्रमाण नहीं है।

(२) इन्द्रियाँ स्थूल हैं इसलिए इन्द्रियाभोग तो वितर्कानुगत कोटि में ही आ जाएगा।

(३) सानन्द और निरानन्द रूप अवान्तर भेद करना इस मान्यता में अनिवार्य हो जायगा। किन्तु सूत्र और भाष्य में इस समाधि का इस प्रकार से अवान्तर भेद नहीं किया गया है। इसलिए यह मत स्वीकृत करने पर आगामी सूत्र और भाष्य में न्यूनतापत्ति का दोष उपस्थित होगा।

(४) हमारे मत में सानन्द और निरानन्द रूप अवान्तरभेद की कल्पना ही असम्भव होगी। इसलिए अवान्तरभेद न बताने पर सूत्र और भाष्य में न्यूनतापत्ति का कोई दोष नहीं आता।

इस भूमिजन्य के अनन्तर, एकात्मिका संविद्‌रूपिणी अस्मिता में चित्त की केवल पुरुषाकारवृत्ति होती है।[3] उससे अनुगतयोग अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञात कहलाता है। इस योग में ध्येय रूप से "एक आत्मा" ही रहती है। इस अनुभूति का स्वरूप "अस्मि" प्रकारक होता है।[4] जिस आलम्बन में स्थूल, सूक्ष्म

---

१. आनन्दगोचर एवाहं सुखीति चित्तवृत्तिर्भवति न सूक्ष्मवस्तुष्वपि इति-विचारानुगताद्विशेषः।—यो० वा० पृ० ५३

२. सत्त्वप्रधानादहङ्कारादिन्द्रियाण्युत्पन्नानि सत्त्वं सुखमिति तान्यपि सुखानीति तस्मिनआभोग आह्लाद इति।—त० वै० पृ० ५३

३. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ५३

४. एक एवात्माऽस्यां विषयत्वे नास्ति इत्येकात्मिका तथा चोक्तम्। एकालम्बने या चित्तस्य केवलपुरुषाकारा संवित् साक्षात्कारोऽस्मि इत्येतावन्मात्राकारत्वादस्मितेत्यर्थः सा च जीवात्मविषया परमात्मविषया चेति द्विधा वक्ष्यते, तेनानुगतो युक्तो निरोधोऽस्मिता अनुगतनामा योग इति भावः।—यो० वा० पृ० ५३

और आनन्द की भूमिकाओं के क्रम से वितर्क, विचार और आनन्द से अनुगत-सम्प्रज्ञातयोग का अभ्यास किया गया उसी घटादि अचेतन आलम्बन में अस्मितानुगतयोग भी सर्वथा सम्भव है। क्योंकि कारण रूप से जीवेश्वररूप अस्मिता सर्वत्र अनुगत है।[1] इस चौथे प्रकार के सम्प्रज्ञात में कूटस्थविभुचिन्मात्ररूप से अचेतन विविक्त आत्माकार साक्षात्कार होता है। इस प्रकार से अस्मितानुगत-सम्प्रज्ञात में चित ग्रहीतृपुरुषाकाराकारित होता है।

इस आत्मज्ञान के पश्चात् और कुछ ज्ञातव्य तो बचता नहीं, अतः अस्मितानुगत-योग को ही सम्प्रज्ञात की चरम भूमिका माना जाता है। इस अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात के आत्मत्वेनाभ्युपगत दो विषय हैं। एक आत्म-सामान्य या जीवात्मा और दूसरा परमात्मा।[2] इन दोनों में चूँकि परमात्मा सूक्ष्मतम है इसलिए भूमिका क्रम में पहले आत्मसामान्य का सम्प्रज्ञान और तब परमात्म-तत्त्व में चित्त का पूर्ण सन्निवेश होता है।[3] इस प्रकार सम्प्रज्ञातयोग के क्रम में पारमेश्वर योग सर्वोच्च एवं श्रेष्ठ है।[4] इस सम्बन्ध में यह ज्ञातब्य है कि अस्मिता के विषयभूत जीवात्मा और ईश्वर के उपाधिरहितरूप का ही साक्षात्कार इस भूमि में किया जाता है सोपाधिकरूप का साक्षात्कार तो वितर्कानुगत और विचारानुगत में ही हो जाता है।[5] इसी अस्मितानुगत समाधि में ही विवेकख्याति होती है। सम्प्रज्ञातयोग के इन चारों भेदों के सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि ये भेद सम्प्रज्ञात-योग के चार क्रमिक सोपान हैं। पूर्ववर्ती सोपानों में उत्तरवर्ती सभी सोपानों के विषयों का भी अस्पष्ट चिन्तन उपस्थित रहता है; और उत्तरवर्ती सोपानों में पूर्ववर्ती सोपानों के विषय भूतचिन्तन का सर्वथा परित्याग हो जाता है।[6] कहने

---

१. कारणरूपेणजीवेश्वरयोःसर्वत्रानुगमात्।—यो० सा० सं० पृ० २५

२. सा च जीवात्मविषया परमात्मविषया चेति द्विधावक्ष्यते।—यो० वा० पृ० ५३

३. जीवापेक्षयापि परमात्मनः सूक्ष्मत्वाच्च। 'चतुर्विंशति—सोऽनुपश्यतीति स्मृतेश्च।—यो० सा० सं० पृ० २२

४. अतः सर्वेषु सम्प्रज्ञातेषु मध्ये पारमेश्वरयोग एवश्रेष्ठः।—यो० सा० सं० पृ० २३

५. अत्र चास्मिताशब्दो विविक्तचेतनाकारतामात्रोपलक्षकस्तेनोदासीनभावेन य ईश्वरचेतनतत्त्वसाक्षात्कारस्तस्यापि संग्रहःसोपाधिकेश्वर-सम्प्रज्ञातस्य च विचारानुगते प्रवेशः।—यो० वा० पृ० ५३

६. पूर्वपूर्वभूमिकासूत्तरोत्तरभूमिविषयस्यचिन्तनमुत्तरोत्तरभूमिषु च पूर्वपूर्वविषयस्य परित्यागं विदधाति।—यो० वा० पृ० ५३

का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि वितर्कानुगत सं० यो० में विचारानन्दास्मिता नाम की तीनों भूमिकाओं का अस्पष्ट चिन्तन उपस्थित रहता है; विचारानुगत सं० यो० में आनन्दानुगत एवम् अस्मितानुगत के विषय का चिन्तन अस्पष्टरूप में उपस्थित रहता है; आनन्दानुगत सं० यो० में अस्मितानुगत का भी विषय गौणरूप में उपस्थित रहता है। अस्मितानुगत-काल में आनन्द, विचार तथा वितर्क का आनन्दानुगत में विचार तथा वितर्क का और विचारानुगत में वितर्क के विषयों का सर्वथा अभाव रहता है।[1]

## धर्ममेघ-समाधि

योग के दो ही प्रधान शास्त्रीय भेद बताए गए हैं, सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। धर्ममेघसमाधि को किसी के अन्तर्गत यथा किस दशा या भूमि में माना जाय? इस समस्या पर विज्ञानभिक्षु ने सूत्र एवं भाष्य के आधार पर यह विचार प्रस्तुत किया है कि धर्ममेघसमाधि विवेकख्याति की ही पराकाष्ठा है।[2] विवेकख्याति सिद्ध हो जाने पर उससे स्वतः प्राप्त सर्वभावाधिष्ठातृत्वादि किसी भी सिद्धि की कामना न करने से, योगविघ्नाभाव के कारण निरन्तर प्रवाहित होनेवाली विवेकख्याति उदित होती है। उससे धर्ममेघ नाम की सम्प्रज्ञातयोग की पराकाष्ठा प्राप्त होती है,[3] यह धर्ममेघसमाधि क्लेशकर्मादि के निःशेषेणोन्मूलकधर्म की वर्षा करनेवाली होती है[4] यही जीवन्मुक्ति की स्थिति है। इसके उदित होने से क्लेशकर्म की निवृति हो जाने पर साधक जीवित रहते हुए मुक्त हो जाता है।[5] जब धर्ममेघसमाधि अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचती है तब तत्त्व-ज्ञान के प्रति

---

१. तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः, द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः, तृतीयो विचारविकलःसानन्दः, चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति, सर्व एते सालम्बनाःसमाधयः।—यो० भा० पृ० ५४

२. तद्धर्ममेघाख्यं ध्यानं परमं प्रसंख्यानम् तत्त्वज्ञानं विवेकख्यातेरेव पराकाष्ठेति।—यो० वा० पृ० १४

३. धर्ममेघनाम्नी संप्रज्ञातयोगस्य पराकाष्ठा भवति।—यो०वा०पृ०४४५ अस्यैव चात्मसाक्षात्कारस्य पराकाष्ठाधर्ममेघसमाधिरित्युच्यते।—यो० वा० पृ० २१

४. क्लेशकर्मादीनां निःशेषेणोन्मूलकं धर्मं मेहति वर्षतीति धर्ममेघः। —यो० वा० पृ० ४४६

३. क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति।—यो० वा० पृ० ४४६

भी वैराग्य उत्पन्न होता है। यह वैराग्य परवैराग्य कहलाता है। यह वैराग्य विवेकख्याति के प्रति अलंप्रत्ययरूप का होता है। परवैराग्य के उदित होने पर ही असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है।[१]

१. धर्ममेघस्य पराकाष्ठा ज्ञानप्रसादमात्रं परवैराग्यम्। —त० वै० पृ० ४४८

यस्योदये ज्ञानेऽप्यलं प्रत्ययरूपेण परवैराग्येण असम्प्रज्ञातयोगो जन्यते। —यो० वा० पृ० ६१

# समापत्तियाँ

यद्यपि समापत्तियाँ सम्प्रज्ञात समाधिकाल में ही होती है ; फ़िर भी समापत्ति और समाधि पर्य्यायवाची शब्द नहीं हैं। वस्तुतः चारों प्रकार के सम्प्रज्ञातयोगों की स्थिति में चित्त की जो साक्षात्काररूपता होतो है वही समापत्ति कही जाती है। समाधि चित्तवृत्तियों का निरोध है और समापत्ति निरुद्धवृत्तिकचित्त की सम्यक् आलम्बनाकारापत्ति अर्थात् चित्त की आलम्बनाकाररूपता है। वस्तुतः साधनतत्पर चित्तकर्तृक, आलम्बनसाक्षात्कार-फलक, समापन्नचित्तकर्मक, प्रत्यक्ष ही समापत्ति है; जबकि समाधि चित्तवृत्ति-निरोधरूप होती है। समाधि होने पर समापत्ति होती है।[1] विषयता के आधार पर समापत्ति के तीन भेद माने गए हैं।

१--ग्राह्यविषयकसमापत्ति

२—ग्रहण-विषयक-समापत्ति

३--ग्रहीतृविषयक-समापत्ति

चित्त आलम्बन का प्रत्यक्ष किस रूप में कर रहा है इस आधार पर विभक्त करने से समापत्तियों को १-सवितर्का, २-निर्वितर्का, ३-सविचारा और ४-निर्विचारा नाम दिया जाता है। इस प्रकार से विभाजित करने पर कुल ४ समापत्तियाँ होती हैं। सवितर्कादि क्रम में समापत्तियों की संख्या कितनी है इस विषय पर शास्त्रकारों में बड़ा मतभेद है। भाष्यकार ने स्पष्टतः सवितर्कादि चार ही प्रकार की समापत्तियाँ मानी हैं।[2] तत्त्ववैशारदीकार आचार्यवाचस्पतिमिश्र तथा उनके अनुयायियों के अनुसार यह संख्या आठ है[3]। इस मत का खण्डन करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु ने अपने योगवार्तिक में ५ प्रकार की समापत्तियाँ बताई हैं। सवितर्कादि ४ समापत्तियों के अतिरिक्त ग्रहीतृविषयक समापत्ति

---

१. समापत्तिरूपसाक्षात्कारहेतुत्वाद्योगस्य समापत्तित्वमुक्तम्।—यो० वा० पृ० १२४

२. ताः चतस्रः समापत्तयः।—यो० भा० पृ० १२४

३. तेन ग्राह्ये चतस्रः समापत्तयो ग्रहीतृग्रहणयोश्चचतस्रः इत्यष्टौ ते भवन्ति इति निगदव्याख्यातं भाष्यम्।—तत्त्ववैशारदी पृ० १२४
तेनाष्टौ सिद्धा भवन्ति इतिभाष्यहृदयंप्रकटीकृतम्।—पातंजलभाष्य रहस्यम् पृ० १२४

उन्होंने अलग से मानी है।[१] ग्रहणविषयक समापत्ति को स्थूलत्त्व, सूक्ष्मत्त्व, सविकल्पत्व एवं निर्विकल्पत्व के क्रम से विकल्पयुक्तत्व और विकल्परहितत्व की दृष्टि से सविचारा एवं निर्विचारा समापत्तियों में ही अन्तर्भावित कर दिया है। निर्विचारा समापत्ति का क्षेत्र प्रकृतितत्त्वपर्यन्त ही है। अतः उसी में आनन्दानुगत-सम्प्रज्ञातकालिक ग्रहणविषयासमापति का अन्तर्भावित करना समीचीन ही है।[२] किन्तु गृहीतृविषयक समापत्ति उसमें अन्तर्भावित नहीं की जा सकती। क्योंकि उसका विषय पुरुष है। निर्विचारा समापत्ति का क्षेत्र प्रकृतिपर्यन्त ही है; पुरुष उस क्षेत्र से परे है।[३] समापत्तियों की संख्या के सम्बन्ध में वाचस्पतिमिश्र के मत का खण्डन करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि जो लोग आठ समापत्तियाँ मानते हैं उनका मत समीचीन नहीं है। आठ समापत्तियाँ मानने के लिये कोई प्रमाण नहीं मिलता क्योंकि आनन्दानुगत और अस्मितानुगत समाधि की दशा में सानन्द, निरानन्द और सास्मित, निरस्मित सरीखे दो-दो विकल्प असम्भव हैं। आनन्द तो ह्लादमात्र है और अस्मिता चैतन्यमात्रसंवित् है--ऐसा भाष्यकार ने स्वयं कहा है। न तो 'ह्लाद' शब्द से इन्द्रिय का अर्थ ग्रहण किया जा सकता है और न 'अस्मिता' शब्द से अहङ्कारोपरक्तचैतन्य को ग्रहण किया जा सकता है। जहाँ मुख्यार्थ सम्भव एवम् उपपन्न है, वहाँ लक्षणा का आश्रय लेना और लक्ष्यार्थ का ग्रहण करना उचित नहीं कहा जा सकता। इसलिए ह्लादानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में ह्लादशून्यत्व का विकल्प तथा अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात में निरस्मिता का विकल्प मानना और इन विकल्पों को स्वीकार करके इन समाधियों की स्थिति में दो-दो समापत्तियाँ स्वीकार करना सर्वथा सदोष एवम् अनुचित है।[४] शब्दार्थज्ञानविकल्पमिश्रितभूतेन्द्रियरूप स्थूल आलम्वनाकार होना चित्त की सवितर्का तथा उस प्रकार के विकल्प से रहित भूतेन्द्रियरूप स्थूल आलम्बनसमापन्न होने में चित्त की निर्वितर्का समापत्ति होती है। तन्मात्रा से लेकर प्रकृतिपर्यन्त स्वविकार तथा देशकाल और निमित्त के अनुभव से युक्त सूक्ष्मसाक्षात्कार होने पर चित्त की सविचारा तथा इस प्रकार के अनुभव से शून्य शुद्ध-साक्षात्कार निर्विचारासमापत्ति कही जाती है।[५]

---

१. ग्राह्यग्रहणयोः स्थूलसूक्ष्मभेदेन सवितर्काद्यारचतस्रः पंचमी च ग्रहीतृष्विति।—यो० वा० पृ० १२५।

२. ततश्च क्रमेणनिर्विचारसमापत्तिनिष्ठया प्रकृतिपर्यन्तजयी तृतीयः। अस्यामेव च भूमिकायामानन्दानुगतस्य प्रवेशः। ततश्चास्मितानुगत-योगपर्यन्तश्चतुर्थः।—यो० सा० स० पृ० २७

३. द्रष्टव्य, यो सा० सं० पृ० २४, २५, २६
सूक्ष्मविषयत्वञ्चालिङ्गपर्यवसानम्।—यो० सू० १।४५

४. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० १२५

५. द्रष्टव्य, यो० सा० सं० पृ० २४—२६

# योग-साधना के सोपान

योग के साधनों का विवरण योगसूत्रों के पाद-नाम-क्रम से द्वितीय पाद में ही होना चाहिये था, परन्तु बात ऐसी नहीं है। समाधिपाद में भी योग-साधन के उपाय बताए गए हैं। सूत्रकार एवं भाष्यकार के लेखों में यत्र-तत्र साधना के प्रकारों के उल्लेख प्रायः चारों पादों में मिलते हैं। कभी तो यह संशय उठने लगता है कि क्या एक ही साधक को इन सभी साधनों को क्रियात्मक रूप देना चाहिये अथवा वह स्वेच्छानुसार इनमें से किसी भी एक साधन को अपना कर योग सिद्ध कर सकता है। तत्त्ववैशारदीकार ने भी केवल यह संकेत करके संतोष कर लिया है कि समाधिपाद में बताए गए साधना के मार्ग उत्तमाधिकारियों के लिए हैं जब कि साधनपाद में व्युत्थितचित्तसाधकों की सत्त्वशुद्धि के ढंग बताए गए हैं। जिनकी सहायता से वे लोग भी विगलित-व्युत्थान हो कर अभ्यासवैराग्य नामक प्रथमपाद-विवेचित योगसाधनों को अपनाने में समर्थ हो सकते हैं।[1] भोज ने भी अपनी राज-मार्तण्डवृत्ति में साधनपाद का प्रारम्भ करते समय केवल इतना ही निर्दिष्ट किया है कि अब व्युत्थित-चित्तवालों को किस प्रकार से उपायाभ्यासपूर्वक योग सुलभ हो सकता है—यह प्रतिपादित किया जायगा।[2] ईश्वर-प्रणिधान को अलबत्ता उन्होंने अलग से एक सुगमोपाय बताकर योग-साधन माना है।[3]

योग-साधना के क्षेत्र में इस विषय को सुलझा कर क्रमबद्ध एवं उतम रीति से संजो कर प्रस्तुत करने का श्रेय निस्संदेह आचार्य विज्ञानभिक्षु को है। उन्होंने साधकों में फैली हुई इस प्रकार की संशयात्मक स्थिति को निर्मूल करने का प्रयास किया है। साधना के समग्र सोपानों का उन्होंने अलग-अलग अभ्रामक विश्लेषण किया है ताकि हर प्रकार के साधक अपनी मानसिक योग्यता के अनुसार साधना के

---

१. अभ्यासवैराग्ये हि योगोपायौ प्रथमे पादे उक्तौ न च तौ व्युत्थितचितस्य प्रागित्येव संभवत इति द्वितीयपादोपदेश्यानुपायानपेक्षते सत्त्वशुद्धयर्थम्, ततोहि विशुद्धसत्त्वःकृतरक्षासंविधानोऽभ्यासवैराग्ये प्रत्यहं भावयति। —त० वै० पृ० १३७

२. तदेवं प्रथमे पादे समाहितचित्तस्य सोपायं योगमभिधाय व्युत्थितचित्तस्यापिकथमुपायाभ्यासपूर्वको योगः।—रा० मा० वृ० पृ० २९

३. सुगमोपायप्रदर्शनपरतयेश्वरस्य स्वरूपप्रमाणप्रभाववाचकोपासनाक्रमं तत्फलानि च निर्णीय इत्यादि।—रा० मा० वृ० पृ० २८

क्रमिक सोपान पर उतरें और तदनुकूल सिद्धि पाकर धीरे धीरे सम्प्रज्ञात एवम् असम्प्रज्ञात योग में पारङ्गत होकर कैवल्य-लाभ करें।

चूँकि सम्प्रज्ञातसमाधि असम्प्रज्ञात से पूर्ववर्ती है अतः उस स्थिति का लाभ करने के पश्चात् ही असम्प्रज्ञात के लिये भूमिका प्रस्तुत होती है। साधनाक्रम-प्रतिपादन में इसीलिये प्रथमतः सम्प्रज्ञात के साधनों का ही विचार प्रस्तुत किया गया है। सम्प्रज्ञातयोग के त्रिविध साधन बताए गए हैं क्योंकि मन्द, मध्यम और उत्तम भेद से साधक तीन प्रकार के होते हैं। इन्हीं तीनों को क्रमशः आरुरुक्षु, युञ्जान और योगारूढ नाम दिया गया है।[1] इन तीनों प्रकार के साधकों की अपेक्षा से तीन प्रकार के योग साधन बताए गए हैं। सूत्रों के क्रम से प्रभावित होकर विज्ञानभिक्षु ने भी पहले उत्तमसाधकों का लक्षण और उनकी साधना का स्वरूप विवेचित किया है।

## उत्तम साधकों की साधना का स्वरूप

उन साधकों को उत्तम कहा जाता है जिन्होंने पूर्वजन्मों में ही सम्प्रज्ञात के बहिरङ्ग[2] साधनों का अनुष्ठान कर लिया होता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पाँच सम्प्रज्ञातयोग के बहिरङ्ग साधन माने जाते हैं; और धारणा, ध्यान तथा समाधि ये तीन सम्प्रज्ञातयोग के अन्तरङ्ग साधन कहे जाते हैं। उत्तम साधकों को इस जन्म में इन पाँच बहिरङ्ग साधनों के अनुष्ठानों की अपेक्षा नहीं रहती। ये योग-मार्ग पर आरूढ-प्राय रहते हैं। उदाहरणार्थ जडभरत आदि लोग इसी कोटि के साधक थे। इन लोगों की सम्प्रज्ञात-सिद्धि में अभ्यास[3] और वैराग्य ही प्रमुख साधन बनते हैं। इन्हें न तो क्रियायोग करने की आवश्यकता होती है और न ही योग के बहिरङ्गों का अनुष्ठान ही। योगारूढों का वास्तविक

---

१. तत्र मन्दमध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधा योगाधिकारिणो भवन्त्यारुरुक्षुयुञ्जानयोगारूढरूपाः।—यो० सा० सं० पृ० ३७

२. त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।—यो० सू० ३।७
यमनियमासनप्राणायाम और प्रत्याहार ये पाँच सम्प्रज्ञातयोग के सम्बन्ध में बहिरङ्ग और धारणा, ध्यान तथा समाधि ये तीन अन्तरङ्ग कहे जाते हैं।—यो० सा० सं० ८६

३. पूर्वपादे ह्युत्तमाधिकारिणामभ्यासवैराग्ये एव योगयोः साधनमुक्तम्।—यो० वा० पृ० २४२

रूप प्रदर्शित करने के लिये आचार्य ने गीता का श्लोक उद्धृत किया है। योगारूढ साधक इन्द्रियों और कर्मों में अनासक्त रहता है तथा सभी कामसंकल्पों को त्याग देता है।[१] अभ्यास और वैराग्य के रूप स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। चित्त की 'स्थिति' के लिये यत्न करना अभ्यास है। अर्थात् ध्येय से बाहर जाते हुए चित्त का बार बार उसी ध्येय में सन्निवेशित करना ही अभ्यास है। इस 'स्थिति' शब्द को आचार्य ने योग का चरम अङ्गभूत समाधि बताया है[२] जबकि अन्य टीकाकारों ने ऐसा नहीं बताया। वैराग्य अलम्भावना को कहते हैं। रागादि के अभाव को वैराग्य नहीं कहते। वैराग्य दो प्रकार का होता है—अपरवैराग्य और परवैराग्य। उपार्जन, रक्षण, क्षय तथा हिंसादि क्रियाओं में अनन्तदोषदर्शननिमित्तक ऐहिक तथा आमुष्मिक विषयों में सम्पर्क रहने पर भी चित्त में अनाभोगात्मक वितृष्णा का भाव अपरवैराग्य है। यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय तथा वशीकार नामक चार सोपानों में अपरवैराग्य का क्रमिकविकास होता है। इसीलिये वशीकारसंज्ञा अपरवैराग्य का ही योगारूढ साधक के द्वारा अनुष्ठान किया जाना है।[३] तत्त्वज्ञानपर्यन्त सभी दृश्यों में पहले ही उत्पन्न दोषदर्शन से दोषान्तर देखने की अपेक्षा न होने से तथा आत्मसाक्षात्कार के कारण सभी अनात्म-तत्त्वों में—यहाँ तक कि बुद्धिसत्त्व और विवेकख्याति में भी—जो अलम्भाव होता है वही परवैराग्य है। यह वैराग्य सम्प्रज्ञात की साधना करनेवाले उत्तम, मध्यम या मन्द किसी प्रकार के साधक के अनुष्ठान का विषय नहीं है। वह तो असम्प्रज्ञातयोग का साधन है और सम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि के बाद ही सम्भव होता है।

योगारूढ साधक को केवल अभ्यास[४] और वशीकार संज्ञा अपरवैराग्य का ही सम्यग् अनुष्ठान करना पड़ता है। वैराग्य से उसकी विषयवृत्ति कुण्ठित हो जाती है तथा ध्येय-विषयक-अभ्यास[५] से ध्येयरूपवृत्ति का प्रवाह बलवान् तथा सुदृढ हो

---

१. यदाहि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ श्रीमद्भगवद्गीता ६।४

२. स्थितिश्चयोगचरमाङ्गसमाधिर्निश्चलैकाग्रताधारारूपः। यो० सा० सं० पृ० ४१

३. एतेषु चतुर्विधवैराग्येषुवशीकारसंज्ञैव योगारूढस्यानुष्ठेया।—यो० सा० सं० पृ० ४३

४. पूर्वपादे ह्युत्तमाधिकारिणाम् अभ्यासवैराग्ये एव योगयोःसाधनमुक्तम्। —यो० वा० पृ० २४२

५. अभ्यासस्यान्तरङ्गं साधनं परिकर्मादिकमुच्यते। परिकर्मशब्देन स्थितिहेतुश्चित्तसंस्कार उच्यते।—यो० सा० सं० पृ० ४४

जाता है। ये ध्येयविषयक प्रारम्भिक अभ्यास चित्त के परिकर्म कहलाते हैं। ध्येयातिरिक्तचित्तवृत्ति-निरोधरूप सम्प्रज्ञात की सिद्धि योगारूढ साधक के लिये इन्हीं दोनों साधनों से सम्पन्न हो जाती है।[१]

## मध्यम साधकों की साधना का स्वरूप

जो साधक इस जन्म में ही योगमार्ग में रत होते हैं वे मध्यमाधिकारी कहलाते हैं। योगारूढ अधिकारी पूर्वजन्म में की गई बहिरङ्ग साधना के बल पर इन लोगों से बढ़ कर होते हैं। इसीलिये वे उत्तम कहलाते हैं। मध्यम अधिकारियों को युञ्जान योगी भी कहते है। ये आरुरुक्षु नामक तीसरे प्रकार के योगियों से ऊँचे होते हैं। विज्ञानभिक्षु ने वर्णाश्रमधर्म की निष्ठा के कारण इन तीनों प्रकार के साधकों को आश्रमों के अन्तर्गत विभाजित करने की भी चेष्टा की है। इस विभाजन के अनुसार परमहंस संन्यासी लोग योगारूढ या उत्तमाधिकारी हैं। मध्यम या युञ्जान साधक वानप्रस्थ आश्रमवाले होते हैं और आरुरुक्षु साधक गृहस्थ-आश्रम में रह कर साधना करते हैं।[२]

मध्यमाधिकारी के लिये क्रियायोग नामक साधन प्रधान रूप से निश्चित किया गया है। कतिपय प्रकृष्ट क्रियाओं के द्वारा की जानेवाली साधना को क्रियायोग नाम दिया गया है। क्रियायोग के तीन अङ्ग हैं—१. तपः २. स्वाध्याय और ३. ईश्वरप्रणिधान। शास्त्रोक्त व्रतों के द्वारा शीतोष्णादि द्वन्दों का सहन करना तप है। वानप्रस्थाश्रम में विहित यज्ञ दानादिकों का तप में ही अन्तर्भाव है।[३] मोक्षप्राप्ति में सहायक शास्त्रों का अध्ययन करना अथवा प्रणवादि का जप करना स्वाध्याय कहलाता है। ईश्वरप्रणिधान का तात्पर्य है सभी कर्मों का ईश्वर में अर्पित करना अथवा कर्मफलों का संन्यास। 'कर्मफलों का भोक्ता परमेश्वर है' इस प्रकार का चिन्तन कर्मफलार्पण कहलाता है। इस चिन्तन का आधार 'ऋतंपिबन्तौ' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित परमेश्वर का भोक्तृत्व है। यद्यपि परमेश्वर में साक्षाद् भोग का प्रतिषेध है। जीवों को कर्मफल-भोग कराता हुआ जो प्रसन्नता-लाभ-परमेश्वर करता है वही ईश्वर का कर्मफल भोग है। जैसे याचकों को धन देता हुआ दाता उस धन का भोक्ता कहलाता है।[४]

---

१. तत्र च वैराग्ये साक्षादेव वृत्तिनिरोधकारणम्। अभ्यासस्तु समाधिरूपाङ्गद्वारा।—यो० सा० सं० पृ० ४९

२. युञ्जानस्य वानप्रस्थादेः प्रकृष्टक्रिया...।—यो० सा० सं० पृ० ५०

३. यज्ञदानादीनाम् तु तत्रैवान्तर्भावः। यो० सा० सं० पृ० ५०

४. यथार्थिभ्यो धनानि प्रयच्छन्दाता तद्धनभोक्ता तद्वत्।—यो० सा० सं० पृ० ५१

इन मध्यमाधिकारियों के लिए भी अभ्यास और वैराग्य अनिवार्य हैं।[१] क्रियायोगों के अनुष्ठान द्वारा ये लोग अभ्यास और वैराग्य में सक्षमता प्राप्त करते हैं। क्रियायोग, अङ्गरूप की समाधि तथा अङ्गीरूप की सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करानेवाला और क्लेशों को क्षीण करनेवाला होता है। इस क्षीणता का अर्थ है विवेकख्याति का प्रतिरोध करने की सामर्थ्य का अभाव हो जाना।[२] क्रियायोग अपने दोनों फलों को दृष्ट एवं अदृष्ट द्वारों से सिद्ध करता है। समाधि-लाभ करना तथा क्लेशों के तनूकरण इन दोनों कार्यों को दृष्ट एवम् अदृष्ट द्वारों से क्रियायोग पूरा करता है। क्लेशों के तनूकरण में चित्त-शुद्धि अदृष्ट द्वार है[३] क्योंकि क्रियायोग से चित्तशुद्धि और चित्तशुद्धि से अधर्म की तनुता और अधर्म की तनुता से अविद्यादि क्लेशों का तनूकरण होता है। पूर्ण क्रियायोग चूंकि बिना क्लेशों के तनु हुए सम्भव नहीं, अतः क्रियायोग स्वनिष्पत्ति के लिए साक्षात् क्लेशों को तनु करता है। यह उसका दृष्ट द्वार हुआ। इसी प्रकार से समाधिनामक फल के लिए सत्त्वशुद्धि अदृष्टद्वार है और कर्म के द्वारा चित्त का नियमन इत्यादि दृष्टद्वार है।[४] इन दोनों कार्यों से विवेकख्याति का मार्ग प्रशस्त होता है। फिर साधक असम्प्रज्ञात के द्वारा कर्मनाश करके अथवा जीवन्मुक्तावस्था में रहकर प्रारब्ध कर्मों का भोग करके मोक्षलाभ करता है।

## मन्दाधिकारियों की योगसाधना का स्वरूप

योगसाधना के लिए तत्पर गृहस्थ साधकों को विज्ञानभिक्षु ने मन्दाधिकारी माना है।[५] उनकी साधना अष्टाङ्ग योग-मार्ग की होती है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ योगाङ्ग बनाए गये

१. अभ्यासवैराग्यादिकं तु यथाशक्तितोऽनुष्ठेयम्।—यो० सा० सं० पृ० ५०

२. एतेषां तनुत्वं च विवेकख्यातिप्रतिबन्धाक्षमता।—यो० सा० सं० पृ० ५३

३. तच्च क्रियायोगस्य दृष्टादृष्टद्वाराफलं भवति।—यो० सा० सं० पृ० ५३

४. एवं योगोऽपि क्रियायोगस्य दृष्टादृष्टोभयद्वाराफलं भवति।—यो० सा० सं० पृ० ५४

५. अथ मन्दाधिकारिणो योगमारुरुक्षोर्गृहस्थादेर्योगसाधनान्युच्यन्ते।
—यो० सा० सं० पृ० ६०

हैं।[१] उत्तमाधिकारियों के लिए बताया गया अभ्यास, धारणादि में और वैराग्य यम तथा प्रत्याहार में अन्तर्भूत है। मध्यमाधिकारियों के लिए प्रतिपादित तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान का भी इन्हीं अष्टाङ्गों में अन्तर्भाव है।[२] इसलिए मन्दाधिकारियों के लिए पिण्डीकृत करके सब साधन उपदिष्ट किए गए हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठों को विज्ञानभिक्षु ने कर्मयोग भी कहा है। इस प्रकार से उत्तमाधिकारियों के लिए मुख्यतः ज्ञान-योग का उपदेश किया गया है। मध्यमाधिकारियों के लिए कर्म और योग के समुच्चय का उपदेश किया गया है और मन्दाधिकारियों के लिए कर्मयोग प्रतिपादित किया गया है।

विज्ञानभिक्षु ने अहिंसा को स्पष्ट करते हुए उसमें से याज्ञिक हिंसा का भी बहिष्कार करके पूर्ण अहिंसा को ही योगसाधनरूप एक महाव्रत माना है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम कहलाते हैं।[३] यम निवृत्तिपरक होने से सार्वत्रिक हैं। इसीलिए सार्वभौम महाव्रत कहे गए हैं।[४] शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये पाँच नियम कहलाते हैं।[५] नियम प्रवृत्तिमूलक होने से देशकालादि नियन्त्रण के अनुसार सार्वभौम महाव्रत नहीं कहे जा सकते। जितने प्रकार के जीव हैं उनके बैठने की जितनी रीतियाँ हैं, वे सभी आसन हैं। किन्तु योगसाधन-रूप से तीन श्रेष्ठ है:—स्वस्तिकासन, पद्मासन और अर्द्धासन।[६] यम से लेकर प्रत्याहार पर्यन्त पाँचों साधन देश, प्राण और इन्द्रियों के निग्रह करनेवाले हैं और धारणा, ध्यान तथा समाधि चित्त-निग्रह-परक हैं। इसीलिए पहले के पाँच योग-साधन में बहिरङ्ग और अन्तिम तीन अन्तरङ्ग तथा अभ्यर्हित माने जाते हैं।[७] जिस देश में ध्येय हो वहाँ चित्त का

---

१. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।
—यो० सू० २।२९

२. द्रष्टव्य, यो० सा० सं० पृ० ६०

३. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाःयमाः।—यो० सू० २।३०

४. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।—यो०सू०२।३१

५. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि।—यो० सू० २।३२

६. तेषु मुख्यानि त्रीण्यासनानि—

आसनं स्वस्तिकं प्रोक्तं पद्ममर्धासनं तथा।
आसनानां तु सर्वेषामेतदासनमुत्तमम्॥
—यो० सा० सं० पृ० ६५

७. द्रष्टव्य, यो० सा० सं० पृ० ८५-८६

स्थिर करना धारणा है। उसी देश में ध्येय के आकार की सत्त्ववृत्ति का ऐसा प्रवाह जो अन्य वृत्तियों से व्यवहित न हो ध्यान कहलाता है। वही ध्यान जब ध्येय के आवेश से ध्यान-ध्येय-ध्यातृभाव की दृष्टि से शून्य होकर केवल ध्येय-मात्राकार रह जाता है वही समाधि है। समाधि नामक यह आठवाँ योगाङ्ग सम्प्रज्ञात समाधि से भिन्न और उससे पूर्ववर्ती है। दोनों में क्या अन्तर है? इसे स्पष्ट करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि अङ्गभूत समाधि और अङ्गिभूत सम्प्रज्ञात समाधि के स्वरूप एवं स्वभाव में पर्याप्त भेद है। मुख्य भेद यह है कि अङ्गसमाधि में ध्येय का केवल ध्यायमान स्वरूप ही भासित होता है जबकि अङ्गिसमाधि में अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय के ध्यायमान स्वरूप के भासित होने के साथ-साथ ध्येय का अध्याय-मानस्वरूप भी साकल्येन भासित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि सम्प्रज्ञातकालिक साक्षात्कारोदय हो जाने पर ध्येय का पूर्ण स्वरूप भासित होता है। किन्तु यहाँ पर एक बात और स्मरणीय है कि ध्येय का पूर्णस्वरूप भासन भी सम्प्रज्ञातसमाधि के सोपानानुसार ही होता है अर्थात् वितर्कानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि में ध्येय के स्थूलरूप का ही पूर्णस्वरूप भासित होता है सूक्ष्म का रूप नहीं। वैसे ही विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में ध्येय के सूक्ष्मस्वरूप का ही पूर्णतः भासन होता है, ध्येय के स्थूल रूप का नहीं। इसलिए चित्त की एकाग्रभूमि में जब ध्येय के पूर्णरूप को उद्भासित करनेवाले साक्षात्कार का उदय हो जाता है तब वह समाधि अङ्गी या सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है और जब तक तादृश साक्षात्कार का उदय नहीं होता, केवल ध्यायमानरूप में ही ध्येयाकार चित्तवृत्ति बनी रहती है तब उसे अंगभूत समाधि ही मानना चाहिए।[१]

जब एक ही आलम्बन में धारणा, ध्यान और समाधि तीनों निष्पन्न किए जाते हैं तो इन्हें संयम कहते हैं। स्थूलादि के क्रम से विविक्त परमात्मा पर्यन्त इस संयम का विनियोग करना चाहिए[२]। उत्तमाधिकारियों को पूर्व जन्म के संस्कार के बल पर केवल संयम से ही योग सिद्ध हो जाता है। इसलिए योगसाधना में ये तीनों अङ्ग अत्यन्तावश्यक हैं। तीनों प्रकार के साधकों के लिए धारणा-ध्यान-समाधि तीनों का अभ्यास अनिवार्य है।

---

१. अस्य समाधिरूपस्याङ्गस्याङ्गियोगसम्प्रज्ञातयोगादयं भेदो यदत्र चिन्ता-रूपतया विशेषतो ध्येयस्वरूप न भासते; अङ्गिनि तु सम्प्रज्ञाते साक्षात्कारोदये समाध्यविषया अपि विषया भासन्त इति, तथा च साक्षात्कार युक्तैकाग्र्यकाले सम्प्रज्ञातयोगोऽन्यदा तु समाधिमात्रमिति विभागः।
—यो० वा० पृ० २८४

२. द्रष्टव्य, यो० सा० सं० पृ० ७८

## असम्प्रज्ञात योग की साधना के सोपान

विज्ञानभिक्षु 'भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि' को भी योगकोटि में स्वीकार करते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में असम्प्रज्ञात योग की साधना स्पष्टतः दो प्रकार की होती है। 'भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात' की साधना के अधिकारी केवल विदेह और प्रकृतिलीन हैं। उनकी साधना में किन्हीं अन्य उपायों की अपेक्षा नहीं है। उनकी योग-सिद्धि प्रकृतिलीन और विदेह रूप से जन्म लेने मात्र से हो जाती है। इसलिए इस प्रकार के असम्प्रज्ञात योग की साधना का स्वरूप अलग से नहीं बताया गया है। इसमें उपाय-निर्देश का कोई अवसर ही नहीं था इसीलिए दूसरे प्रकार के असम्प्रज्ञात-योग का नाम ही "उपायप्रत्यय-असम्प्रज्ञात" पड़ा है।

इसी उपाय-प्रत्यय-असम्प्रज्ञात की साधना मनुष्यों के लिए बताई गई है। विज्ञानभिक्षु ने बड़ी सुलझी हुई शैली में इस साधना के सभी स्वरूपों पर प्रकाश डाला है। अभ्यास और वैराग्य, तीनों प्रकार की सम्प्रज्ञातसाधना में जिस तरह अनिवार्य अङ्ग हैं उसी तरह 'उपाय-प्रत्यय असम्प्रज्ञात' की साधना में भी अभ्यास और वैराग्य ही अनिवार्य अंग हैं। क्योंकि योगद्वय के साधारण कारण के रूप में सूत्र और भाष्य में भी अभ्यास और वैराग्य ही बताए गए हैं।[1] वस्तुतः सम्प्रज्ञात की सिद्धि के अनन्तर ही असम्प्रज्ञात की साधना का क्षेत्र उपस्थित होता है। इललिए सम्प्रज्ञात की चरमावस्था में सिद्ध विवेकख्याति की दशा में शुद्ध-पुरुष-दर्शनलब्धबुद्धिशुद्धि के कारण साधक को सत्त्वगुण और विवेक-ख्याति से भी वैराग्य होने लगता है। यह विवेकख्याति भी गुणात्मक होने के कारण दुःखात्मक है अतः यह भी शान्त हो—इस प्रकार का अलम्प्रत्यय या वैराग्य ही परवैराग्य कहलाता है। यह ज्ञान की पराकाष्ठा है। यही असम्प्रज्ञात का साक्षात्कारण है।[2] इसी पर वैराग्य के निरालम्बन अभ्यास से असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है।[3] यह अभ्यास सर्वथा निरालम्बन होता है।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु ने 'श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधि-प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्' वाले सूत्र की व्याख्या करते समय कहा है कि श्रद्धामूलक

---

१. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।—यो० सू० १।१२

२. द्रष्टव्य, यो० सा० सं० पृ० ४९

३. द्रष्टव्य, यो० सा० सं० पृ० ४९

धारणा, ध्यान और समाधि रूप अन्तरंगों से उत्पन्न आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूपी विवेकख्याति की सिद्धि के द्वारा तद्विषयक परवैराग्य से असम्प्रज्ञातयोगसिद्ध होता है।[1] चूंकि पूर्ण-निरोधरूप असम्प्रज्ञात ध्येयार्थ-शून्य होता है। इसीलिए इसका हेतु भी अखिलध्येयवैराग्य रूप परवैराग्य ही हो सकता है। और चूंकि परवैराग्य के अभ्यास अथवा पौनःपुन्य और नैरन्तर्य से ही असम्प्रज्ञात योगनिष्पन्न होता है इसलिए इस प्रकार का निर्वस्तुक अभ्यास भी इसका हेतु हुआ।[2] निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि अपरवैराग्य और सालम्बन अभ्यास सम्प्रज्ञातयोग के साक्षात् साधन हैं जबकि परवैराग्य तथा निरालम्बन अभ्यास उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात योग के साक्षात् सोपान हैं। चूंकि परवैराग्य तथा निरालम्बन अभ्यास सम्प्रज्ञातसिद्धिजन्य ही होते हैं इसलिए परम्परा से सङ्गत साधन भी उपाय-प्रत्यय-असम्प्रज्ञात योग के हेतु हुए।[3]

---

१. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ५९
२. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ५६
३. अष्टानाञ्चाङ्गानां फलद्वयं सम्प्रज्ञातयोगस्तद्द्वाराऽसम्प्रज्ञातयोगश्चेति।
—यो० वा० ० २८४

# ईश्वर

ईश्वर का स्वरूप विज्ञानभिक्षु ने भलीभाँति विवेचित किया है। ईश्वर-प्रणिधान से असम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि आसन्नतम हो जाती है।[1] क्रियायोग के साधनों में भी ईश्वरप्रणिधान मुख्य है। मन्दाधिकारियों के लिए प्रतिपादित यमनियमादि अष्टाङ्गयोग में भी नियमों के अन्तर्गत ही ईश्वर-प्रणिधान विहित है। समस्या यह है कि सांख्य-सिद्धान्त तो प्रकृति और पुरुष नामक दो ही नित्य मौलिक तत्त्व मानता है। क्या यह ईश्वर नामक तत्त्व इन दोनों से भिन्न है? या फिर इन्हीं दोनों में से किसी एक में अन्तर्भावित किया जा सकता है? ईश्वर को प्रकृतितत्त्व के अन्तर्गत माना नहीं जा सकता क्योंकि प्रकृति अचेतन है। ईश्वर को इन दोनों तत्त्वों से भिन्न एक तीसरे प्रकार का मौलिक तत्त्व मानने पर सांख्य और योग शास्त्र एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न प्रकार के शास्त्र हो जायेंगे। यह स्थिति 'एक सांख्यं च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति' एवं 'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः' इत्यादि स्मृतियों को सर्वथा अनभीष्ट होगी। इसीलिए योगसूत्रकार पतञ्जलि ने भी ईश्वर को एक प्रकार का पुरुष ही माना है। "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष-ईश्वरः", यो० सू० १।२४। माना कि ईश्वर एक सामान्य पुरुष नहीं है फिर भी है वह एक पुरुष ही, भले ही वह एक विशेष प्रकार का पुरुष हो। इसी मान्यता के अनुसार विज्ञानभिक्षु ने ईश्वर का अन्तर्भाव पुरुष में और उसकी उपाधि का अन्तर्भाव प्रकृति में माना है।[2]

ईश्वर को क्लेशकर्मादि से अपरामृष्ट माना गया है। अब शङ्का यह उठती है कि ये क्लेशकर्मादि तो बुद्धि में रहनेवाले धर्म हैं। वस्तुतः सभी बद्ध और मुक्त पुरुष इन क्लेशकर्मादि से अपरामृष्ट ही होते हैं। श्रुतियाँ भी 'असङ्गो ह्ययं

---

१. प्रेमलक्षणाद् भक्तिरूपाद्वक्ष्यमाणात्प्रणिधानादावर्जितोऽभिमुखीकृत ईश्वरः तं ध्यायिनमभिध्यानमात्रेण' अस्य समाधिमोक्षौ आसन्नतमौ भवेताम् इति इच्छामात्रेण रोगाशक्त्यादिभिरुपायानुष्ठानमान्द्येऽप्यनुगृह्णाति आनुकूल्यं भजते।—यो० वा० पृ० ६४

२. तथा चेश्वरस्य पुरुषेऽन्तर्भावन्तदुपाधेः प्रधाने इति भावः।—यो० वा० पृ० ६५

पुरुषः' कहती है। तो फिर ईश्वर नामक पुरुष विशेष में कौन सा वैशिष्ट्य हुआ जिसके वल पर उसे विशिष्ट पुरुष माना जाय? इस शंका का निराकरण यह है कि परामर्श शब्द का अर्थ यहाँ पर वास्तविक भोग नहीं है। ईश्वरातिरिक्त अन्य पुरुषों में क्लेशकर्मादि न रहते हुए भी तत्तद्बुद्धिगत होने के कारण पुरुषों में रहते हुए कहे जाते हैं अर्थात् क्लेशकर्मादि का व्यपदेश इन पुरुषों में होता हैं। पुरुषों में इन क्लेशकर्मादि की यह व्यपदिश्यमानता ही पुरुषों का भोग कहा जाता है। इसी व्यपदिश्यमान भोग के वल पर पुरुष को सांख्य योगशास्त्र में भोक्ता कहते हैं।[1] यही व्यपदिश्यमान भोग ही यहाँ पर परामर्श शब्द से अभीष्ट है। इस प्रकार का परामर्श सभी बद्ध पुरुषो में रहता है; परन्तु ईश्वर में इस प्रकार का भी क्लेशकर्मादि परामर्श नहीं रहता। सामान्य पुरुषों से ईश्वर का यही वैशिष्ट्य है।[2]

इस प्रकार की क्लेशादि परामर्शशून्यता यद्यपि केवली सिद्धों को भी बाद में हो जाती है; किन्तु वे ईश्वर नहीं कहे जा सकते, क्योंकि ईश्वर में त्रैकालिक-परामर्शशून्यता है जवकि कैवल्यप्राप्त करनेवाले इन सिद्धों में पूर्वकालिक परामर्श तो निश्चित ही रहता है।[3] ये केवलीअनेक और क्षुद्र ऐश्वर्यवाले होते हैं जब कि ईश्वर एक है और सर्वातिशायी ऐश्वर्यवाला है। वह सदैव अप्रतिहत इच्छा से युक्त उपाधिवाला है। ईश्वर की उपाधि प्रकृष्ट कोटि की है, शुद्धसत्त्वा है, नित्य तथा शाश्वत है। ईश्वरोपाधि की ज्ञानलक्षणावृत्ति प्रलयकाल में भी व्यक्त-रूप से स्थित रहती है। विना उपाधिवृत्ति के परमेश्वर का उस समय अर्थद्रष्टृत्व कैसे सम्भव हो सकता है?[4] सृष्टि के प्रयोजन से प्रकृति की साम्यावस्था में सृष्टि के प्रयोजन से क्षोभ उत्पन्न करने की इच्छा भी तो ईश्वरोपाधि में उपस्थित रहती है। वह स्वयं पूर्णज्ञानशक्ति है। ईश्वर की उपाधि में किसी प्रकार का संस्कार नहीं सम्भव है।

---

१. ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते स हि तत्फलस्य भोक्तेति।
—यो० भा० पृ० ६५

२. यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेषः ईश्वरः।—यो० भा० पृ० ६६

३. ते हि हिरण्यगर्भादयः प्राकृतिकानि बन्धनानि पूर्वंस्थितानि छित्वैव मुक्ताः; न तु क्लेशादिपरामर्शशून्याः, ईश्वरस्तु सर्वदैव क्लेशात्मक-बन्धनत्रयशून्यतया श्रुत्यादिसिद्ध इत्यर्थः।—यो० वा० पृ० ६७

४. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ६८

प्रलयकाल में महदादि देवों की अर्थात् ब्रह्मादिकों की उपाधि ही निरुद्ध होकर बीजाभावापन्न होती है ईश्वर की नहीं, वह तो शाश्वत है।[1] उसमें सर्वज्ञता का निरतिशय रूप है। ईश्वर का साक्षात् कोई लीला-अवतार नहीं होता। अवतारादि तो विष्ण्वादि देवताओं के होते हैं जो ईश्वर की कृपा से प्रथमतः सृष्ट हुए हैं।[2] ईश्वर के अनेक शरीरादि असम्भव हैं। ईश्वर वैषम्य और नैर्घृण्य से परे हैं। ईश्वर ऐश्वर्य साम्य तथा अतिशय की सम्भावनाओं से परे है। वह ब्रह्मा, विष्णु और शंकर आदि का भी गुरु है। अन्तर्यामि विधि से वेदादि के द्वारा यह ज्ञानदृष्टि देनेवाला है। इसका नाम प्रणव या ओंकार माना गया है। प्रत्येक सृष्टि के पूर्व में प्रधान की साम्यावस्था को संक्षुब्ध करने के कारण वह सृष्टि-कर्ता भी कहा जा सकता है यद्यपि योगशास्त्र के अन्य व्याख्याताओं ने ईश्वर को सृष्टि-कर्ता नहीं माना है। असम्प्रज्ञात की सिद्धि के लिये उसमें संयम करना मुख्यकल्प है और जीवात्मा में संयम करना केवल अनुकल्प है।[3]

---

१. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ६८-६९

२. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ७७

३. परमेश्वरे संयमो सम्प्रज्ञातपर्यन्तयोगे मोक्षे च मुख्यकल्पः आसन्नतरतासंपादनात्जीवात्मकसंयमस्तु तत्रानुकल्प इति सिद्धम्।—यो० सा० सं० पृ० ३२

# योगज सिद्धियाँ

योगसाधनों के अनुष्ठान करते समय पूर्ववर्ती भूमिका का जय अर्थात् सिद्धि होने पर ही अन्य भूमि की साधना की जाती है। एक साधन सिद्ध होने पर उसके बाद के लिये बताये गए साधन का सम्पादन करना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक साधन भलीभाँति अभ्यस्त होने पर ही सिद्ध होता है। इसलिये सभी अवान्तर साधन—जो कि सिद्ध हो चुकते हैं—क्रमशः सिद्धि का रूप धारण करते हैं। परन्तु उन सब सिद्ध साधनों के अर्थ में यहाँ पर सिद्धि शब्द का प्रयोग किया गया हो, ऐसी बात नहीं है। इन सिद्धियों का तात्पर्य उन शक्तियों से है जो उन-उन साधनों के सिद्ध होने से साधक को प्राप्त होती हैं। इन सिद्धियों से साधक को अलौकिक चमत्कार प्राप्त होते हैं, असाधारण कार्यों के करने की शक्ति मिलती है। सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, तिरोहित या जन्मान्तर की सभी बातों के जानने की असामान्य सामर्थ्य सुलभ होती है। यही शक्ति इन साधक योगियों का ऐश्वर्य या विभूति या सिद्धि है।[1] इन सिद्धियों की प्राप्ति योगजधर्मोत्पति के द्वारा होती है।[2] जैसे यज्ञादि करने से अपूर्वोत्पति के द्वारा स्वर्गादिफलों की सिद्धि होती है।

ये अलौकिक चमत्कारपूर्णसिद्धियाँ योगसाधना के अतिरिक्त जन्मजात, औषधिजन्य, मन्त्रकृत और तपः सुलभ भी होती हैं। जैसे देवताओं को जन्मजात अणिमादि की सिद्धि, असुरों को औषधिजन्य महाबलशालिता या सुवर्णनिर्मित मन्त्रवेत्ता लोगों को मन्त्रकृत आकाशगमन, विषनाशादि और तपोबललब्ध मनोवाञ्छित की पूर्ति आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। परन्तु इन सब सिद्धियों में और समाधिजन्य सिद्धियों में अन्तर यह है कि ये सब एकदेशीय होती हैं जबकि समाधिजसिद्धियाँ सर्वाङ्गीण और सर्वतोमुखी होती हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण भेद यह होता है कि जन्मादिजसिद्धियाँ विवेक दृष्टि के अभाव से जीव को कर्मबन्धनों में फँसाकर उसके जीवन को अन्ततः भोगासक्त और दुःखमय करती हैं, किन्तु योगज सिद्धियों में विवेकख्यातिलाभ का साध्य रूप अंकुश लगा रहता है। अतः ये ऐश्वर्य उस साधक

---

१. किं तु स्वविषयसाक्षात्कारपर्यन्तस्य संयमस्य विषयान्तरज्ञानादिरेव सिद्धितया कथ्यत इति मन्तव्यम्।—यो० सा० सं० पृ० ८८

२. अन्यविषयकसंयमस्य प्रतिनियतान्यपदार्थज्ञानादिकं योगजधर्मद्वारा भवति यज्ञविशेषात् स्वर्गविशेषवदिति।--यो० सा० सं० पृ० ८८

को योगमार्ग पर और अधिक आरूढ़ करते हैं जैसे अध्ययन करते समय प्राप्त होने वाले पारितोषिक पदक छात्रवृति इत्यादि छात्र को अध्ययन के प्रति अधिक रुचि उत्पन्न करते हैं। अन्य सिद्धियों का आधारभूत चित्त मोक्षप्रात करने में असमर्थ रहता है जबकि समाधिज ऐश्वर्य से अनुगृहीत चित्त समाधिसंस्कृत हो कर आत्मसाक्षात्कार द्वारा साक्षान्मोक्ष-हेतु बनता है।[1]

यद्यपि कैवल्य आदि योग की चरम अवाप्ति हैं फिर भी जिस अर्थ में सिद्धियों का प्रयोग इस शास्त्र में किया गया है उसके अनुसार आचार्य विज्ञानभिक्षु ने योगज सिद्धियों को दो रूपों में बाँटने का प्रयास किया है—

१—बहिरङ्गसाधनजन्य सिद्धियाँ

२—संयमजन्यसिद्धियाँ

इनमें दूसरे प्रकार की सिद्धियाँ अनेक, असख्य, उच्चकोटि की तथा प्रथम प्रकार की सिद्धियाँ स्वल्प, हल्की और द्वितीय प्रकार की सिद्धियों में ही अन्तर्भावित हो जानेवाली अतः गौण हैं। कदाचित् इसी कारण से योगसारसंग्रह जैसे संक्षिप्तप्रकरण में बहिरङ्ग साधनजन्यसिद्धियों का उल्लेख भी नहीं किया गया।[2] योगवार्तिक में व्याख्या करते समय दोनों प्रकार की सिद्धियाँ गिनायी गई हैं। यमनियमादिजन्य सिद्धियाँ १० प्रकार की हैं। वैसे ही आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारों से भी शीतोष्णादिद्वन्द्वविजय, आवरणक्षीणता और इन्द्रियों की परमवश्यता आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

किन्तु उच्चकोटि की तथा अतिशय चमत्कृत करनेवाली सिद्धियाँ संयमजन्य[3] ही होती हैं। सूत्र और भाष्य के अनुसार[4] विज्ञानभिक्षु ने संयमजन्य इन सभी सिद्धियों का वर्गीकरण करने का प्रयास किया है। जिन-जिन विषयों पर संयम

---

१. ध्यानसिद्धं चित्तमेवानाशयं भवति योगेनैव ज्ञानोत्पत्त्या वासनोच्छेदसंभवाद् न मन्त्रादिभिरित्यर्थः।—यो० वा० पृ० ३९९
समाधिसंस्कृतं चित्तमेवात्मसाक्षात्कारद्वारासाक्षान्मोक्षहेतुर्न जन्मादिसिद्धमिति।—यो० सा० सं० पृ० १०५

२. द्रष्टव्य, यो० सा० सं० पृ० ८७

३. द्रष्टव्य, यो० सा० सं० पृ० ८८

४. अत्र विषयभेदेन संयमानामनन्ताः सिद्धयः। तासु कियत्य एवसूत्रभाष्याभ्यामुक्ताः।—यो० सा० सं० पृ० ८७

किया जायेगा उतने प्रकार की संयमसिद्धियाँ होंगी और चूँकि विषयभेद से संयम असंख्य और अनन्त हैं इसलिये सिद्धियाँ भी असंख्य और अनन्त हुईं। इनके वर्गीकरण का स्वरूप यह है—

१—आत्मसाक्षात्काररूपा सिद्धि

२—ग्राह्यसंयमजात-सिद्धियाँ

३—ग्रहणसंयमजात-सिद्धियाँ

४—ग्रहीतृसंयमजात-सिद्धियाँ

१—प्रथम प्रकार की सिद्धि भोगदशा में बौद्ध प्रत्यय से विविक्त पुरुष प्रत्यय में संयम करने से प्राप्त होती है।[1] भोगदशापन्न परार्थाबुद्धि से अलग स्वार्थपुरुष में संयम करने से (दोनों के विवेकसाक्षात्कार पर्यन्त) पुरुष का ज्ञान कूटस्थ, विभु, नित्य, शुद्धादि रूप से होता है।[2] विवेकख्याति के पूर्व अनिवार्य भूत आत्मसाक्षात्कार करने का इस संयम के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। इस लिये सच्चे जिज्ञासुओं को अणिमादि सिद्धिपरक अन्य संयमों को छोड़कर यही संयम करना चाहिये। आचार्य भिक्षु का यह स्वानुभवसिद्ध तथ्य है।[3] इस संयम के करने पर पुरुष ज्ञान की सूचक अन्य प्रातिम-श्रावणादि सिद्धियाँ आपसे आप प्राप्त हो जाती हैं।

२—इसके पश्चात् सम्प्रज्ञातसमाधि के हेतुभूत ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतृ विषयक संयमों की सिद्धियों का वर्णन करेंगे। उत्तरोतरसूक्ष्मता के क्रम-नियम होने से पहले ग्राह्यसंयमजात सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। पाँचों भूत ही ग्राह्यविषय हैं। इनके स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व नामक पाँच रूपों[4] में संयम करने पर 'भूतजय' नामक सिद्धि होती है। जिससे 'अणिमादि' का प्रादुर्भाव 'कायसम्पति' और 'भूतधर्मानभिघात' ये तीन सिद्धियाँ फलित होती हैं।

---

१. भोगमध्येबौद्धप्रत्ययविवेकेन पौरुषप्रत्यये संयमःकर्तव्य इत्याशयेन भोगोऽप्यत्रलक्ष्यते।—यो० सा० सं० पृ० ८९

२. तयोः प्रत्ययोर्मध्ये संहत्यकारित्वात्परार्थो यः शब्दाद्याकार उपाधिसत्त्वस्य प्रत्ययस्तस्माद्भेदेन स्वार्थे ज्ञानरूपे पुरुषस्य प्रत्यये संयमात् तदुभयप्रत्ययस्तस्माद्भेदेन स्वार्थे ज्ञानरूपे पुरुषस्य प्रत्यये संयमात् तदुभय-विवेकसाक्षात्कारपर्यन्तात् पुरुषज्ञानं कुटस्थविभुनित्यशुद्धमुक्तत्वादिनाऽऽत्मसाक्षात्कारो भवति। अखिलप्रपंचात्पुरुषस्य विवेकोऽनुभूयत इति यावत्।—यो० सा० सं० पृ० ९०

३. द्रष्टव्य, यो० सा० सं० पृ० ९१, यो० वा० पृ० ३१९

४. रूपाणि च स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंज्ञानि।—यो० सा० सं० पृ० ९४

३—ग्यारह इन्द्रियाँ ही ग्रहण हैं। इनमें भी ग्रहण, रूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्व नामक पाँचों रूपों[1] में संयम करने पर 'इन्द्रिय-जय' नामक सिद्धि सुलभ होती है। जिससे मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रकृतिजय नामक सिद्धियाँ भी हासिल हो जाती हैं। 'इन्द्रियजय' से स्फुरित होनेवाली ये मनोजवित्व आदि तीनों सिद्धियाँ 'मधुप्रतीका' कहलाती हैं।[2]

४—ग्रहीता कार्यकारण से विलक्षण है अतः उसमें रूप भेद नहीं है। इसलिए पुरुषसामान्य में उपाधि की सत्ता से भेद करके साक्षात्कारपर्यन्त संयम करने से 'सर्वभावाधिष्ठातृत्व' और 'सर्वज्ञत्व' सिद्ध होता है। इस सिद्धि को 'विशोका'[3] भी कहते हैं। यही सार्वज्ञ्य विवेकज ज्ञान है। इसे तारक भी कहते हैं। ग्रहीतृ-संयमजन्य इन दोनों सिद्धियों से अतिरिक्त सर्वसिद्धिमूर्धन्य एक परमसिद्धि भी परम्परया प्राप्त होती है। जिसे 'कैवल्य' कहते हैं।[4] सार्वज्ञ्यादि सिद्धियों में भी अलंप्रत्यय होने से परवैराग्य के माध्यम से ही कैवल्यनाम्नी परमसिद्धि होती है।

आत्मसाक्षात्काररूपा सिद्धि और गहीतृसंयमजात सिद्धि के अन्तर्गत भेद यह है कि पहली सिद्धि में परार्थप्रत्यय से भेद करके स्वार्थ प्रत्यय में संयम करना पड़ता है जब कि द्वितीय के लिए बुद्धिसत्त्व से भिन्न पुरुष में साक्षात् संयम करना पड़ता है। पहली अवस्था भोगप्रधानदशा में संयम करने की है जबकि दूसरी उनके अस्तित्वविषयकसंयम की है।[5]

प्रकृति सर्व परिणामसमर्थ है। इसलिए शरीर परिवर्तन आदि सिद्धियों की प्राप्ति के लिए प्रकृति का आपूरण होता है। प्रकृतिकृत आपूरण में योगिसङ्कल्प और योगजधर्म निमित्तमात्र होते हैं और अधर्मादिप्रतिबन्धों की निवृत्ति कर देते

---

१. रूपाणि च ग्रहणरूपास्मितान्वयार्थवत्वसंज्ञानि।—यो० सा० सं० पृ० ९७
२. एतास्तिस्रः सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते।—यो० भा० पृ० ३७५
३. एषा विशोका नाम सिद्धिः।—यो० भा० पृ० ३७७
४. तदिदं ग्रहीतृसंयमस्य सिद्धिद्वयमुक्त्वा सूत्रकारेण तस्यैवान्या सर्वसिद्धि-मूर्धन्या परमासिद्धिरुक्तास्ति 'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' (यो० सू० ३।५०।)—यो० सा० सं० पृ० १०१
५. पूर्वपरार्थप्रत्ययाद्भेदेन स्वार्थप्रत्यये संयमस्य तत्साक्षात्कारपर्यन्तस्य पुरुषसाक्षात्काररूपा सिद्धिरुक्ता। अत्र तु विवेकख्यातिप्रसङ्गैः बुद्धिस-त्त्वाद्भेदेन पुरुषे संयमस्य पुरुषसाक्षात्कारपर्यन्तस्य सार्वज्ञ्यादिसिद्धि-रुच्यते इति भेदः।—यो० सा० सं० पृ० १००—१०१

हैं। उसके वाद प्रकृति स्वतः तदनुकूल प्रसृत हो जाती है। संकल्प और योग-जधर्म अधर्मादि-दूरीकरणरूप निमित बनते हैं। प्रकृति के प्रेरक या प्रयोजक नहीं बनते। अतः प्रकृति की स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं पड़ती।

कैवल्य और आत्मसाक्षात्कार को छोड़ कर ये सभी सिद्धियाँ सांसारिक चमत्कार, राग, द्वेष और प्रभावप्रदर्शन आदि पर आधारित हैं। इसलिए व्युत्थित चित्तवाले वहिर्मुख प्रवृतिपरायण प्राणियों की दृष्टि से ही इन्हें सिद्धि या विभूति या ऐश्वर्य कहा जाता है। एतज्जन्यविषयभोगादि से तो समाधि का भ्रंश ही सम्भव होगा। अतः समाधिसाधन की दृष्टि से तो ये विक्षेप, विघ्न या अन्तराय-स्वरूप ही हैं।[1] इसलिए आत्मजिज्ञासुओं को इनकी कामना न करनी चाहिए यदि अकामतः ये प्राप्त भी हो जायें तो इनकी उपेक्षा ही करनी चाहिए। प्रश्न यह उठता है कि इतनी त्याज्य वस्तुओं का फिर उल्लेख ही योग-शास्त्रकारों ने क्यों किया ? इसका उतर देते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि साधक मनुष्य ही तो हैं। इसलिए ज्ञान के प्रतिबन्धक तृष्णादि की शान्ति के लिए और तत्तत्संयम की पूर्णता की सूचना प्राप्त करने के लिए तथा मुमुक्षुओं के लिए हेय वस्तुओं का प्रतिपादन करने के लिए ही ये सविवरण बताई गई हैं।[2]

---

१. द्रष्टव्य, यो० सा० सं० पृ० ९३

२. सिद्धिकामानां ज्ञानादि-प्रतिबन्धकतृष्णोपशमाय तत्तत्संयमनिष्पत्यव-धारणाय च, तथा मुमुक्षूणां हेयत्वप्रतिपादनाय।
—यो० सा० सं० पृ० ९७

# कैवल्य-मीमांसा

पुरुष की आत्यन्तिक स्वरूपावस्थिति ही कैवल्य है। औपाधिक रूप की शाश्वतिक निवृत्ति अर्थात् पुरुषस्वरूप की आत्यन्तिक निरुपाधिता ही कैवल्य है।[1] पुरुष की केवलता या एकाकिता ही कैवल्य है। सत्त्वादि गुणत्रय ही उपाधि हैं। इनसे अरञ्जित रहना ही केवलता की दशा है। यही कैवल्य या मोक्ष या अपवर्ग नाम से प्रसिद्ध है। सत्त्वादिगुणरूप उपाधियों से पुरुष इस दशा में अत्यन्त वियुक्त रहता है।[2] सत्त्वादिरूप उपाधियों का मूल अभिव्यक्त रूप चित्त है। चित्तावच्छिन्नत्व की सी स्थिति पुरुष का भोग या पुरुष का संसार या उसका अकैवल्य है। यह चित्त-रूप उपाधि असम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि होने पर अवसिताधिकार होकर प्रारब्ध कर्मों के आशय और उसकी वासनाओं के अवशिष्ट संस्कारों तथा निरोध संस्कारों के साथ अपने कारणभूतअव्यक्त-प्रकृति में लीन हो जाता है।[3] पुरुष-स्वरूप तदुपाध्यनवच्छिन्न अर्थात् सर्वथा निरुपाधि हो जाता है। पौराणिक-भाषा में आचार्य विज्ञानभिक्षु इस दशा का वर्णन इस प्रकार करते हैं कि यह जो चित्त की महानिद्रा है यही पुरुष के दुःखात्मक अखिलदृश्यों का आत्यन्तिक वियोग है। उसका कैवल्य है। कैवल्य दशा में यद्यपि उस पुरुष के सत्त्वादिगुणत्रय उससे अत्यन्त वियुक्त हो जाते हैं तथापि वे नष्ट नहीं होते, अन्य संसारी पुरुषों के लिये उनकी उपाधिरूपेण पूर्णाभिव्यक्त उपस्थिति बनी रहती है। यद्यपि यह वियोग भोग-काल में भी रहता है, तथापि अविद्या के कारण उस काल में पुरुष और उपाधि का संयोग प्रतीत होता रहता है। कैवल्य दशा में एक प्रकार से उपाधि रूप गुणों की

---

१. वृत्त्यात्मकदुःखाभावः पुरुषार्थः।—यो० वा० पृ० १८
स्वरूपावस्थितिश्चौपाधिकरूपनिवृत्तिः।—यो० सा० सं० पृ० २

२. तस्मात्पुरुषात्यन्तवियोग इति यावत्, न तु नाशः। यो० सा० सं० पृ० १०८

३. ततश्चरिताधिकारं चित्तमप्रारब्धकर्मणानिरोधसंस्कारैश्च सह स्वकारणेऽत्यन्तं लीयते। या चेयं चित्तस्य महानिद्रा, इयमेव पुरुषस्य कैवल्यम्।—यो० सा० सं० पृ० ३५
चिरेण सहवृत्तीनामात्यन्तिकनिरोधे सत्यात्यन्तिकं स्वरूपावस्थानं-मोक्षाख्यमिति।—यो० वा० पृ० १९

भी केवलता हो जाती है और एक सिक्के के दो पहलुओं की भाँति दूसरी तरह से यह पुरुष का भी कैवल्य कहा जाता है। वात एक ही है।[1]

कैवल्य की स्थिति स्पष्ट करते हुये विज्ञानभिक्षु ने अन्य दर्शनों के द्वारा निर्धारित कैवल्य-स्वरूप का तुलनात्मक समन्वय भी किया है और बताया है कि सांख्यदर्शन में भी त्रिविधतापों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही कैवल्य है।[2] वेदान्तियों के सिद्धान्त में भी परमात्मा में जीवात्मा का लय ही मोक्ष है।[3] इस मत से हमारे मत का अविरोध इसलिये है कि जीवों की उपाधियों का लय हो गया और जीव शुद्ध परमात्मा हो गया। लय होना जीव का परमात्मा में अविभक्त रूप से होना ही तो है। यह आत्मा की शुद्ध स्वरूप में स्थिति ही हुई। वैशेषिकों ने सभी विशेष गुणों के उच्छेद को मोक्ष माना है।[4] यह सिद्धान्त भी हमारा ही है। विशेष गुणों का ही तो नाम उपाधि है। नैयायिकों ने तो बिल्कुल वही पदावलि भी प्रयुक्त की है कि आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति ही मोक्ष है।[5] नवीनवेदातिब्रुवों ने जो मोक्ष में परमानन्द की मान्यता की है, यह अलबत्ता हमें अमान्य है। क्योंकि ब्रह्ममीमांसादि सभी दर्शनों में इस प्रकार का कोई सूत्र ही नहीं है। -साथ ही यह कल्पना श्रुति स्मृति और सभी युक्तियों के विरुद्ध है। प्रत्युत मोक्ष में सुख की प्रतिवेधक श्रुतियाँ तथा स्मृतियाँ उपलब्ध होती हैं।[6] ब्रह्मलोक में जो आनन्द पुराणों में बताया

---

१. उभयपक्षेऽपि पुरुषस्य दुःखभोगनिवृत्तिरूपपुरुषार्थे पर्यवसानं भवति। —यो सा० सं० पृ० १०८

२. त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृतिरत्यन्तपुरुषार्थः।—सां० सू० १।१

३. वेदान्तिनस्तु 'परमात्मनो जीवात्मलयो मोक्षः।'—यो० सा० सं० पृ० १०८

४. वैशेषिकास्तु अशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्षः इत्याहुः।--यो० सा० सं० पृ० १०९

५. नैयायिकास्त्वात्यन्तिकीदुःखनिवृत्तिर्मोक्ष इतीच्छति।—यो० सा० सं० पृ० १०९

६. यत्तु नवीना वेदान्तिब्रुवा नित्यानन्दावाप्तिं परममोक्षं कल्पयन्ति तदेव च वयं न मृष्यामहे। श्रुतयः—विद्वान् हर्षशोकौ जहाति।--कठो० २, १२
'अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत।'
--छा० ८, १२, १

स्मृति :—परमात्मनि संलीनो विद्याकर्मबलान्तरः।
न सुखेन न दुःखेन कदाचिदपि युज्यते॥—यो० सा० सं० पृ० ११०

गया है वह मुख्यतः मोक्ष की दशा ही नहीं है, वह तो गौणमोक्ष है, सच्चा मोक्ष नहीं।[1]

विज्ञानभिक्षु ने कैवल्य को ही परम मुक्ति बताया है। विवेकख्याति या शुद्ध तत्त्वज्ञान से जीवन्मुक्ति होती है। जीवन्मुक्ति की दशा में क्लेशों का दग्धरूपत्व तो हो जाता है किन्तु प्रारब्ध कर्म के अनुसार भोग होते रहते हैं। क्रियमाणकर्मों का विपाक नहीं होता न तो कर्माशय ही संचित होता है। क्योंकि ये कर्म अशुक्लाकृष्ण होते हैं।[2] वासनाएँ भी दग्धबीजभावापन्न हो जाती हैं। जीवन्मुक्ति की दशा का भोग वस्तुतः भोगाभास ही है। शांकर वेदान्तियों ने जीवन्मुक्ति की दशा में जो क्लेशवृत्ति मानी है वह विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में नितान्त भ्रामक मत अथवा घोर अपसिद्धान्त है।[3] धर्ममेघसमाधि की ही स्थिति जीवन्मुक्ति है। यह दशा साधक की कर्त्तव्यसमाप्ति या कार्यमुक्ति है।[4] धर्मसमाधि में स्थित साधक जीवन्मुक्त कहलाता है।[5] पञ्चशिखाचार्य-निर्दिष्ट आद्य तथा द्वितीय दोनों मोक्ष इसी जीवन्मुक्ति की स्थिति में अन्तर्भूत है।[6] इस क्रम में कैवल तृतीय या मुख्य मोक्ष है।[7] तत्त्वसमास में गिनाए गए तीनों प्रकार के मोक्षों को आचार्य विज्ञानभिक्षु ने अपनी जीवन्मुक्ति और कैवल्य नामक मोक्षावस्थाओं में अन्तर्भावित करके प्रस्तुत किया है। मोक्ष के दो रूप स्वीकार करने पर भी विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में कैवल्य ही परममुक्ति है, मुख्य मोक्ष है, क्योंकि इसी दशा में चित्तरूपी उपाधि की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। इसी स्थिति में उपाधि से प्रतिबिम्बित दुःखादि की एकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृति होती है।

---

१. आनन्दावाप्तिस्तु गौणो मोक्षो ब्रह्मलोके भवतीति दिक्।—यो० सा० सं० पृ० ११२
२. कर्माशुक्लाकृष्णां योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।—यो० सू० ४।७
३. जीवन्मुक्तस्य सवासनक्लेशात्यन्तदाहनिर्णवाद् आधुनिकवेदान्तिनामविधाक्लेशस्वीकारोऽविद्यामूलक एवेति स्मर्त्तव्यम्।—यो०वा०पृ०४४७
४. पुंसा कार्यमुक्तिः कार्याद्विमुक्तिः कर्तव्यसमाप्तिः जीवन्मुक्तिरित्यर्थः।—यो० वा० पृ० २३९
५. अस्यामेवास्थायां जीवन्मुक्त इत्युच्यते।--यों० सा० सं० पृ० २८
६. आद्यस्तु मोक्षो ज्ञानेनेति, अयमपि मोक्षःपंचशिखाचार्यैरुक्तो द्वितीयो रागक्षयादिति'।—यो० वा० पृ० ४४१, ४४६
७. इयमपि तृतीया मुक्तिः पंचशिखाचार्यैरुक्तो कर्मक्षयात् तृतीयं व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्।--यो० वा० पृ० ४४९

कैवल्य का साक्षात् हेतु क्या है ? तत्त्वज्ञान अथवा असम्प्रज्ञात योग। इसका विधिवत् समाधान इस प्रकार से किया गया है कि तत्त्वज्ञान या विवेकख्याति या आत्मसाक्षात्कार से जीवन्मुक्ति दशा आती है किन्तु प्रारब्धकर्मों का क्षय इस दशा तक नहीं होता। या तो जीवन्मुक्ति दशा में प्रारब्ध कर्मों का अशेष भोग करके कर्मों का क्षय होता है,[1] अथवा सम्प्रज्ञात योग के द्वारा प्रारब्ध कर्मों का नाश होता है। इस प्रकार से प्रारब्ध कर्मों का क्षय जीवन्मुक्तिगत भोग या परवैराग्य-सम्पादित-असम्प्रज्ञात योग से सम्भव है। पहली अवस्था में प्रारब्ध कर्मक्षय शनैः शनैः होता है, और दूसरी दशा में प्रारब्धकर्मक्षय स्वेच्छा से आशुतर सम्पाद्य होता है।[2] इसीलिए 'नास्ति योगसमं बलम्' की स्मृति है। परन्तु जीवन्मुक्तावस्था या परवैराग्यजन्यासम्प्रज्ञातवस्था दोनों ही स्थितियाँ तत्त्वज्ञान के बाद ही सम्भव हैं। इस प्रकार तत्त्वज्ञान को ही मोक्ष का या कैवल्य का मूलभूत कारण समझना चाहिये। जीवन्मुक्ति के लिए तत्त्वज्ञान साक्षात्कारण है। विदेहमुक्ति के लिये तत्त्व-ज्ञान के बाद प्रारब्धकर्मभोग हो जाना एक अनिवार्य अवान्तरप्रसङ्ग स्वीकार करना पड़ता है।

पर विचारणीय बात तो यह है कि क्या तत्त्वज्ञान स्वतः उत्पन्न हो जाता है या उसके लिये भी साधना करनी पड़ती है। विज्ञानभिक्षु का सिद्धान्त है कि सम्प्र-ज्ञात योग से शुद्ध आत्मविवेक या तत्त्वज्ञान होता है जिसके पश्चात् ऊपर बतायी गई दो में से किसी रीति से भी कैवल्य प्राप्त किया जा सकता है। श्रेष्ठमार्ग तो असम्प्रज्ञात के द्वारा शीघ्रतर कैवल्य लाभ करने का ही है। इस प्रकार से सम्प्रज्ञात योग भी परम्परया कैवल्य का कारण हुआ जब कि असम्प्रज्ञात योग कैवल्य का साक्षात् हेतु है। सम्प्रज्ञात योग को तत्त्वज्ञानोत्पत्ति का कारण न माननेवाले दार्शनिक भी तत्त्वज्ञान के लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन की परम्परा स्वीकार करते ही हैं। यह निदिध्यासन विज्ञानभिक्षु के मत में संक्षिप्त सम्प्रज्ञात ही हैं।[3] इस प्रकार से कैवल्य लाभ के लिए कारणपरम्परा का सूत्र विज्ञानभिक्षु के मत में यह होगा कि सम्प्रज्ञात योग से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति और उससे परवैराग्य द्वारा असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि और तब तज्जन्य कैवल्य या परममुक्ति का लाभ होता है।

---

१. इयं जीवन्मुक्तावस्था—तन्निवृत्तौ पुनर्जन्मकारणाभावात्पुरुषः पुनरिदं दुःखं न भुङ्क्ते इति परममुक्तिरिति।—यो० सा० सं० ५४-५५

२. असम्प्रज्ञातयोगस्तु अखिलवासनाक्षयेण प्रारब्धातिक्रमद्वाराझटिति-स्वेच्छामोक्ष एव उपयुज्यते न तु नियमेनेति प्रागेवोक्तम्।—यो० सा० सं० पृ० ३०

३. अतः केवलज्ञानेन मोक्षे जनयितव्येऽभिमाननिवर्तकात्यन्तसाक्षात्कारपर्यन्त एवसम्प्रज्ञातोपेक्ष्यते, न तु वृत्यन्तरवासनाक्षयार्थं पुनःसम्प्रज्ञातपरम्प-रापि।—यो० सा० सं० पृ० ३६

# स्फुट-विचार

कुछ ऐसे भी विषय हैं जिनके दार्शनिक महत्त्व की स्वल्पता के कारण और मोक्ष-मार्ग में अनुपादेयता के कारण आचार्य विज्ञानभिक्षु ने योगसार-संग्रह के अन्तिम भाग में उनकी हल्की चर्चा करके ही संतोष कर लिया है। उनमें स्फोट-विचार और क्षण-मीमांसा अपेक्षाकृत महत्त्वशाली प्रतीत होते है। इन विषयों पर उनके संक्षिप्त तथा स्फुट विचारों का संकलन हम इस प्रकार कर सकते हैं—

## स्फोट

शब्द तीन प्रकार के होते हैं—१—वागिन्द्रियविषयक २—कर्णेन्द्रियविषयक और ३—बुद्धिमात्रविषयक। पहले प्रकार का शब्द उच्चारणस्थानावच्छिन्नवाणी से उत्पन्न होनेवाला होता है। यह केवल वर्णरूप होता है।[1] दूसरे प्रकार का शब्द वह है जो पहले प्रकार के शब्द से उत्पन्न होता हुआ कान में स्थित होता है। यह केवल शब्दज शब्द है। तीसरे प्रकार का शब्द घटादि पद है जो सदा बुद्धि में स्थित रहते हैं। ये बुद्धिस्थ-पद ही स्फोट कहलाते हैं क्योंकि अर्थ का स्फुटीकरण इन्हीं पदों से होता है। अर्थात् यही शब्द वाचक कहलाते हैं। ये वर्णों तथा शब्दज शब्दों से भिन्न हैं।[2] स्फोट रूप में सदैव बुद्धिस्थ रहनेवाले ये शब्द आनुपूर्वी विशिष्टता से अविच्छिन्न अन्त्यवर्ण प्रत्यय के द्वारा व्यंजित होते हैं और अर्थज्ञान कराते हैं। स्फोट न तो उच्चारित हो सकता है और न कानों से सुना जा सकता है।[3]

## स्फोट की प्रामाणिकता

सांख्यादि मतवाद में स्फोट को नहीं स्वीकार किया जाता।[4] अतः उसकी प्रामाणिकता के लिये आचार्य विज्ञानभिक्षु का कहना है कि स्फोट न मानने से,

१. वागिन्द्रियजन्यःशब्दो वर्ण एव न तु शृङ्गादिशब्दो नापि वाचकं पदमित्यर्थः।—यो वा० पृ० ३२१

२. तद्धि पदं वागिन्द्रियोच्चार्यप्रत्येकवर्णेभ्योऽतिरिक्तम्।—यो० सा० सं० पृ० ६८

३. अत एव स्फोटः श्रोत्रेण ग्रहीतुं न शक्यते।—यो० सा० सं० पृ० ६९

४. 'प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः'—सांख्यसूत्रम् ५।५७

केवल अन्त्य वर्ण के द्वारा प्रत्यायन मानना पड़ेगा जो कि पूरे शब्द का केवल एक अवयव है। इस प्रकार अवयवी की मान्यता का उच्छेद हो जायगा। जबकि वृक्ष रूपी अवयवों से वन आदि अवयवी का ज्ञान होना सभी पूर्वपक्षी स्वीकार करते हैं तो स्फोट मानने में क्यों झिझकते हैं।

२—जैसे परमाणु और उनके संयोगों के अतीन्द्रिय होने के कारण तद्रूप अवयवी की प्रत्यक्षानुपपत्ति आदि से अवयवी की सिद्धि मानी जाती है। वैसे ही स्फोट के विषय में भी समझना चाहिये।

३—और सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण स्फोट के पक्ष में श्रुति है। इसलिये यदि प्रबल लौकिक प्रमाण का अभाव भी हो तो भी कोई हानि नहीं है। श्रुति का कहना है कि प्रणव में चतुर्थ मात्रा है।[1] वह चौथी मात्रा वर्ण-त्रय के अतिरिक्त स्फोट ही हो सकती है और कुछ नहीं। स्मृतियों में उसे ही अर्द्धमात्रा[2] कहा गया है।

इस प्रकार से जैसे अवयवों से भिन्न अवयवी सिद्ध होता है वैसे ही वर्णों से अतिरिक्त पद होता है जो कि सदा बुद्धिस्थ रहता है और आनुपूर्वी विशेषविशिष्टा-न्त्यवर्णप्रत्यय से व्यंजित होकर अर्थ का वाचक बनता है। ऐसे ही पद-स्फोट की भाँति वाक्य-स्फोट[3] भी मान लेना चाहिये क्योंकि ऐसा मानने में भी कोई बाधा नहीं हो सकती।

## काल क्षण के रूप में ही रहता है

काल के विषय में न्यायवैशेषिकों का सिद्धान्त है कि आत्मा की ही भाँति काल भी अखण्ड और नित्य है तथा मुहूर्त दिन और रात्रि आदि उपाधियों से अवच्छिन्न काल से लोक-व्यवहार चलता है इसलिये क्षण नामक कोई पृथक् पदार्थ वस्तुतः

---

१. प्रणवस्याकारोकारमकाररूपमात्रात्रयं ब्रह्मादिदेवतात्रयात्मकमुक्त्वा प्रणवदेवतात्रयातिरिक्तपरब्रह्मात्मकचतुर्थमात्रां श्रुतय आमनन्ति। सा च चतुर्थीमात्रावर्णत्रयादिरिक्तः स्फोट एव सम्भवति।—यो० सा० सं० पृ० ११६

२. अर्धमात्रास्थितानित्या याऽनुच्चार्या विशेषतः।—इति यो० सा० सं० पृ० ११७

३. नन्वेवं वाक्यमपि स्फोटः स्यादिति चेत्, बाधकाभावे सतीष्यतामिति। —यो० सा० सं० पृ० ७१, द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ३२५

स्थित नहीं है।[१] इन लोगों के प्रतिकूल सांख्यशास्त्रियों की मान्यता है[२] कि न तो कोई काल नाम का पदार्थ सत् है और न ही क्षण नामक पदार्थ सत् है अपितु आकाश ही भिन्न उपाधियों से विशिष्ट हो कर कभी क्षण कहलाता है, और कभी महाकाल। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने योग-सिद्धान्त के साथ अपने मन्तव्य का तादात्म्य करते हुए ऊपर के दोनों मतों को भ्रान्त कहा है।[३]

## क्षणसिद्धि में प्रमाण

विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में ऐसी कोई स्थिर उपाधि ही सम्भव नहीं है जिसके द्वारा महाकाल अथवा आकाश से क्षण की उत्पत्ति संभव हो। परमाण्वादि, उत्तर देश संयोग और क्रिया इन तीनों स्थिर वस्तुओं से भिन्न यदि कोई पदार्थ है तो वही हम लोगों के द्वारा क्षण नामक पदार्थ कहा जाता है। क्योंकि यह विशेषण न होकर केवल विशिष्ट ही तो है।[४] वह न तो आकाश है और न महाकाल क्योंकि इसे उपाधि मानकर तदवच्छिन्न महाकाल मानने में व्यर्थ कल्पना-गौरव है। वह अस्थिर विशिष्ट वस्तु प्रकृति का अतिभंगुर परिणाम-विशेष है। उस क्षण के अवयवों के विशिष्टप्रचयों को ही मुहूर्त, दिन, रात, मास, वर्ष आदि कहा जाता है।[५] श्रुतियों में जो काल को कहीं-कहीं नित्य कहा गया है वह क्षणों की प्रवाह-रूपी परिणामिनित्यता[६] की दृष्टि से ही कहा गया है; कूटस्थ नित्यरूप से नहीं। इसलिये काल क्षणात्मक ही सिद्ध होता है, अखण्ड महाकाल नहीं।

---

१. न पुनः क्षणनामापृथक्यपदार्थोऽस्त इति।—यो० सा० सं० पृ० १२३

२. दिक्कालावाकाशादिभ्यः।—सां० सू० २।१२

३. तदेतन्मतद्वयमपि असमञ्जसम्। स्थिरेणैनाप्युपाधिना महाकालाकाशाभ्यां क्षणव्यवहारस्यासंभवात्।—यो० सा० सं० पृ० १२३

४. 'यदि च तत्तेभ्योऽतिरिक्तमिष्यते तर्हि तस्य विशिष्टसंज्ञामात्रम्। तदेव चास्माभिः सर्वेभ्यः स्थिरपदार्थेभ्योऽतिरिक्तः। क्षणाख्यः काल इष्यते।'—यो० सा० सं० पृ० १२४

४. तस्यैव च क्षणस्यावयवविशेषैर्मुहूर्त्ताहोरात्रादिद्विपरार्धान्तव्यवहारो भवति।....इदानीमद्येत्यादिक्षणव्यवहाराणां क्षणप्रचयेनैवोपपत्तेः।
—यो० सा० सं० पृ० ७४

६. कालनित्यता श्रुतिस्मृतयस्तु प्रवाहनित्यतापरा इति।—यो० सा० सं० पृ० १२४

# तृतीय पटल

## स्थान-निर्धारण

### अध्याय १

### आचार्य विज्ञानभिक्षु के दर्शन की तुलनात्मक समीक्षा

# समन्वय-समीक्षा

विज्ञानभिक्षु का समन्वयवाद सांख्य, योग और वेदान्त का नृसिंहावतार नहीं है जिसमें कि उनका दर्शन न सांख्य कहा जा सके और न योग अथवा वेदान्त। प्रत्युत वह तीनों दर्शनों के अलग-अलग अस्तित्व को भी मूर्तत्व प्रदान करने की वास्तविक क्षमता रखता है। उनके सिद्धान्तों के अनुसार सांख्य शास्त्र की भी पूरी व्याख्या हो जाती है, योग का भी समग्र स्वरूप सामने आता है और वेदान्त की भी निर्विचिकित्सित आकृति दृष्टिगोचर होती है। उनका समन्वित दर्शन एक ऐसा बीज-मन्त्र है जिसने आस्तिक दर्शनों के अविरोध का यथार्थ और अनिवार्य पाठ पढ़ाया है। इसके पूर्व अनेक दार्शनिकों की अहम्मन्यता और परपक्ष-निर्जयाभियान ने दर्शनों को तर्कों का अखाड़ा बना रखा था। अधिकांश दार्शनिक केवल एकमत को चाहे वह सांख्य हो अथवा मीमांसा अथवा वेदान्त या फिर अन्य कोई शास्त्र और वह भी अपने ढंग से व्याख्यात मत को ही समीचीन बताते और तदतिरिक्त मतों का तदतिरिक्तशास्त्रों तक का विधिवत् खण्डन करते थे। इस प्रक्रिया के कारण जनमानस में प्रगाढ़ होते हुए अनाश्वास पर विज्ञानभिक्षु के पूर्व भी कई दार्शनिकों ने दृष्टिपात किया था।

आचार्य वाचस्पति मिश्र ने भी इसी एकीकरण की प्राथमिक पृष्ठभूमि बनाई थी। उन्होंने भी इसीलिए न्याय, मीमांसा, सांख्य, योग और वेदान्त पर टीकाएँ लिखीं और इन आस्तिक दर्शनों की तत्त्व-ज्ञान गरिमा का भव्य प्रतिविम्बन किया। किन्तु इन सभी दर्शनों के पारस्परिक भेदभाव को वे कम करने का किञ्चित् भी प्रयास नहीं कर सके। प्रत्युत प्रत्येक दर्शन के व्याख्यान करते समय अन्य दर्शनों का खण्डन करने में निरन्तर दत्तचित रहे। फल यह हुआ कि इस भेदवाद की खाईं और गहरी हो गई। डा० हूसरकर के मतानुसार यदि इन दर्शनों की आन्तरिक एकता को स्वीकार करते हुए वाचस्पति मिश्र ने इन्हें भारतीय चिन्तनधारा के विभिन्न स्तरों का प्रतिनिधि समझा हो तो भी इनके बीच सामंजस्य की पटरी बिछाने में वाचस्पति मिश्र असमर्थ ही रहे। उन्होंने जिस दर्शन की व्याख्या लिखी है, कहा जाता है कि वहाँ उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रक्षेप न करके उसी सिद्धान्त का सच्चा रूप प्रस्तुत किया है।

यह कथन ठीक है किन्तु इससे उन्हें आस्तिक दर्शनों की उपयोगिता प्रकाशित करने का श्रेय भले मिले, समन्वय कार्य में कृतकृत्यता नहीं मिल पाई। सच बात

तो यह है कि वाचस्पति मिश्र अन्य सभी आस्तिक दर्शनों को अद्वैत वेदान्त की तुलना में हल्के स्तर का और प्रारम्भिक सोपानगत मानते हैं ।[१] जब कि विज्ञान-भिक्षु की दृष्टि में सांख्ययोगवेदान्त तीनों एक विराट् सत्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों की प्रधानताओं के प्रकाशक हैं । दोनों व्यक्तियों की शैली और रुचि में यही मौलिक-भेद है । वस्तुतः वाचस्पति मिश्र एकान्वयवादी वेदान्ती हैं, जवकि विज्ञान-भिक्षु सच्चे समन्वयवादी, सांख्याचार्य, योगी और अद्वैतवेदान्ती सब कुछ एक साथ हैं । यद्यपि वाचस्पति मिश्र के लिए सभी आस्तिकदर्शनों की अप्रतिम उपा-देयता और अविरोधिता है तथापि अद्वैतवेदान्त ही उनकी दृष्टि में पूर्ण दर्शन है, सांख्य योगादि दर्शनों का महत्त्व केवल सोपान रूप का है । जब कि विज्ञानभिक्षु सभी आस्तिक दर्शनों में अविरोध और समन्वय देखते हैं । सांख्य, याग और वेदान्त तीनों को वे पारमार्थिक भूमि पर बरावर महत्त्वपूर्ण मानते हैं । ये तीनों दर्शन समवेत रूप से पूर्ण दर्शन हैं । इन सभी दर्शनों का प्रधान प्रतिपाद्य अलग-अलग है । इस प्रकार इन दर्शनों का क्षेत्र ही अलग-अलग है । संक्षेप में यह कहा जाता सकता है कि वाचस्पति मिश्र समन्वय की ओर अस्पष्ट संकेत मात्र करते हैं जबकि विज्ञानभिक्षु का साक्षात् संदेश ही समन्वय है ।

उनके ईषत्परवर्ती मधुसूदन सरस्वती भी आस्तिक दर्शनों के इस अविरोध को प्रकट करते हैं[२] किन्तु उनकी समन्वयवादिता भी वाचस्पति मिश्र की ही कोटि की है जिनमें अद्वैतवेदान्त प्रधान तथा अन्य दर्शन गौण और वैचारिक सोपान के रूप में ही प्रतिष्ठित किये गये हैं । विज्ञानभिक्षु का समन्वय स्फुट और व्यापक है । सांख्य और योग के अभेद का प्रतिपादन तो स्मृतिग्रन्थों और महाभारत आदि ने पहले से मान रखा था किन्तु वेदान्त का समन्वय सांख्य और योग के साथ स्पष्ट रूप में कभी नहीं किया गया था । वेदान्तशाखा के विद्वानों ने यद्यपि पातञ्जल योग से अष्टाङ्ग मार्ग को साधनचतुष्ट्य की विवक्षा में अङ्गीकृत कर लिया था किन्तु पारमार्थिक सिद्धान्तों की दृष्टि से वेदान्त और योग को एक धरातल पर देखने का किसी ने प्रयास नहीं किया था । इस प्रकार तीनों दर्शनों के बीच समन्वय की प्रतिष्ठा करने का श्रेय निस्संदेह विज्ञानभिक्षु को प्राप्त है ।

---

१. Vachaspati seems to hint that in his eyes the different systems of Indian Philosophy are rather different stages of Indian Thought gradually evolving, developing and finally culminating in the subtle most all comprehensive philosophy of Advaita Vedanta.

Vachaspati Mishra on Advaita Vedanta
by Dr. S. S. Hasurkar P.145.

२. द्रष्टव्य, महिम्नः- स्तोत्र की मधुसूदनी टीका, पृ० २२

किन्तु इस तथ्य से यह धारणा नहीं बना लेनी चाहिये कि विज्ञानभिक्षु ने एक बिल्कुल नई और परम्पराविहीन दिशा का उद्घाटन किया है। इस समन्वय के मूल में पुराणों का विपुल कलेवर स्वयं सक्रिय है। पुराणों में सभी आस्तिक दर्शनों के चिन्तन का मिश्रण उपस्थित है। सांख्य, योग और वेदान्त आदि सभी विचारधाराओं का धार्मिक घोल उनमें प्रस्तुत किया गया है किन्तु मननात्मक शैली से समन्वय उनमें नहीं किया गया है। परमार्थ भूमि पर तीनों दर्शनों के सम्माननीय-सह अस्तित्व की विद्या का स्फुट निदर्शन उनमें नहीं है। वस्तुतः विज्ञानभिक्षु ने पुराणों के धार्मिक एकीकरण की आन्तरिक भावना को दार्शनिक स्तर की महत्ता प्रदान की है। उन्होंने पुराणों की मूकसाधना को तार्किक संबल देकर चिन्तन-जगत् में मुखर कर दिया है। भारतीय-संस्कृति के प्रति दर्शनों के ऐक्य का विधान करके विज्ञानभिक्षु ने एक अक्षुण्ण योगदान का प्रशस्त परिचय दिया है।

इस समन्वय की प्रक्रिया में सांख्य, योग और वेदान्त के सैद्धान्तिक ऐक्य पर दृष्टि रखने पर भी इनमें कुछ ऐसे मत पड़े रह जाते हैं जिनका परिहार विज्ञान-भिक्षु के लिये भी कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में विज्ञानभिक्षु की व्यग्रता स्वाभाविक है और उनकी एकीकरणभावना की तीव्रता का उद्रेक होना अनिवार्य है। इस मतभेदों को वे दृष्टि से ओझल करने का यत्न कदापि नहीं करते। प्रत्युत पूरी ईमानदारी के साथ उसका विवेचन करते हैं। उस मतभेद का कारण ढूँढ़ते हैं और ग्राह्यमत का निर्देश करते हैं, तथा वांछनीय समाधान उपस्थित करते हैं। ऐसे स्थल कम हैं, किन्तु जो हैं, उन पर दृष्टिपात करना नितान्त आवश्यक है। इन असमन्वीयमान मतों में प्रमुखतम ये हैं—

१—सांख्य की निरीश्वरता
२—सांख्य का काल-सिद्धान्त
३—योग का स्फोट-सिद्धान्त[1]
४—योग का मनोवैभव-सिद्धान्त
५—सांख्ययोग का स्वतन्त्रप्रधानकारणतावाद
६—इन दर्शनों का ख्यातिसिद्धान्त इत्यादि[2]

१. तेनाप्यसाधितः स्फोटशब्दो धीवैभवं तथा।
संक्षेपात्साध्यतेऽस्माभिः सांख्यदोषनिरासतः।—यो० सा० सं० पृ० ६८

२. अत्र च शास्त्रेऽन्यथाख्यातिः सिद्धान्ततः न तु सांख्यवद् विवेकमात्रम्।
—यो० वा० पृ० ३३

सांख्यशास्त्र में ईश्वर के अस्तित्व का दर्शन नहीं होता विज्ञानभिक्षु ने इस इस अंश में सांख्य का दौर्बल्य स्पष्टतः स्वीकार किया है। किन्तु इससे भी सांख्य का अप्रामाण्य नहीं होता क्योंकि यह उसका प्रधान विषय नहीं। सांख्य में सेश्वरवाद की कहीं निन्दा भी नहीं की गई[1], ईश्वर का अभाव सांख्य में कहीं नहीं कहा गया। सांख्य में केवल 'ईश्वरासिद्धः'[2] सूत्र आया है ईश्वराभावात् नहीं, जिसका अर्थ उनकी दृष्टि में केवल यह है कि ईश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती। या फिर बहुत सम्भव है कि वैराग्य की भावना के जागरण के लिये सांख्यशास्त्र ने ईश्वर का प्रतिपादन न किया हो।[3] जो भी हो सांख्य की इस कमी का पूरा भान विज्ञानभिक्षु को था। इसीलिये ईश्वर के विचार के प्रसङ्ग में उन्होंने सांख्य की प्रामाणिकता को स्वीकार न करने का ही आग्रह किया है और पारमार्थिक ईश्वर की मान्यता के कारण योग और वेदान्त की बात ही उन्होंने इस प्रसङ्ग में आदर्श बतायी है। फिर भी यदि कोई उन्हें सेश्वरसांख्यवादी कहे तो यह अत्युक्तिमात्र होगी। क्योंक भले ही विज्ञानभिक्षु सेश्वर दर्शनधारा के अनुयायी हैं और भले ही वे सांख्य में ईश्वर की सत्ता का खण्डन होना अभ्युपगम और प्रौढ़ि से ही स्वीकार करते हैं किन्तु सांख्य को वे निरीश्वरवादी ही मानते हैं। यौर इस अंश में सांख्य की अप्रामाणिकता या दुर्बलता की घोषणा भी करते हैं यह निर्विवाद है।[4] अतः उन्हें सेश्वरसांख्यवादी कहना तथ्य की ओर से आँख मूँदना मात्र है। वे स्वयं ईश्वरवादी हैं और सांख्य के विषय में निरीश्वर सांख्यवादी है।

इसी मान्यता पर आश्रित जगत्कारणता का प्रश्न है। इस प्रश्न पर भी विज्ञानभिक्षु ने स्पष्ट रूप से यह निर्णय दिया है कि सांख्य का स्वतन्त्रप्रधान-कारणतावाद अनुचित है[5]। योग भी स्वतन्त्रप्रधानकारणतावादी है[6] क्योंकि

---

१. सेश्वरवादस्य न क्वापि निन्दादिकमस्ति।—सां० प्रं० भा० पृ० ३
२. सूत्र १।९२ का भाष्य—'अयं चेश्वरप्रतिषेध एकदेशिनां प्रौढ़िवादेनेवेति प्रागेव प्रतिपादितम्। अन्यथा हीश्वराभावादित्येवोच्येत।—सां० प्र० भा० पृ० ५०
३. अस्मिन्नेव शास्त्रे व्यावहारिकस्यैश्वर्यवैराग्याद्यर्थमनुवादत्वौचित्यात्।
—सां० प्र० भा० पृ० ३
४. तद्विवेकांश एव सांख्यज्ञानस्य दर्शनान्तरेभ्य उत्कर्षं प्रतिपादयति, न त्वीश्वरप्रतिषेधांशोऽपि।—सां० प्र० सा० ३
५. 'अतो यथोक्ततर्कैरीश्वरपरत्वेनावधारिता श्रुतिः (तां) स्मृतिं बाधिष्यति इति भावः।—वि० भा० पृ० २६५
६. योगः पातञ्जलशास्त्रं प्रकृतिस्वातन्त्र्यमात्रांशे प्रयुक्तः प्रत्याख्यातः।
—वि० भा० पृ० २७१

ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने पर भी योग प्रकृति की प्रवृत्ति में उसका प्रतिबन्धनिवर्तकत्वमात्र स्वीकार किया गया है। किन्तु इससे सांख्य और योग का अप्रामाण्य नहीं है इस अंश में ये दोनों शास्त्र दुर्बल है। किन्तु यह विषय सांख्य और योग का प्रधानप्रतिपाद्य नहीं है; इसीलिए इस विषय के कारण समन्वय में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस सिद्धान्त को समन्वय के लिये छोड़ दिया जाना चाहिए। इसीलिए उन्होंने सांख्ययोग के स्वतन्त्र प्रकृतिकारणतावाद का खण्डन और ईश्वर या ब्रह्म के अधिष्ठान-कारण रूप उपादानकारणत्व का सिद्धान्त स्वीकृत किया है।

सांख्यादि से विरुद्ध स्फोट और मनोवैभव तथा काल के अवयव-भूत क्षणादि को उन्होंने सिद्धान्तित किया है और इस प्रसङ्ग में सांख्य का जम कर खण्डन भी किया है। तीनों दर्शनों के हेयांशों को छोड़कर तथा तीनों दर्शनों के प्रधानप्रतिपाद्यभूत विषयों को सत्य और प्रामाणिक मान कर ही उन्होंने समन्वयवाद की नींव जमाई है। इस प्रकार उनके सिद्धान्तों में न कहीं स्व-वचो-व्याघात है और न ही वैचारिक दुरूहता। समन्वय की सिद्धि में समानतन्त्रसिद्धान्तों के अन्तर्गत प्राप्य मतों को स्वीकार करके उन्होंने विरुद्धांशों के विरोध का सहज परिमार्जन किया है। वस्तुतः दर्शनजगत् में यह समन्वय उनको एक महत्त्वपूर्ण देन है, जिससे मुमुक्षुओं को एक निर्भ्रान्त मार्ग का दर्शन होता है और बौद्धिक व्याकुलता की शान्ति होती है।

# वेदान्त-समीक्षा

## ब्रह्म

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने भास्कर, रामानुज तथा निम्बार्क आदि की भाँति ब्रह्म को ईश्वर, परमेश्वर और परमात्मा कहा है।[1] शङ्कर की भाँति ब्रह्म और ईश्वर को भिन्न नहीं माना है[2] निम्बार्क वल्लभ आदि वैष्णव वेदान्तियों की भाँति विष्णु, कृष्ण आदि को वे ब्रह्म या ईश्वर नहीं कहते।[3] उनकी दृष्टि में विष्णु-कृष्ण-नारायण-रामादि ईश्वर के अंशावतार या आवेशावतार मात्र हैं साक्षात् ईश्वर या ब्रह्म नहीं। रामानुजप्रभृति वैष्णववेदान्ती और भास्कर भी ब्रह्म को सविशेष या विशेषणविशिष्ट मानते हैं किन्तु विज्ञानभिक्षु शंकर के समान ब्रह्म को निर्विशेष मानते हैं।[4] शंकर और भास्कर की ही भाँति वे ब्रह्म को ज्ञानरूप ही मानते हैं।[5] रामानुज इत्यादि की भाँति ज्ञान को वे ब्रह्म का गुण नहीं मानते। उनके लिए ब्रह्म ज्ञाता है, ज्ञान है और ज्ञेय भी। ब्रह्म की ज्ञेयता में भी उन्हें कर्तृकर्मविरोधादि की आपत्ति सर्वथा अनुचित लगती है। रामानुज की भाँति ये भी ब्रह्म की स्वप्रकाशता स्वीकार करते हैं। इससे ब्रह्म की ज्ञेयरूपता में कोई अन्तर नहीं आता। सभी वेदान्तियों को अभीष्ट ब्रह्म की श्रुतिमात्रप्रमाणता में विश्वास नहीं करते अपितु श्रुति के अतिरिक्त अनुमान और योगज प्रत्यक्ष को भी ब्रह्म की सत्ता-सिद्धि में पुष्ट प्रमाण मानते हैं। वे ब्रह्म को अनुमेय मानने में श्रीहर्ष के समानधर्मा हैं।[6] निम्बार्क आदि की भाँति वे जीव को ब्रह्म का अंश

---

१. द्रष्टव्य, भास्करभाष्य वे० सू० १।१।१२ पर पृ० २४ इत्यादि। श्रीभाष्य, वेदान्त-पारिजातसौरभ तथा वि० भा० १।१।२ सूत्र का भाष्य।

२. द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य की चतुःसूत्री।

३. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० १३३, १३५, १३७

४. न धर्माधर्मिभेदेन स्वरूपभेदाः।—भा० भा० पृ० १६९

५. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ६२

६. खण्डनखण्डखाद्य का मङ्गलाचरण—

अविकल्पविषय एकः स्थाणुः पुरुषः श्रुतोऽस्ति यः श्रुतिषु।
ईश्वरममुमथा न परं वन्देऽनुमयापि तमधिगतम्॥१॥

मानते हैं, रामानुज की भाँति विशेषण नहीं। शङ्कराचार्य की अखण्डात्मा का सिद्धान्त उनकी तीव्र आलोचना का विषय इसीलिए बना है। शक्तिरूप से पुरुष ब्रह्म का अंश है। ईश्वर, शक्तिमान् और इसीलिए अंशी हुआ। दोनों का सम्बन्ध न तो वैष्णव वेदान्तियों की भाँति अलगाव रूप है और न ही शङ्कर आदि अद्वैतियों की भाँति जीवब्रह्मैक्य तथा अखण्डरूप का है। अपितु शक्ति और शक्तिमान् का अभेद होने के कारण वे अभिन्न हैं। इसी न्याय से प्रकृति भी ईश्वरांश या उसकी शक्ति होने के कारण उससे अभिन्न है। इस प्रकार सर्वथा अभिन्न अद्वैत की ही स्थिति विज्ञानभिक्षु ने मानी है। इस सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट करने के लिए पुरुषबहुत्व और प्रकृति के अनन्त विविध रूपों की समस्या का समाधान भी विज्ञानभिक्षु ने कर दिया है। उनके मतानुसार पुरुष नामक अनन्त अंशों के होने पर भी अद्वैत में बाधा नहीं होती क्योंकि उनमें साधर्म्य अवैधर्म्य, या सजातीयत्व अथवा साजात्य है। इस सामान्य या साजात्य के कारण वे एक ही हुए और ईश्वर से अभिन्न हुए। इस प्रकार से अद्वैत सिद्धान्त में कोई भी क्षति नहीं हुई।[1] इसी प्रकार सत्कार्यवादसिद्धान्त के अनुसार प्रकृति और उसके विकसित सकल रूप अविभक्तता के कारण ईश्वर की अभिन्न शक्ति ही हुए। इस प्रकार ईश्वर या ब्रह्म का सबसे अभेद है। और वस्तुतः एकमात्र वही अविरुद्ध सत्ता है। तर्क से अनुप्राणित विज्ञानभिक्षु का यह अद्वैत सिद्धान्त अत्यन्त आकर्षक है। सभी वैष्णववेदान्ती ब्रह्म को आनन्दरूप मानते हैं। आचार्य शंकर और भास्कर भी ब्रह्म को सच्चिदानन्द रूप में ही सिद्धान्तित करते हैं। इस प्रश्न पर विज्ञानभिक्षु इन सबसे विरुद्ध हैं। ब्रह्म को वे आनन्दरूप नहीं मानते। वैष्णव या शैव भक्त वेदान्तियों के द्वारा माने गए ब्रह्म के लिए कोई देशकालावच्छिन्न लोक इत्यादि की कल्पना उनके लिए असह्य है। इस मान्यता के आधार पर वे कुछ-कुछ भास्कर के निकट प्रतीत होते हैं। ब्रह्म के सोपाधि रूप को भास्कर कार्य-रूप और निरुपाधिरूप को कारण-रूप मानते हैं,[2] किन्तु वे ब्रह्म के कारण और कार्य दोनों रूपों को सोपाधि मानते हैं। ब्रह्म के शुद्ध चैतन्य-रूप में उन्हें किसी प्रकार की कारणता या कार्यता अथवा सविशेषता ग्राह्य नहीं है। शांकरमत में ब्रह्म सदा निरुपाधि है किन्तु विज्ञानभिक्षु सृष्ट्यादि दशाओं में ब्रह्म को सोपाधि ही मानते हैं। ब्रह्म की उपाधि ब्रह्म की शक्तियों से अतिरिक्त है यह बात सर्वथा स्मरणीय है। साथ ही यह भी कि यह उपाधि भी यद्यपि नित्य

---

१. यतो भिन्नं किमपि न भवति।—वि० भा० ६२४

२. द्रष्टव्य, वेदान्तसूत्र १।१।१२—१९ का भास्करभाष्य

है परन्तु आत्मनिष्ठ सी होकर ही तत्संयोग लाभ करती है। जहाँ तक ब्रह्म की जगत्कारणता का प्रश्न है मध्व[1] से भिन्न अन्य सभी वैष्णववेदान्तियों तथा भगवान् शंकराचार्य की ही भाँति उन्होंने भी अपने ढंग से ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण सिद्ध किया है।[2]

१. द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्रों के वैष्णवभाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन पृ० ३३

२. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ३४

# जीव

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने जीव को ब्रह्म की शक्ति या ब्रह्म का अंश माना है। अंशत्व की मान्यताओं में वे सामान्यतः भास्कर, निम्बार्क, रामानुज, मध्व और वल्लभ की कोटि में ही आते हैं। परन्तु इन सब की अंशत्व की कल्पना में बड़ा भेद है। भास्कर की दृष्टि में अंशतत्त्व केवल औपाधिक है।[1] निम्बार्क आदि तीनों वैष्णव वेदान्ती जीव को परब्रह्म के स्वरूप का कोई भाग या खण्ड नहीं मानते हैं। इन लोगों के मत में जीव अपने स्वरूप, स्थिति तथा प्रवृत्ति के लिए ब्रह्म के अधीन है। यह ब्रह्माधीनता या ब्रह्मायत्तता ही जीव का अंशत्व है।[2] वल्लभ ने जीव को इस रूप में ब्रह्म का अंश माना है जैसे स्फुलिङ्ग अग्नि के अंश होते हैं। वल्लभ ने 'सच्चिदानन्द' ब्रह्म के आनन्दांश रहित 'सच्चिद्' अंश को जीव माना है। परन्तु विज्ञानभिक्षु ब्रह्म जीव को अग्निस्फुलिंग[3] के समान अंशांशिभाव से सजातीय मानते हैं। आचार्य शंकर की अखण्डता का तो वे खुल कर खण्डन करते हैं।

रामानुज आदि सभी वेदान्ती जीव को अणुपरिमाण वाला मानते हैं। परन्तु विज्ञानभिक्षु जीव को शंकर के ही समान अन्य वेदान्तियों से विरुद्ध विभु मानते हैं।[4] जीव अनेक हैं—इस मान्यता के द्वारा वे शङ्कर का खण्डन और अन्य वेदान्तियों के मत का खण्डन करते हैं। अन्य वेदान्ती अणुत्व को जीव का लिङ्ग या पहचान मानते हैं। भास्कर जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को औपाधिक मानते हैं। शङ्कर और विज्ञानभिक्षु भी इसी मत के पोषक हैं। जबकि अन्य लोग जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व को स्वाभाविक और ब्रह्म के अधीन समझते हैं। जहाँ तक इस ब्रह्माधीनता का प्रश्न है इस विषय में विज्ञानभिक्षु का भी मत इन्हीं लोगों की भाँति शङ्कर और भास्कर के विरुद्ध ब्रह्मधीनतावादी ही समझना चाहिए।[5]

जीव के ब्रह्मांशत्व और ब्रह्मशक्तिवाद में वे भास्कर और निम्बार्क के साथ हैं। वे जीव को ब्रह्म का कार्य नहीं मानते पुरातन वेदान्ती 'ब्रह्मदत्त' इसी मत के

---

१. द्रष्टव्य, २।३।४३ भा० भा० पृ० १४०, ३।२।३० पृ० १७०
२. द्रष्टव्य, ब्र० केवै० भा० का तु० अ० पृ० २३६
३. द्रष्टव्य, वे० सू० २।३।४२ पर अणुभाष्य
४. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ३४३ तथा शाङ्करभाष्य सू० १।२।७
५. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ३५८

पोषक थे। रामानुज की भाँति वे जीव को ब्रह्म का विशेषण भी नहीं स्वीकार करते।[1] जीव और ब्रह्म में यद्यपि अविभागलक्षणाभेद वे मानते हैं परन्तु ऐसी भी दशा में—वृद्धावस्था या मुक्तावस्था—में वे जीवब्रह्मैक्य नहीं मानते हैं। यहाँ पर शङ्कर से उनका तीव्र मतभेद है। अखण्डत्व या दोनों का ऐक्य उनके लिये असह्य और अग्राह्य है।[2] स्मरणीय है कि वैष्णव या शैव वेदान्तियों की भाँति जीव का ब्रह्म के प्रति मोक्षावस्था में दास-भाव आदि अथवा चतुर्व्यूह आदि से युक्त लोकों की सायुज्यादि मोक्ष की कल्पना से भी घोर उपेक्षा है। उनका जीव न किसी ब्रह्म का नकली प्रतिबिम्ब या आभास है न ही एक असीम का ससीम प्रतिनिधि और न ही किसी प्रकार की भी दासता का पुरातन प्रतीक। वह विभु न, ज्ञ है परमेश्वर की शक्ति है, और उसका सजातीय अंश है। उसकी महत्ता को बढ़ा कर उसे शङ्कर की भाँति ब्रह्म रूप कर देना अथवा रामानुजादि भक्त-वेदान्तियों की भाँति उसे अनुचित रीति से कम करके ब्रह्म का सेवक बना देना–ये दोनों ही प्रवृतियाँ उनकी दृष्टि में भ्रान्ति से पूर्ण एवं उपेक्षणीय हैं।

---

१. द्रष्टव्य, श्रीभाष्य १।१।१ सूत्र

२. इदमेव खण्डैकात्म्यमबुद्ध्वा आधुनिका अखण्डैकात्म्योपपत्तये जीवानां प्रतिबिम्बावच्छेदादिरूपैः कुकल्पनां कुर्वन्ति।—वि० भा० पृ० ५७

# प्रकृति

आचार्य विज्ञानभिक्षु का प्रकृति और माया विषयक सिद्धान्त बड़ा ही अनोख और विचित्र है। सांख्यमतानुसार सत्त्वरजस्तमोमयी त्रिगुणात्मिका प्रकृति जड़ है। यह प्रकृति का स्वरूप इन्हें भी यद्यपि अभीष्ट है किन्तु वे प्रकृति को सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र नहीं मानते बल्कि उसे परमेश्वर की अन्तर्लीन शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। यहाँ तक तो वे रामानुज और निम्बार्क से सहमत हैं किन्तु वे रामानुज की भाँति प्रकृति को अविद्या, माया या अक्षर[1] नहीं मानते। प्रकृति की नित्य-परिणामिशालिता के कारण उसे अक्षर कहना ठीक नहीं है। उन्होंने माया नाम की अपरिणामिनी प्रकृति को इस प्रकृति के सामान्य रूप से भिन्न ईश्वर की उपाधि रूप में स्वीकार किया है। आचार्य शङ्कर की भाँति प्रकृति को माया और अविद्या कह कर सर्वथा तुच्छ अथवा असत् या अनिवर्चनीय मानने के वे विरोधी हैं। वैष्णव वेदान्तियों और सांख्यशास्त्रियों की भाँति उनकी प्रकृति सत् है। एक पारमार्थिक सत्ता है। भले ही इस पारमार्थिक सत्ता का ग्रहण उन्होंने एकमात्र परम सत्ता ईश्वर की शक्ति के रूप में ही संशोधित करके स्वीकार किया हो; और इस प्रकार से अपने अद्वैत-सिद्धान्त की रक्षा की हो।

प्रकृति का दूसरा रूप जीवोपाधि है। परन्तु इस रूप को भी वे भास्कर या शङ्कर की भाँति अविद्या के रूप में मानने के विरोधी हैं।[2] अविद्या तो एक प्रकार का बुद्धिगत क्लेश है।[3] जैसे जीव की उपाधि मूल-कारण-प्रकृति का एक अलग रूप है वैसे ही ईश्वर की उपाधि माया भी प्रकृति का एक अलग रूप है। विष्णु-पुराणाभिमत प्रकृति और माया के वास्तविक भेद को भी उन्होंने नहीं माना, बल्कि यह कह कर इस कथन का परिमार्जन किया है कि जड़त्वादिसाधर्म्य से माया को भी प्रकृति के अन्तर्गत उसके एक विशिष्ट रूप में स्वीकार करना चाहिये।[4] मूल प्रकृति के स्वाभाविक रूप और माया के स्वाभाविक रूप में स्पष्ट अन्तर केवल यह है कि प्रकृति परिणामिनी है और माया अपरिणामिनी है। माया केवल शुद्धसत्त्वा

---

१. प्रधाने च परिणामिनित्ये धर्मरूपेण क्षयिणि अक्षरशब्दस्यापेक्षिकत्वात्त-स्याक्षरस्याधीनेति।—वि० भा० पृ० ५००

२. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ८२, ८५, ८६

३. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः।—यो० सू० २।३

४. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० २५८, २६१

होने के कारण नित्य आनन्द वाली है। उसमें रजोगुणादि-राहित्य के कारण दुःखादि की सम्भावना नहीं रहती।[१] प्रकृति के इस प्रकार के तीन रूपों की अलग-अलग कल्पना विज्ञानभिक्षु का अपना वैशिष्ट्य है।

शङ्कर के द्वारा माने गए आत्मनिष्ठ-अविद्या[२] के सिद्धान्त का इन्होंने प्रत्याख्यान किया है और माया के विषय में यह कहा है कि इस ईश्वरापाधि की ईश्वरनिष्ठता नहीं है अपितु नित्यसंयोगमात्र है। जीव की ही भाँति प्रकृतिकृत पदार्थों की भी उत्पत्ति गौण ही समझनी चाहिये। वैष्णववेदान्तियों की भाँति वास्तविक उत्पत्ति नहीं माननी चाहिये। वल्लभाभिमत प्रकृति की चिदानन्दरहित ब्रह्मरूपता भी उन्हें अग्राह्य है। वह ब्रह्म की एक शक्ति है। वह ब्रह्मरूप नहीं है। निम्बार्क आदि की भाँति उन्होंने भी काल और अदृष्टादि को प्रकृति से भिन्न किन्तु जड़ रूप से ईश्वर-शक्ति के रूप में ही स्वीकार किया है अतः ब्रह्मशक्ति के अन्तर्गत ही कालादि का समावेश है।[३]

यह संसार वास्तविक परिणाम है ब्रह्म की शक्तिभूत प्रकृति का और वह भी पुरुष के संयोग के फलस्वरूप। इस संसार की निरन्तर प्रवहमान स्थिति का अधिष्ठानकारण ब्रह्म है। चूँकि ब्रह्माधिष्ठित ब्रह्मशक्तिप्रकृति का ही विविध परि-णाम यह व्याकृत जगत् है अतः ब्रह्म इस सकल प्रपंच का उपादान कारण कहा जा सकता है। चूँकि प्रकृति-परिणाम की सारी प्रेरणा ब्रह्मोपाधिभूत अपरिणामिनी माया से सुलभ होती है इसलिये ब्रह्म को हम जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण मानते हैं। आचार्य विज्ञानभिक्षु इस प्रकार की कारणता मान कर इस अंश में शङ्कर, रामानुज, वल्लभ और निम्बार्क की ही श्रेणी में आते हैं। इन आचार्यों ने भी अपने-अपने ढंग से ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमितोपादानकारण माना है।

---

१. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ३१९

२. एतेनाविद्याया आत्मनिष्ठत्वमप्यपास्तम्।—वि० भा० पृ० ८४

३. एतेन प्रधानप्राणादीनां ब्रह्मशक्तित्वप्रतिपादनेन येऽप्यानुमानिकाः काला-दृष्टादयो ब्रह्मशक्तितया व्याख्याता वेदितव्याः, न तु स्वतन्त्रं किमप्यन्य-दस्ति।-- वि० भा० २६२

समस्तशक्तिः परमेश्वरात्मा।—वि० भा० पृ० ४७२

# भेदाभेदवाद

शङ्कर की दृष्टि में संसार मिथ्या है। एकमात्र ब्रह्म ही सता है। अतः उन्हें अभेद प्रदर्शित करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। भास्कर, निम्बार्क और बलदेव भेदाभेदवादी कहे जाते हैं। उनकी दृष्टि में संसार और ब्रह्म सत् हैं फिर भी उन्हें द्वैत नहीं स्वीकार है। अतः वे अपने अपने ढंग से अभेद सिद्ध करते हुए अद्वैत की सिद्धि करते हैं। आचार्य विज्ञानभिक्षु भी ऐसे ही अभेदवादी हैं। इन सबके मतवाद को संक्षिप्त निर्देश के रूप में इस प्रकार से प्रकट किया जा सकता है—

१—भास्कर —औपाधिकभेदाभेदवाद

२—निम्बार्क —स्वाभाविकभेदाभेदवाद

३—विज्ञानभिक्षु —अविभक्तभेदाभेदवाद[१]

४—बलदेव —अचिन्त्यभेदाभेदवाद

इस प्रकार से विज्ञानभिक्षु की भी गणना भास्कर, निम्बार्क एवं बलदेव आदि की भाँति भेदाभेदवादी दार्शनिकों में की जाती है। उन्हें भी ब्रह्म और संसार की अभिन्नता और भिन्नता दोनों अभीष्ट है।[२] उनका कथन है कि संसार असत् नहीं है; पुरुष और प्रकृति भी असत् नहीं है। अतः इनका अस्तित्व या व्यक्तित्व एक दृष्टि से ब्रह्म से अलग भी है। इस भेद की परिभाषा वे इस प्रकार करते हैं कि—'अन्योन्याभावलक्षणः भेदः, तस्य अविभागलक्षणेनाभेदेनाविरोधात्॥'[३] इस भेद के साथ ही ब्रह्म के साथ सकल संसार का अविभागलक्षणाभेद भी है। इस प्रकार से ब्रह्म का सकल जगत् के साथ भेदाभेद दोनों सम्बन्ध स्वीकार किया गया है।

---

१. यह नामकरण मेरी दृष्टि में सभी प्रकार से उनके मतवाद का पूर्ण-प्रकाशक है।

२. अतश्च ब्रह्मप्रपञ्चयोर्भेदाभेदाभेदावेव वेदान्तसिद्धान्तः। न च भेदाभेद-योर्विशेषः शङ्कनीयः भेदस्यान्योऽन्याभावरूपत्वाद्, अभेदस्य चाविभागावै-धर्म्यरूपत्वादिति।—वि० भा० पृ० ४६५

३. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ३६३, ३६४

भास्कर मत में यह भेदाभेद केवल औपाधिक है। उपाधि रहने तक भेद और उपाधि विगलन हो जाने पर अभेद रहता है। इस प्रकार से लौकिक दृष्टि से भले ही यह सम्बन्ध भेदवाला प्रतीत हो किन्तु वस्तुतः यह सम्बन्ध अभेद का ही है। भेदाभेद का नहीं। स्वाभाविक भेदाभेदवादी निम्बार्क के मत में ब्रह्म तथा जीवजगत् का यह भेदाभेद सम्बन्ध स्वाभाविक है। दोनों पक्षों का स्वभाव ही भेद और अभेद दोनों परक है। बलदेव का भेदाभेदवाद अचिन्त्य भिन्नता और अभिन्नता का प्रतिपादक है किन्तु भेद और अभेद दोनों ही वहाँ पर भी शाश्वत ही हैं।

विज्ञानभिक्षु का भेदाभेदवाद व्यावहारिक स्थिति के सम्बन्ध मात्र का द्योतक है। उनका अभेद तो शाश्वत है। सर्वकालिक है और नित्य है किन्तु भेद—यद्यपि मिथ्या नहीं है फिर भी—केवल अमुक्त दशा तक ही है। इस प्रकार भेदाभेदवादी होने पर भी वे वस्तुतः अभेदवादी अर्थात् अद्वैतवादी दिशा की ओर उन्मुख हैं। उनका भेदाभेदवाद एक आंशिक काल के लिए सत्य है। और अभेदवाद ही उनका वास्तविक सिद्धान्त है। उन्होंने अखण्डत्व और द्वैत दोनों उग्र तात्त्विक कोटियों का परिहार करने के लिए भेदाभेद का सिद्धान्त स्वीकार किया है।[1] किन्तु यह ऐसा भेदाभेद है जो अन्ततोगत्वा अभेद में ही पर्यवसित होता है। इसलिए उन्हें बलदेव या निम्बार्क की भाँति पक्का भेदाभेदवादी मानना समीचीन नहीं है। वे जीव की बद्धावस्था तक के लिए भेदवाद का ग्रहण करते हैं किन्तु अन्ततः मुक्तावस्था में अभेद को ही पारमार्थिक मानते हैं। इस प्रकार अन्ततोगत्वा वे अभेदवादी ही हैं।[2]

शङ्कर और रामानुज की अभीष्ट पञ्चीकरणप्रक्रिया को मानने के आचार्य विज्ञानभिक्षु विरोधी हैं। छन्दोग्योपनिषद्-सम्मत 'त्रिवृत्करणप्रक्रिया' ही सृष्टिप्रक्रिया के प्रसंग में उन्हें स्वीकृत है। पञ्चीकरणप्रक्रिया को वे श्रुति-विमत और मनमानी बताते हैं।[3] उन्हें ब्रह्मविवर्तवाद और ब्रह्मपरिणामवाद दोनों अरुचिकर हैं।[4] वे

---

१. एतदुक्तं भवति भेदाभेदाभ्यामंशत्वमेव शास्त्रार्थो नाखण्डत्वम् ।—वि० भा० पृ० ३६२

२. तस्मात् सिद्धौ जीवेश्वरयोरंशांशिभावेन भेदाभेदौ विभागाविभागरूपौ। तत्राप्यविभाग एव आद्यन्तयोरनुगतत्वात् स्वाभाविकत्वात् नित्यत्वाच्च सत्यः। विभागस्तु मध्ये स्वल्पावच्छेदेन नैमित्तिको विकारान्तरवद् वा चारम्भणमात्रम् इति विशेषः। तदेवमात्माद्वैतंव्याख्यातम् ।।—वि० भा० पृ० ६१

३. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ४०९

४. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ३३

ब्रह्मशक्तिभूतप्रकृति-परिणामवादी हैं। पुरुष की असङ्गता और चिन्मात्रता पर इस मतवाद से कोई आंच नहीं आती और न ही जगत् के मिथ्यात्व का प्रलाप ही करना पड़ता है।

रामानुज आदि वैष्णव वेदान्तियों के ईश्वर की भाँति उनके ईश्वर को लीलाविलास आदि करके वैषम्य और नैर्घृण्य का शिकार नहीं बनना पड़ता। उनका दिव्य ईश्वर मानवीय रूप में नहीं उतरता। उसका सर्वोत्तम चिन्मात्र-स्वरूप सर्वथा अक्षुण्ण रहता है। लोकदशा में भले ही जीव ब्रह्म प्रेरित हो परन्तु मोक्ष दशा में वह सर्वथा स्वतन्त्र है। इस स्थान पर वे शंकर और भास्कर की भाँति मोक्ष की उत्कृष्टता सिद्ध करने में समर्थ हैं। भले ही जीवब्रह्मैक्य में उनका संरम्भ शंकर और भास्कर की भाँति न हो। परन्तु भक्तिमार्गी वैष्णव और शैव वेदान्तियों की भाँति जीव की सार्वकालिक ईश्वर परतन्त्रता उनके मत में बिल्कुल नहीं है।

## मुक्ति

मुक्ति-दशा में जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में शंकर, भास्कर, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, मध्व, श्रीकण्ठ, बलदेव आदि सभी वेदान्तियों से विज्ञानभिक्षु का मतभेद है। ये लोग किसी न किसी रूप में मुक्ति को निरतिशय आनन्द की अवस्था मानते हैं, परन्तु विज्ञानभिक्षु ने इस दशा में पुरुष को केवल चिन्मात्र ही माना है। इस दशा में दुःख की आत्यन्तिक और एकान्तिक निवृत्ति तो अवश्य होती है किन्तु आनन्दरूपता का कोई भी सम्पर्क नहीं होता।[१] मुक्ति नित्य है। इस दशा के पश्चात् फिर किसी प्रकार की आवृत्ति नहीं होती। इस मान्यता में वे सब के साथ हैं।

शङ्कर और भास्कर के समान वे भी सारूप्यादि को मुक्ति नहीं मानते। न ही उन्हें पुरुष के सम्बन्ध में ब्रह्म का दासत्व या नित्य कैङ्कर्य ही ग्राह्य है। इस कल्पना का वे खण्डन करते हैं। शङ्कर और भास्कर को अभिमत जीवब्रह्मैक्य सिद्धान्त मानना उनके लिए अग्राह्य है।[२] मुक्ति दशा में भी पुरुष ईश्वर नहीं हो जाता अपितु सिन्धुसमापन्नसरिता की भाँति उससे अभिन्न अर्थात् अविभक्ताभिन्न अंश रूप से ही रहता है। निम्बार्क और भास्कर[३] आदि वेदान्ती मुक्ति को एक वास्तविक प्राप्ति मानते हैं किन्तु विज्ञानभिक्षु शङ्कर की भाँति मुक्ति को प्राप्य नहीं मानते। शङ्कर की भाँति वे भी सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति स्वीकार करते हैं।

१. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ६४
२. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ४८—५०
३. द्रष्टव्य, भास्कर-भा० पृ० १. ४. २१

निम्बार्क केवल सद्योमुक्ति मानते हैं।[१] श्रीकण्ठ के अतिरिक्त कोई भी भक्त-वेदान्तिसम्प्रदाय क्रममुक्ति नहीं मानता। इस प्रकार से वेदान्तियों में विज्ञानभिक्षु, शंकर और श्रीकण्ठ ही दो प्रकार की मुक्ति मानते हैं। शंकर भी सगुणोपासना के द्वारा ब्रह्मलोक-प्राप्ति और उसके पश्चात् लब्धात्मज्ञानतया नित्यमुक्ति के क्रम को स्वीकार करते हैं। भक्त वेदान्तियों की दृष्टि में मुक्ति के क्रम की यह अवान्तर भूमि ही मुक्ति बन जाती है। क्योंकि इसके परे कोई निर्गुण, निर्विशेष तत्त्व उनकी दृष्टि में रहता ही नहीं।

सद्योमुक्तिलाभ में भी दो संभावनाएँ हो सकती हैं। एक तो इसी जीवन में जीवित रहते हुए मुक्ति-प्राप्ति और दूसरी, इसी जीवन में पूर्णात्मज्ञान से सकल कर्मक्षय हो जाने से शरीरपात के बाद। पहली स्थिति जीवन्मुक्ति कहलाती है। और दूसरी विदेहमुक्ति। दोनों स्थितियाँ सद्योमुक्ति या ऐहिक मुक्ति में ही संभव हैं। विज्ञानभिक्षु जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों प्रकार की सद्योमुक्ति मानते हैं। शंकर भी दोनों को मानते हैं। रामानुज, भास्कर, वल्लभ, निम्बार्क, मध्व तथा अन्य भक्त वेदान्ती जीवन्मुक्ति नहीं मानते।[२] विज्ञानभिक्षु न तो शंकर और भास्कर की भाँति जीवब्रह्मैक्य मानते हैं और न तो रामानुजादि भक्त वेदान्तियों की भाँति पुरुष का मोक्षदशा में ब्रह्मविविक्त अहम्भाव ही।

---

१. द्रष्टव्य, वे० पा० सौ० ३. १.१७, ४.३.१४

२. द्रष्टव्य, ३।३।३३ सभी वैष्णवभाष्य।

# मुक्ति की साधना

भास्कर के अतिरिक्त शङ्करादि सभी वेदान्तियों की भाँति विज्ञानभिक्षु भी तत्त्वज्ञान की साधना से मुक्ति लाभ बताते हैं। इस मान्यता में वे शङ्कर के अधिक निकट हैं। निर्गुणतत्त्वज्ञान से ही वे शुद्ध मुक्ति मानते हैं, सगुणोपासना से सद्यो-मुक्ति नहीं होती अपितु मुक्ति-लाभ का क्रम प्राप्त होता है। इस क्रमिक उत्कर्ष में भी जब तक निर्गुण चरमतत्त्व का ज्ञान नहीं होता मुक्तिलाभ असम्भव[1] है। भक्त वेदान्तियों से यह उनका मौलिक अन्तर है। शङ्कर से इस विषय में उनका अन्तर यह है कि शङ्कर जीवब्रह्मैक्य ज्ञान को ही तत्त्वज्ञान कहते हैं और उसके द्वारा मुक्ति मानते हैं। जबकि विज्ञानभिक्षु के मत में जीव और ब्रह्म अभिन्न अवश्य हैं, किन्तु एक ही नहीं हैं। अतः मोक्ष के लिए ऐक्यज्ञान नहीं, प्रत्युत पुरुष-तत्त्वज्ञान आवश्यक है। पुरुषतत्त्वज्ञान मोक्षप्रदता में उतना ही समर्थ हैं जितना ब्रह्मविषयक तत्त्वज्ञान। इस प्रकार से ब्रह्म-निरपेक्ष केवल जीव के तात्त्विक ज्ञान को भी मुक्तिलाभ का हेतु, मानने वाले वे अकेले वेदान्ती हैं। इस प्रकार से तत्त्वज्ञान के ये दोनों रूप अलग-अलग मुक्ति के सफल साधन हैं।[2]

## ज्ञान और कर्म की साधनरूपता

भास्कर के ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का इन्होंने भी शाङ्कर-वेदान्तियों की भाँति खण्डन किया है। तत्त्वज्ञान न तो कर्मशेष और न कर्मसापेक्ष होकर मुक्तिलाभ में साधन बनता है। तत्त्वज्ञान स्वतंत्र रूप से मुक्ति का एकमात्र साधन है।[3]

कर्म की महत्ता मुक्ति साधना में उन्होंने अवश्य स्वीकार की है। साधकों का योगारुरुक्षु, युञ्जान और योगारूढ नाम से तीन भेद करके ज्ञान और कर्म के आंशिक समन्वय को इस प्रकार से स्वीकार किया है कि योगारुरुक्षु अवस्था में तत्त्वज्ञान कर्म-शेष रहता है, युञ्जानावस्था में ज्ञानकर्म का समुच्चय रहता है और योगारूढावस्था में तत्त्वज्ञान स्वतन्त्र रूप से मुक्ति प्राप्त का हेतु बनता है।[4] स्पष्ट है कि कर्म उपासना की ही भाँति तत्त्वज्ञान के पूर्णोदय के पहले आवश्यक है, पूर्णतत्त्वज्ञान उदित हो जाने पर उपासना और कर्म की मुक्ति-साधन रूप से

१. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ४९७, ४९८, ५१४
२. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ५१०, ५११
३. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ५४३
४. द्रष्टव्य, वि० भा० पृ० ५२८, ५२९

कोई आवश्यकता नहीं स्वीकार की गई है। सभी भक्त वेदान्तियों से स्फुट वैमत्य रखते हुए सगुणोपासना को वे मुक्तिलाभ का हेतु नहीं मानते।[1] उससे क्रमिक मुक्ति का द्वार अवश्य खुल जाता है किन्तु यह निश्चित नहीं रहता कि मोक्ष अवश्य ही होगा।[2] शांकर मत में सगुणोपासना के फलस्वरूप प्राप्त ब्रह्मलोकादि से इस संसार में पुनरावृत्ति नहीं मानी जाती। किन्तु विज्ञानभिक्षु के मत में वे साधक ब्रह्मलोकादि में भोग समाप्त करके फिर स्थूल शरीर धारण कर सकते हैं। इस प्रकार सगुण विद्या का निर्गुण तत्त्वज्ञान के साथ विकल्प नहीं हो सकता।[3] निर्गुण विद्या मुक्तिलाभ के लिए एकमात्र मुख्य मार्ग है।

---

१. विद्या तत्त्वज्ञानमेव मोक्षस्य हेतुः न तु भ्रमरूपासगुणोपासना कुतः निर्धारणात् 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति इति' निर्धारणात् अत्र ह्येवकारेण मोक्षहेतुज्ञानकर्मणि अनात्मसंभेदो निषिध्यते इति सगुणोपासनायां चोपाधितद्धर्मसंभेदोंऽस्तीत्यर्थः।—वि० भा० पृ० ५१४

२. ब्रह्मलोकसाधनभूतानां सर्वासां विद्यानामयं नियमों नास्ति आत्यन्तिकमोक्षमवश्यं ददातित्वेवंरूपः।—वि० भा० पृ० ४९८

३. तथा च सगुणविद्यायाःब्रह्मलोकप्राप्तिपूर्वकमोक्षत्वेन कार्यतानिर्गुणविद्यायास्तुमोक्षत्वेनैव कार्यतेतिकार्यतावच्छेदकभेदान्न विकल्प इत्यर्थः।
—वि० भा० पृ० ५१७

# सांख्य-समीक्षा

## प्रमाण

विज्ञानभिक्षु ने प्रमाण का स्वरूप निश्चित करने की चेष्टा की है क्योंकि तभी प्रमेयों का शुद्ध स्वरूप जाना जा सकता है। इस विषय में जयमङ्गलाकार, माठरवृत्तिकार और गौडपाद[1] इत्यादि ने कोई वैशिष्ट्य प्रदर्शित करने की चेष्टा नहीं की है। वाचस्पति मिश्र ने अवश्य इस दिशा में प्रयास किया है और यह सिद्धान्तित किया है कि बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्बित पुरुष को ही जो बोध होता है वही प्रमा[2] है। यही पौरुषेयबोध कहलाता है। अनिरुद्ध की दृष्टि में पुरुष न कर्त्ता है और न भोक्ता[3]। इसलिए उनके मत में बुद्धिगत ज्ञान ही प्रमा है। पुरुष को महत्तत्त्वों में प्रतिबिम्बित होने के कारण ही भोग का वृथाभिमान होता है। इस प्रकार से पौरुषेय बोध माना जा सकता है। विज्ञानभिक्षु ने इन दोनों मतों का खण्डन किया है।[4]

इन्होंने बुद्धिगत चैतन्य के प्रतिबिम्ब में स्थित ज्ञान को प्रमा नहीं माना है। उनका कहना है कि बुद्धि अपने अर्थाकाराकारित रूप से पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है। पुरुष में प्रतिबिम्बित होनेवाला ज्ञान ही प्रमा है। यही पौरुषेय बोध है। यही सच्चा सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार सकलज्ञान-प्रक्रिया में दुहरे-प्रतिबिम्बवाद को मानना पड़ता है[5]। पहले चितिच्छायापत्ति रूप पुरुष-

---

१. ये गौडपाद सांख्यकारिका के भाष्यकार हैं, और माण्डूक्यकारिकाकार गौडपाद से सर्वथा भिन्न हैं।

२. अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमाबोधः।—सां० त० कौ० पृ० ३१

३. न पुरुषः कर्ता न भोक्ता, किन्तु महत्तत्त्वप्रतिबिम्बितत्वात्कर्तृत्वाभिमानः—तत्सिद्धेः कर्तुः फलोपभोगाभिमानसिद्धेरिति।—अ० वृ० सांख्यसूत्र १।१०६ पर

४. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ५२, ५३

५. स चायमन्योन्यप्रतिबिम्बो योगभाष्ये व्यासदेवैः सिद्धान्तितः।—योगवार्तिके—चैतद्विस्तरतोऽस्माभिः प्रतिपादितम्।—सा० प्र० भा० पृ० ५२

प्रतिबिम्बप्रभाव से अचेतन बुद्धि चेतनवद् होती है और अर्थाकारों में परिणत होती है उसके पश्चात् अपने अर्थाकाराकारित रूप की प्रकृति का प्रतिबिम्ब पुरुष में पड़ता है। वही प्रतिबिम्ब या प्रतिध्वनिरूप ज्ञान ही प्रमा है।[१] यह आचार्य विज्ञानभिक्षु का सांख्यप्रक्रिया में एक विशिष्ट योगदान है।[२]

इतना निश्चित हो जाने पर यह स्पष्ट है कि बुद्धिवृत्ति ही प्रमाण बनती है। इसीलिए 'प्रत्यक्ष' 'अनुमान' और 'आप्तश्रुति'[३] नामक बुद्धिवृत्तियों को उन्होंने अन्य सांख्य-शास्त्रियो की भाँति प्रमाण कहा है सांख्यशास्त्र में केवल तीन ही प्रमाण क्यों माने गए हैं? उपमान, ऐतिह्य और अर्थापत्ति आदि को प्रमाणरूप में क्यों नहीं स्वीकृत किया गया है? गौडपाद, वाचस्पतिमिश्र और जयमङ्गलाकार शंकराचार्य इस का कारण यह बताते हैं कि अन्य सब प्रमाण इन्हीं तीन प्रमाणों में अन्तर्भावित हो जाते हैं। अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु के अनुसार तीन ही प्रमाण सांख्य में स्वीकृत किए जाने का कारण यह है कि केवल इन्हीं तीन प्रमाणों से सभी प्रमेयों की सिद्धि हो जाती है इसलिए अन्य प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी।

वाचस्पति, गौडपाद, जयमङ्गलाकार, माठर और अनिरुद्ध के ही समान विज्ञानभिक्षु ने सामान्यतोदृष्ट अनुमान से प्रकृति और पुरुष रूपी अतीन्द्रिय प्रमेयों की सिद्धि मानी है। योग्य-शब्दजन्यज्ञान ही 'शब्द' नाम का प्रमाण है। परिभाषा में वाचस्पति मिश्र से उनका पूर्ण मतैक्य है। सामान्यतोदृष्टानुमान की परिभाषा में भी उन्होंने वाचस्पति मिश्र का सुन्दर अनुसरण किया है। जयमङ्गलाकार की भाँति अनुमान का लक्षण उन्होंने नहीं किया है बल्कि अनिरुद्ध की भाँति व्याप्तिज्ञान से (व्याप्यज्ञान से—अनिरुद्ध) व्यापक के ज्ञान को ही अनुमान

---

१. अतोऽर्थोपरक्तवृत्तिप्रतिबिम्बावच्छिन्नं स्वरूपचैतन्यमेव भानं पुरुषस्य भोगः प्रमाणस्य च फलमिति।—सा० प्र० भा० पृ० ५५

2. Thus while Vachaspati Mishra simply intelligises Buddhi, Vigñanabhikshu also pheno menalizes the transcendental self in order to explain the experiences of the life in Samsar."—The Evolution of the Sankhya School of Thought, By Dr. Anima Sena Gupta p. 31,

३. आप्तश्रुति = आप्त के शब्द अर्थात् शब्दप्रमाण। सांख्य-सूत्रों ने शब्द-प्रमाण का यही नाम स्वीकार किया है। 'आप्तोपदेशः शब्दः।'
—सां० सूत्र १।१०१

माना है।[1] अनिरुद्ध की ही भाँति वेद को विज्ञानभिक्षु भी अपौरुषेय और श्रेष्ठ शब्दप्रमाण मानते हैं। स्मृतियों, पुराणों और योग्यवचनवाले उपदेष्टाओं को भी वे आप्तप्रमाण या शब्दप्रमाण मानते हैं।

## पुरुष-विचार

अनिरुद्ध[2] के ही समान विज्ञानभिक्षु भी आत्मा या पुरुष के अस्तित्व के विषय में सभी दार्शनिकों के एकमत्य के कारण उसके अस्तित्व को सिद्ध करनेवाले प्रमाणों की अधिक आवश्यकता नहीं समझते।[3] तथापि सांख्यसूत्रकाराभिमत तर्कों का युक्तियुक्त सङ्कलन उन्होंने अपने भाष्य में किया है। पुरुषास्तित्वप्रमाण में उन्होंने भर्तृहरिसम्मत स्वानुभूति[4] का भी संनिवेश किया है। पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट की पद्धति[5] की ही भाँति उन्होंने इस अनुभूति प्रमाण को 'जानेऽहमिति-धीबलात्'[6] इस रूप मे प्रस्तुत किया है। अथवा "जानामीत्येवं प्रतीयमानतया पुरुषः सामान्यतः सिद्धःएवास्ति,"[7] इस प्रकार की युक्ति का प्रदर्शन किया है।

पुरुष की असङ्गता, नित्यता, शुद्धता, कूटस्थता, मुक्तरूपता, साक्षित्व, द्रष्टत्व, अकर्तृत्व, चेतनरूपता, अनादित्व और निर्गुणता में उनका सभी सांख्य-शास्त्रियों से ऐकमत्य है। पुरुष में भोक्तृत्व को वे स्वीकार करते हैं—जब तक कि मुक्तिलाभ की दशा नहीं रहती अर्थात् जब तक पुरुष जीव रूप से रहता है तब तक। उन्होंने इस मान्यता में वाचस्पति मिश्र का ही अनुसरण किया है।[8] भले

---

१. प्रतिबन्धो व्याप्तिः। व्याप्तिदर्शनादि व्यापकज्ञानं वृत्तिरूपमनुमानं प्रमाणम् इत्यर्थः। अनुमितिस्तु पौरुषेयो बोधः।—सां० प्र० भा० पृ० ५३

जयमङ्गलाकार का अनुमान का लक्षण यह है—'कदाचिल्लिङ्गपूर्वकम् कदाचिल्लिङ्गिपूर्वकं लोके दृश्यते।, ज० म० पृ० ८

२. सामान्येनात्मनि अविप्रतिपत्तेः विशेषनिरूपणाय आह।—सा० सू० ६।१ पर अ० वृ०

३. चेतनापलापे जगदान्ध्यप्रसङ्गतो भोक्तरि अहम्पदार्थे सामान्यतोवौद्धानाम्यविवादः—सा० प्र० भा० पृ० ६६

४. स्वानुभूत्येकमानाय नमश्चिन्मात्ररूपिणे। नी० श० १

५. 'Cogito, Ergo, Sum.'—Descartes.

६. द्रष्टव्य, सां० सा० उत्तरभाग, प्रथम परिच्छेद।

७. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० ६।१

८. द्रष्टव्य, सां० त० कौ० पृ० ११८

ही भोग का स्वरूप दोनों आचार्यों के मत में यत्किञ्चित् भिन्न हो ।[१] वाचस्पति मिश्र के मत में बुद्धिस्थ पुरुष-प्रतिबिम्ब में सारा भोग होता है । किन्तु विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि इस प्रकार का भोग प्रतिबिम्बगत होने से तुच्छ होगा; उनके मत में पुरुषस्थबुद्धिप्रतिबिम्ब ही भोग है । भोग चाहे प्रतिबिम्ब रूप ही क्यों न हो परन्तु पुरुष का भोक्तृत्व तो निश्चित रहता है । अनिरुद्ध ने पुरुष में भोक्तृत्व नहीं माना, कदाचित् वे भोग को क्रिया समझ बैठे थे, अनेक साधारण कुतार्किकों की भाँति । इस प्रकार से तो पुरुष का साक्षित्व, द्रष्टृत्व सब अनुपपन्न हो जायगा जिसके विषय में कारिकाएँ और सूत्र[२] दोनों एक ही स्थिति की घोषणा करते हैं । इसीलिए विज्ञानभिक्षु ने इस मतवाद के खोखलेपन को समझकर इसका तिरस्कार किया है । भोग और कैवल्य यही तो पुरुषार्थ हैं । इनका अपलाप सांख्य कहीं नहीं करता। शून्यवादियों की बात और है ।

माठर की मान्यता में पुरुष को आनन्दरूप बताया गया है ।[३] यह मान्यता आचार्य विज्ञानभिक्षु को वैसे ही असह्य और अग्राह्य है जैसे अन्य सांख्याचार्यों को । 'सांख्यसार' में उन्होंने इस प्रकार के मत का ज़ोरदार खण्डन किया है । सांख्य-सम्मत पुरुष-बहुत्व को स्वीकार करते हुये भी वे सामान्य रूप से अर्थात् जातिरूप से पुरुष का एकत्व मानते हैं ।[४] उनका पुरुषैक्य माठर और गौडपाद की भाँति नहीं है । क्योंकि वे अखण्डात्मवादी नहीं हैं ।[५] इस सजातीय एकत्व के कारण उनका सिद्धान्त वाचस्पति मिश्र, अनिरुद्ध[६] और जयमङ्गलाकार तथा परमार्थ से भिन्न है । ये लोग सांख्य में पुरुष की किसी प्रकार की एकता को स्वीकार नहीं करते । पुरुष भोग-दशा में ही जीव है, कैवल्य दशा में केवल पुरुष है, जीव नहीं । इस मत में यद्यपि सभी सांख्यशास्त्रियों का ऐकमत्य है किन्तु इसका स्पष्ट प्रकाशन विज्ञानभिक्षु ने ही किया है ।[७] ईश्वर को विज्ञानभिक्षु में सांख्य

१. द्रष्टव्य, सां० का० सं० १९ इत्यादि
२. द्रष्टव्य, सां० सू० १।१४८, १६१, १६२, १६३ इत्यादि
३. द्रष्टव्य, माठरवृत्ति कारिका ३९
४. द्रष्टव्य, सा० प्र० भा० पृ० ७५
५. जातिः सामान्यमेकरूपत्वं, तत्रैवाद्वैतश्रुतीनां तात्पर्यात्, न तु अखण्डत्वे-जाति-परत्वात्-विजातीयनिषेधपरत्वात् । सां० प्र० भा० पृ० ७४
६. माभूत् सजातीयाद्वैतम्—सजातीयविजातीयाद्वैतं भविष्यतीत्यत्राह नोभाभ्यांतेनैव अबाधितप्रत्ययेनैव भेददर्शनम् ।—अनिरुद्ध की सां०सू० वृ० पृ० १८०
७. द्रष्टव्य, सां० सा० पृ० ३३ और सां० प्र० भा० पृ० १६५

अस्वीकृत नहीं मानते बल्कि इसे सांख्यशास्त्रियों का प्रौढिवाद मात्र मानते हैं।[1] सांख्य को अन्य व्याख्याताओं की भाँति निरीश्वर समझते हुए भी,[2] सेश्वरता का खण्डन या सेश्वरता की संभावना का निराकरण सांख्य में किया गया हो, ऐसा वे नहीं मानते।[3]

## प्रकृति और गुण विचार

यद्यपि सांख्यकारिकाकार ने प्रकृति की कोई परिभाषा नहीं दी है, उसे केवल मूल प्रकृति, अविकृति और त्रिगुण कहा है। उसे अव्यक्त और प्रधान की संज्ञाओं से भी अभिहित किया गया है। फिर भी कदाचित् कापिलसूत्र १।६२ के आधार पर अथवा किसी भी अप्रकट कारण से गौडपाद[4] और वाचस्पति मिश्र[5] ने सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा है। जयमङ्गलाकार ने भी प्रकृति का अपर पर्याय गुणसाम्य माना है। किन्तु परमार्थ ने प्रकृति को त्रिगुण रूप न कहकर त्रिगुणयुक्त बताया है।[6] शारीरक-भाष्य में शङ्कर भी प्रकृति की इसी परिभाषा को सांख्य-सम्मत मान कर सांख्य के खण्डन-मण्डन में प्रवृत्त हुए हैं।[7] अनिरुद्ध अपनी वृत्ति में प्रकृति की इस परिभाषा को ज्यों का त्यों स्वीकार करते हुए यह सुझाव भी देते हैं कि तीनों में से प्रत्येक गुण को भी प्रकृति कहने की शास्त्रीय परम्परा है।[8]

१. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ४
२. अतः सावकाशतया सांख्यमेवेश्वरप्रतिषेधांशे दुर्बलमिति।—सा० प्र० भा० पृ० ४
३. अस्मिन्नेव शास्त्रे व्यावहारिकस्यैवेश्वरप्रतिषेधस्यैश्वर्यवैराग्यार्थमनुवादत्वौचित्यात् सेश्वरवादस्य न क्वापि निन्दादिकमस्ति।—सां० प्र० भा० पृ० ३
४. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।—गौडपाद-भाष्य पृ० १९, २५
५. प्रकरोति इति प्रकृतिः प्रधानं सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था।—सां० त० कौ० पृ० २३
६. प्रधानं त्रिगुण-युक्तत्वाद्। सु० स० पृ० २२, प्रकृतिरेव त्रिगुणयुक्ता सु० स० पृ० ८९
७. शां० भा० २।१।२९ उद्योतकर ने भी न्या० स० ४।१।२१ के वार्तिक में यही किया है। सुश्रुत ने भी अपनी संहिता में प्रकृति की सांख्य-सम्मत यही परिभाषा मानी है।
८. यद्यपि त्रयाणां साम्यावस्था प्रकृतिस्थाप्येकैकस्मिन्नपि प्रकृतिशब्दप्रयोगः सांकेतिकः। अनि० वृ० पृ० ४३

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने इस परिभाषा को संशोधित और परिमार्जित करने की चेष्टा की है। उनकी दृष्टि में सूत्रस्थ यह परिभाषा उपलक्षणमात्र है पूर्ण लक्षण नहीं। अर्थात् साम्यावस्था से उपलक्षित गुणत्रय ही प्रकृति है। यदि साम्यावस्था को ही प्रकृति मानें तो गुणत्रय की–वैषम्यावस्था में प्रकृति का नाश या अभाव हो जायगा। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि प्रकृति गुणों की एक अवस्था-मात्र नहीं है, बल्कि वह स्वयं गुणत्रय ही है।[1] अन्यथा गुणत्रय और प्रकृति भिन्न-भिन्न पदार्थ हो जायेंगे। अवस्था तो क्षणभंगुर स्थिति है।[2] इस प्रकार गुणत्रय और प्रकृति अलग-अलग नहीं है। इसलिए उन्होंने प्रकृति को अवस्था की अवस्था से ऊपर उठाकर शाश्वत, स्थायी गुणत्रय के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

यहीं पर उन्होंने गुणों का स्वरूप भी स्पष्ट रूप से निर्धारित किया है कि ये गुण वैशेषिक गुणों की हैसियत के न समझने चाहिये क्योंकि ये तो स्वयं गुणी हैं, गुणवान् हैं अर्थात् द्रव्य हैं।[3] द्रव्य होने पर भी गुण कहे जाने के सम्भावित कारणों का भी उन्होंने बड़ी युक्तिमत्ता से निर्देश किया है।[4] साम्यावस्था का उन्होंने पूर्ण विवेचन किया है और प्रकृति की एकमात्र सर्वाङ्गपूर्ण परिभाषा उन्होंने यह स्थापित की है—अकार्यावस्थोपलक्षितं गुणसामान्यं प्रकृतिरित्यर्थः।[5]

गुणों की सुख-दुःख-मोहात्मकता और पारस्परिक साधर्म्य और वैधर्म्य उन्होंने सभी आचार्यों की भाँति ही स्वीकार किया है। उनकी विभुता भी उन्हें ग्राह्य है। उनकी संख्या के विषय में आचार्य विज्ञानभिक्षु का कहना है कि सत्त्वादि गुण केवल तीन नहीं हैं, अपितु असंख्य हैं। उनका त्रित्व त्रिप्रकारत्व का बोधक है, त्रिव्यक्तित्व का बोधक नहीं। सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों प्रकार के गुण अर्थात् कारणद्रव्य अलग अलग अनेक व्यक्तिवाले हैं अर्थात् अनेक सत्त्वगुण, अनेक रजोगुण और अनेक तमोगुण हैं।[6] वैशेषिक परमाणुओं से इन असंख्य गुणत्रय में उन्होंने अन्तर भी स्पष्ट कर दिया है कि इन सत्त्वादिकों में शब्दस्पर्शादि गुण

---

१. सत्त्वादीनामतद्धर्मत्त्वं तद्रूपत्वात्। सां० सू० ६।३९

२. वैषम्यावस्थायामपि प्रकृतित्वसिद्धय उपलक्षितमित्युक्तम्।—सा० सा० पृ० ११

३. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ३२; ३३, ६३, ६५

४. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ३३।

५. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ३३।

६. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ६४

नहीं रहते जब कि परमाणु में शब्दादि का अस्तित्व 'विशेष' के माध्यम से सदा माना जाता है।[1]

## परिणाम-सिद्धान्त और पुरुष का बन्ध

सृष्टि अनादि है फिर भी कल्पभेद से सृष्टि और प्रलय की उपस्थिति क्रमशः होती रहती है। अतः इस सृष्ट्यादि के क्रम का सविस्तार वर्णन उन्होंने दिया है। सृष्ट्यादि का हेतु प्रकृति-पुरुष-संयोग है ऐसा वाचस्पति मिश्र, परमार्थ, गौडपाद और अनिरुद्ध आदि सभी सांख्यशास्त्री मानते हैं। किन्तु विज्ञानभिक्षु का विचार सूत्रों के आधार पर यह है कि यह प्रकृति-पुरुष-संयोग सर्ग का मूल हेतु नहीं है। उनकी दृष्टि में इस संयोग का हेतु अविद्या है जो कि विषयतासम्बन्ध से पुरुषगत मानी गयी है।[2] यह अभावात्मक नहीं है,[3] तुच्छ भी नहीं है।[4] इससे संयोग होता है और संयोग से सृष्टि होती है। यह तो रही व्यष्टि-सृष्टि की बात। समष्टि-सृष्टि के लिये विज्ञानभिक्षु ने यद्यपि अविवेक को स्फुट रीति से प्रकृति-पुरुष-संयोग का निमित्त नहीं कहा तथापि ईश्वर या परमेश्वर की इच्छा का भी ग्रहण उन्होंने सांख्य-प्रक्रिया में नहीं किया। अतः समष्टिसृष्टि के लिए चित्सामान्य का प्रकृति से संयोग ही हेतु रूप से स्वीकृत समझना चाहिये। दोनों दशाओं में सृष्टि का प्रयोजन प्रकृति के द्वारा साधित पुरुष का भोगापवर्ग ही समझना चाहिये।

प्रथम सृष्ट पदार्थ महत्तत्त्व है जो व्यष्टि रूप से बुद्धि और समष्टि रूप से जगद्वीजभूत हिरण्यगर्भ अथवा विष्णु है। वेदान्तादि शास्त्रों में जो आकाशादि की उत्पत्ति सबसे पहले बताई गई है उसके आधार पर सांख्यसृष्टि-प्रक्रिया को श्रुतिसम्मत न समझनेवालों को विज्ञानभिक्षु का सबल उतर यह है[5] कि आकाशादि आदिभूत सृष्टि की विरोधिनी श्रुतियाँ भी हैं "स प्राणमसृजत् प्राणाच्छ्रद्धां एवं वायुमित्यादि"[6] और प्राण चूंकि अन्तःकरण का वृतिभेद ही है, इस-

---

१. कारणद्रव्यस्य शब्दस्पर्शराहित्यमेव। सां० प्र० भा० पृ० ६४

२. तदेवं संयोगाख्यजन्मद्वारा बन्धाख्यहेयस्य मूलकारणमविवेक इति हेयहेतुः प्रतिपादितः।—सां० प्र० भा० २८

३. अतएव चाविद्यानाभावोऽपि तु विद्याविरोधिज्ञानान्तरम्।—सां० प्र० भा० पृ० २८

४. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० १७

५. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ८२

६. द्रष्टव्य, प्रश्नो० ६.३४

लिये इस श्रुति में प्राणशब्द से महत्तत्त्व का ही अर्थ लेना चाहिये।[१] वेदान्तसूत्र ने भी महदादि क्रम से ही सृष्टि प्रक्रिया स्वीकृत की है। वेदान्त-सूत्र है 'अन्तरा-विज्ञानमानसी क्रमेणतल्लिङ्गात्।'[२] इसलिये सत् और आकाश के बीच में बुद्धि और मन की उत्पति ही समझनी चाहिये। मन में अहङ्कार भी अन्तर्भूत है।[३] इस प्रकार विज्ञानभिक्षु एकमात्र सांख्य-व्याख्याता हैं जिन्होंने सांख्य की सृष्टि प्रक्रिया को श्रुतिसम्मत सिद्ध किया है। सभी सांख्यशास्त्रियों से भिन्न उन्होंने सूत्र और कारिका[४] से यह अर्थ निकाला है कि सात्त्विक अहङ्कार से मन, राजस अहङ्कार से दशेन्द्रियाँ और तामस अहङ्कार से तन्मात्राओं की उत्पति होती हैं जबकि अन्य लोग दो प्रकार के सात्त्विक और राजस अहङ्कार से ही इनकी उत्पति मानते हैं।[५] प्राणों के स्वरूप में भी उनका सबसे स्पष्ट मतभेद है। वाचस्पति और अनिरुद्ध आदि ने प्राणों को वायुविशेष रूप माना है जबकि विज्ञानभिक्षु प्राणों को वायु न मानकर सञ्चारसाम्य के कारण वायुवत् स्वीकार करते हुये 'अन्तःकरण-परिणामविशेष' या 'अन्तःकरणवृति' मानते हैं। प्राणों को वायु मानने का उन्होंने खण्डन भी किया है।[६]

उन्होंने अनिरुद्ध के द्वारा मानी गई 'सक्रम' इन्द्रियवृत्ति का भी खण्डन किया और उसे सक्रम तथा अक्रम दोनों बताया है।[७] उन्होंने लिङ्गशरीर के स्वरूप-निर्धारण में भी नवीन सिद्धान्त स्थापित किए हैं और उन्हें ही श्रुतिस्मृतिसम्मत बताया है।[८] उनके मत में सर्गादि में लिङ्गशरीर समष्टि रूप से एक ही रहता है वह यद्यपि सावयव नहीं है फिर भी एकादश इन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ और बुद्धि मिल कर वह एकराशि लिङ्गशरीर बनता है। लिङ्गशरीर अन्यसम्मत अट्ठारह अवयव मानना ठीक नहीं है। साथ ही पाँच प्राणों के स्थान पर उन्होंने पाँच तन्मात्राओं को लिङ्ग शरीर के अन्तर्गत ग्रहण किया है जिससे स्थूल देह न रहने पर भी भोगायतनत्व-रूप शरीरलक्षण उसमें बना रहता है। स्थूल देह न रहने पर उसका आश्रय अधिष्ठान-शरीर बनता है। यह लिङ्ग शरीर महा-प्रलय पर्यन्त रहता है अथवा उस पुरुष के कैवल्य के अव्यवहितपूर्व नष्ट हो जाता है।

१. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ८२
२. द्रष्टव्य, वेदान्तसूत्र २।३।१५
३. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ८२
४. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० ८४
५. द्रष्टव्य, सां० त० कौ० पृ० २५
६. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ८८
७. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ८९
८. द्रष्टव्य, सां० प्र० भा० पृ० ९४-९७

# कैवल्य और उसकी साधना

कैवल्य या मोक्ष के विषय में विज्ञानभिक्षु ने भी सभी सांख्य और वेदान्त के आचार्यों की भाँति यही स्वीकार किया है कि तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष होता है। योगसिद्धान्त से वे बहुत अधिक प्रभावित हैं।[1] उन्होंने सिद्धान्तित किया है कि भूत और वर्तमान दुःख तो भोग से दूर हो ही जाते हैं, अतः अनागतदुःख और उसकी सारी सम्भावना की निवृत्ति ही मोक्ष है।[2] इस प्रकार के दुःख की आत्यन्तिक और एकान्तिक निवृत्ति तभी सम्भव है जब चित्त का लय हो जाय। अर्थात् चित्त और पुरुष के पुनः संयोग की सम्भावना न रह जाय। अतः मुक्ति-दशा में पुरुष केवली अर्थात् उपाधिसम्पर्कशून्य रहता है। इसलिए प्रतिबिम्बरूप दुःख का भोग उसमें नहीं रह जाता। यही उसका कैवल्य या अपवर्ग है। इस दशा में पुरुष न्यायवैशेषिकसम्मतापवर्ग दशा की भाँति शिलाशकलवत् नहीं रहता, क्योंकि नैयायिकादि तो चैतन्य या ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं और मोक्षदशा में गुणसम्पर्कराहित्य अनिवार्य है। इस सांख्य-सम्मत मुक्तिदशा में पुरुष चिन्मात्ररूप से रहता है जैसा कि उसका शाश्वत स्वभाव है। औपाधिक या प्रातिबिम्बिक दुःख की भी निवृत्ति हो जाती है। आनन्दरूपता इस दशा में बिल्कुल असम्भव है। श्रुतियों में जहाँ कहीं इस प्रकार की आनन्दवत्ता कही गई है वह केवल अधम साधकों की दृष्टि में मुक्ति की प्ररोचना करने के लिए ही है।[3] आनन्दरूपता पुरुष में सर्वथा असम्भव है।[4] अनिरुद्ध ने भी अपनी वृत्ति में यही बात सूत्रानुरोध

१. हेयं दुःखमनागतम्।—यो० सू० २

२. अविवेकनिमित्तात्प्रकृतिपुरुषयोः संयोगः। तस्माच्च संयोगादुत्पद्यमानस्य प्राकृतदुःखस्य पुरुषे यः प्रतिबिम्बः स एव दुःखभोगो दुःखसम्बन्धस्तन्निवृत्तिरेव च मोक्षाख्यः पुरुषार्थ इति।—सां० प्र० भा० पृ० ११२

३. मन्दानज्ञान् प्रति—प्ररोचनार्थमित्यर्थः।—सां० प्र० भा० पृ० १३७

४. एकधर्मिण आनन्दचैतन्योभयरूपत्वं न भवति। दुःखज्ञानकालेसुखाननुभवेन सुखज्ञानयोर्भेदादित्यर्थः। न च ज्ञानविशेषःसुखमिति वक्तुं शक्यते। आत्मस्वरूपज्ञानस्याखण्डत्वात्। अत एव चैतन्यानुभवकाले सुखस्या मरणमपि वक्तुं न शक्यते। अखण्डत्वेनानन्दावरणे दुःखं जानामीत्यनुपपत्तेः। न ह्यात्मनोंशभेदोऽस्ति येनानन्दांशावरणेऽपि चैतन्यांशो भायादिति। न च श्रुतिबलेनैते सतर्का इति वाच्यम्। 'नानन्दं न निरानन्दमित्यादिश्रुत्या', अदुःखमसुखं ब्रह्मभूतभव्यभवात्मकमित्यादिस्मृत्या चानन्दाभावस्यापि प्रतिपादितत्वेन तर्कस्यैवात्रादर्तव्यत्वादिति।—सां० प्र० भा० पृ० १३७

से तर्कबल के द्वारा सिद्ध की है ।[1] किन्तु इस सांख्य-सिद्धान्त को तर्क के ही साथ श्रुति और स्मृति प्रमाणों से उपोद्‌वलित करने का श्रेय विज्ञानभिक्षु को ही है। अनिरुद्ध की ही भाँति बौद्ध और अद्वैतवेदान्तसम्मत मुक्ति रूपों का इन्होंने भी खण्डन किया है और परमात्मा में जीवात्मा के एकत्व का पूर्ण निरास किया है।

जहाँ तक मोक्ष-साधन का प्रश्न है, सब ने तत्त्वज्ञान को मोक्ष-साधन माना है। कारिकाकार ने स्पष्ट ही 'व्यक्ताव्यक्तज्ञ के विज्ञान' को मोक्ष-साधन बताया है। इसकी प्राप्ति श्रवणमनन और निदिध्यासन से ही सम्भव है। इस निदिध्यासन का विज्ञानभिक्षु ने ध्यान अर्थ लिया है[2]। और इसके पश्चात् उनकी दृष्टि से सम्प्रज्ञात में ही पूर्णतत्त्वज्ञान अर्थात् व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ का ज्ञान होता है। यही विवेकख्याति होती है।[3] जिसे वाचस्पति मिश्र ने सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्यय कह कर स्पष्ट किया है। इस स्थिति में भी सत्त्वसंभेद पुरुष में रहता है![4] यही जीवन्मुक्त दशा है। इसमें कर्माशयप्रचय की दग्धबीजभावता हो जाती है।[5] किन्तु प्रारब्धकर्म अवशिष्ट रहते हैं। जिनका विपाक प्रारम्भ हो चुकता है। उनका भोग हो जाने[6] पर विदेह-मुक्ति होती है। विज्ञानभिक्षु ने जन्म नामक संयोग[7] को बन्ध कह कर प्रकृतिपुरुषसंयोग के अस्पष्ट धरातल से ऊपर उठाया है, और इस प्रकार से जन्मपरम्परागत प्रारब्ध कर्मभोग की अनिवार्यता रहने पर भी जीवन्मुक्तिदशा की संभावना स्पष्ट की है।[8] इस दशा में पुरुष का क्लेशान्वित

---

१. एवञ्च मुक्तौ आनन्दानुभवः भ्रान्तइति ।—सां० सू० वृ० ५।६६

२. मन्दविवेकस्तु साक्षात्कारात् पूर्वं श्रवणमननध्यानमात्ररूपः इति विभागः।
—सां० प्र० भा० पृ० ११३

३. उक्तप्रकारतत्त्वविषयज्ञानाभ्यासादादरनैरन्तर्यदीर्घकालसेवितत्वात् सत्त्व-पुरुषान्यतासाक्षात्कारि ज्ञानमुत्पद्यते ।—सां० कौ० पृ० २११

४. सात्त्विक्या तु बुद्धया तदाप्यस्य मनाक् सम्भेदोऽस्त्येव, अन्यथैवम्भूत-प्रकृतिदर्शनानुपपत्तेरिति ।—सां० त० कौ० पृ० २१४

५. क्लेशसलिलावसक्तायां हि बुद्धिभूमौ कर्मबीजान्यङ्कुरप्रसवते। तत्त्वज्ञान-निदाघनिपीतसकलक्लेशसलिलायामूषरायां कुतःकर्मबीजानामङ्कुरप्रसवः।
—सां० त० कौ० पृ० २१८

६. अनारब्धविवेकानां तावत् कर्माशयानांतत्त्वज्ञानाग्निना बीजभावो दग्धः। प्रारब्धविवेकानां तूपभोगेन क्षये सति।'—सां० त० कौ० पृ० २१९

७. जन्माख्यश्चसंयोगःप्रारब्धसमाप्ति विना न नश्यति।—सां० प्र० भा० पृ० १८

८. जीवन्मुक्तोऽपि मध्यविवेकावस्थ एव भवति इत्यर्थः।—सां० प्र० भा० पृ० ११३

भोग भले न हो किन्तु भोगाभास तो बना ही रहता है।[1] सद्यः-मोक्ष के अधिकारी तो असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध करनेवाले ही होते हैं।[2] उन्हें न भोग होता है और न भोगाभास वरन् सद्योऽपवर्ग लाभ होता है। यह मोक्ष भी कोई भावात्मक प्राप्ति नहीं है। अपितु औपाधिक या व्यपदिष्ट भोग की निवृत्ति मात्र है। अतः यह नित्यस्थायी स्थिति होती है।

---

१. जीवन्मुक्तानां तु भोगाभास एवेति प्रागुक्तम्।—सां० प्र० भा० पृ० ११४

२. विवेकनिष्पत्तिश्चापुनरुत्थानाद् असम्प्रज्ञातादेव भवतीत्यतस्तस्यां सत्यां न भोगोऽस्तीति।—सां० प्र० भा० ११३

# योग का स्वरूप

विज्ञानभिक्षु ने सांख्य और वेदान्त शास्त्र में स्वीकृत किए ज्ञान के साधनभूत योग से ही सन्तोष नहीं किया।[1] ज्ञान का साधन-भूत योग मोक्ष का साक्षात् साधन नहीं माना जा सकता। विज्ञानभिक्षु ने योगसूत्रभाष्य के आधार पर योग को मोक्ष का साक्षात् साधन भी स्वीकार[2] किया है। इस प्रकार से मोक्षलाभके लिए केवल ज्ञानमार्ग ही नहीं अपितु योगमार्ग भी एक श्रेयस्कर साधन निश्चित होता है। किन्तु आचार्य विज्ञानभिक्षु का व्यक्तिगत झुकाव योगमार्ग की ही ओर अधिक है। इसके लिए उन्होंने स्मृति के प्रमाण भी उपस्थित किए हैं।[3] और यह भी निर्देश किया है कि ज्ञानमार्ग तुरन्त मोक्ष देने में असमर्थ है उसमें विवेक-ख्याति अथवा तत्त्वसाक्षात्कार होने पर भी कम से कम प्रारब्धकर्म का भोग करना ही पड़ता है। और तब कहीं परममुक्ति हो सकती है। योगमार्ग का वैशिष्ट्य यह है कि असम्प्रज्ञातसमाधि सिद्ध होते ही प्रारब्ध कर्मों का भी तुरन्त क्षय हो जाता है[4] अतः तुरन्त मोक्षलाभ सम्भव हो जाता है। यही योग का बल है जिसे स्मृतियों ने प्रतिपादित किया है।

इस प्रकार से योग का महत्त्व ज्ञानमार्ग के कारण कम नहीं होता अर्थात् ज्ञानमार्ग के द्वारा योगमार्ग अनावश्यक, निष्प्रयोजन या अन्यथासिद्ध नहीं माना जा सकता बल्कि एक अच्छे साधन के रूप में मुमुक्षुओं को ग्राह्य होता है। योग की जो परिभाषा सूत्र रूप में प्राप्त है उसे भाषा में अधिक चुस्त ढंग से विज्ञानभिक्षु ने व्यक्त किया है और निरोध का रूप भी पहले-पहल स्पष्ट किया है।

---

१. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० ३

२. 'मुक्तिर्योगात्—इत्यादिस्मृतिषु च योगोमोक्षहेतुतया विहितः।
—यो० वा० पृ० ५

३. तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।—श्रीमद्भगवद्गीता पृ० ११

४. तत्र चासम्प्रज्ञातयोगेनाखिलसंस्कारदाहकेन प्रारब्धकर्माप्यतिक्रम्यत इति ज्ञानाद्विशेषः। ज्ञानस्य हि प्रारब्धनाशकत्वे बाधिकाऽस्ति 'तस्य तावदेव-चिरमित्यादिश्रुतिर्जीवनमुक्तिश्रुतिस्मृतयश्च। योगस्य प्रारब्धनाशकत्वे-बाधकं नास्ति प्रत्युत, दग्धकर्मचयोऽचिराद् इति एव स्मर्यते। अतः प्रारब्धमपिकर्म कर्मविपाकोक्तप्रायश्चितादिवदेवातिक्रम्य झटितिमोचन-मेव योगस्य फलम्।—यो० वा० पृ० ११

वाचस्पति मिश्र और भोजराज दोनों की टीकाओं में योग की सामान्य रूप से और सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात की विशेष रूप से परिभाषाएँ दी गई हैं। ये परिभाषाएँ सूत्र और भाष्य के शब्दार्थमात्र की निर्वाहिका प्रतीव होती हैं। इनमें क्रमबद्धता और पारस्परिक संश्लिष्टता तथा उनके अभीष्ट मन्तव्यों की ओर संकेत सर्वत्र विज्ञानभिक्षु ने ही करने की चेष्टा की है। जैसे उन्होंने योग को सुगठित परिभाषा दी है वैसे ही सम्प्रज्ञात[1] और असम्प्रज्ञात[2] के लिए भी उन्होंने अर्थावबोधिनी एवं सुस्पष्ट परिभाषाएँ दी हैं। दोनों प्रकार के योगों का दृष्टफल तथा अदृष्टफल और उनका पारस्परिक सम्बन्ध तथा अलग-अलग महत्त्व विज्ञान-भिक्षु ने बड़े साफ-सुथरे वाक्यों में सर्वथा सुबोध और प्रभावपूर्ण शैली में प्रतिपादित किया है। किस प्रकार से क्लेशनाशक सहकारी के उच्छेद से कर्मों का क्षय होता है? कर्म क्षय का अर्थ क्यों केवल फलाक्षमीकरणमात्र लिया जाना चाहिए?[3] क्यों यही कर्मक्षय स्मृतियों में दाह नाम से बताया गया है?[4] यह सब एक रोचक, विशद तथा विस्तृत पैमाने पर योगसारसंग्रह और योग-वार्तिक में प्रतिपादित किया गया है। इन ग्रन्थों के पढ़ने से वाचस्पति मिश्र और भोजराज की टीकाओं का स्वरूप टीका और व्याख्याओं तक ही प्रतीत होता है जबकि विज्ञानभिक्षु इस कसौटी पर खरे उतरते हैं साथ ही यह भी विदित होता है कि एक योगी सारे प्रतिपादित सत्यों का मानो साक्षात् दर्शन करके हमें भी सब तथ्यों का साक्षात्कार करा रहे दे रहा है। कहीं कोई गुत्थी विना पूरे ढंग से विवेचित हुए पीछे नहीं छूटने पाती।

सम्प्रज्ञात की चारों भूमिकाएँ या चारों भेद वैकल्पिक नहीं, अपितु उच्चारोहि-क्रमिक सोपान परम्परा की भाँति है। उनमें विज्ञानभिक्षु के अनुसार एक ही आलम्बन ग्रहण करना अच्छा रहता है, नहीं तो पहले की गई साधनाओं के त्याग का दोष

---

१. ध्येयसाक्षात्काराख्यफलोपहितनिरोधत्वं सम्प्रज्ञातत्त्वम्। अथवा 'ध्येया-तिरिक्तवृत्तिनिरोधविशेषः सम्प्रज्ञातः।'—यो० सा० सं० पृ० ४

२. तत्त्वज्ञानसंस्कारदाहकत्वे सति सर्ववृत्तिनिरोधत्वम्।—यो० सा० सं० पृ० ५

३. किं च ज्ञानस्य योगस्य च कर्मनाशकत्वं सहकार्युच्छेदेन फलाक्षमीकरण-मात्रम्।—यो० सा० सं० पृ० ७

४. इदमेव च दाहः। तथाहि ज्ञानेनाविद्यादिक्लेशक्षये सति क्लेशाख्यसहकार्यु-च्छेदादेव कर्मणां विपाक आरब्धुं न शक्यते' सति मूलेतद्विपाकः, यो० सू० २.१३ इत्तसूत्रेण कर्मणाम् स्वमूले क्लेशे सत्येव विपाकारम्भवच-नाद् व्यासभाष्येण तथा व्याख्यानाच्च।—यो० सा० सं० पृ० ८

आ पड़ता है साथ ही चित्तचाञ्चल्य की भी आशङ्का बनी रहती है।[1] आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात के रूप में और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात में अस्मिता के निरूपण में उन्होंने वाचस्पति मिश्र और भोजराज दोनों के मतों[2] का खण्डन करके अपना सिद्धान्त अलग से स्थापित किया है। विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात में, चौबीस-तत्त्वानुस्यूत सुखरूपपुरुषार्थ का सुखाकार साक्षात्कार होता है। जबकि वाचस्पति मिश्र, रामानन्द सरस्वती और भोजराज इत्यादि ह्लादवान् इन्द्रियवर्ग को ही इस भूमिका में साक्षात्करणीय मानते हैं। चित्त के परिकर्मों के प्रसंग में आए हुए 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः, 'सूत्रगत एकतत्त्व' पद से वाचस्पति मिश्र, रामानन्द सरस्वती और नारायणतीर्थ 'ईश्वर' अर्थ लेते हैं। जबकि विज्ञानभिक्षु ने इसमें पुनरुक्ति की सतर्क घोषणा करके इस पद का अर्थ कोई भी 'स्थूलादिपदार्थ' आलम्बन रूप में ग्रहण किया है। भोजराज को भी यही मत अभीष्ट है।

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात की दशा में विज्ञानभिक्षु अनौपाधिक आत्माकार-साक्षात्कार मानते हैं।[3] इसी की पराकाष्ठा धर्ममेघसमाधि कहलाती है जिसके उदित होने पर परवैराग्य और तदनु असम्प्रज्ञात का क्रम बताया जाता है। वाचस्पति मिश्र[4], रामानन्द सरस्वती तथा भोज के मत में 'अहङ्कार' इस समाधि के साक्षात्कार का विषय है। विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि उसी आलम्बन में कूटस्थविभुचिन्मात्रत्वप्रकार से स्थूलसूक्ष्मानन्द के स्वरूपों से विविक्त केवल पुरुषाकारासंवित् या साक्षात्कार ही—अस्मि इत्येतावन्मात्राकार होने के कारण अस्मिता कहलाती है। यह शुद्धजीवात्म-विषयक और निरुपाधि ईश्वर-विषयक होती है।[5] विज्ञानभिक्षु ने इस सम्बन्ध में वाचस्पति मिश्र आदि के सिद्धान्त का स्पष्ट खण्डन किया है।[6] अस्मिता के इन दो साक्षात्करणीय विषयों में भूमिका-क्रम भी विज्ञानभिक्षु ने माना

१. एतच्च भूमिकाचतुष्टयमेकस्मिन्नेवालम्बने क्रमात्कर्तव्यम्, अन्यथा पूर्वपूर्वोपासनात्यागदोषापत्तेः, चित्तचाञ्चल्यप्रसङ्गाच्च।—यो० सा० सं० पृ० ९-१०
२. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० १०३
३. तत्रैवालम्बने—सोऽस्मितेत्युच्यते।—यो० वा० पृ० १२
४. अस्मितास्पदं हि ग्रहीता पुरुषः।—त० वै० पृ० १०८
५. सोपाधिकेश्वरसम्प्रज्ञातस्य च विचारानुगते प्रवेशः।—यो० वा० पृ० ५३
६. नाप्यहङ्कारोपरक्तचैतन्यमस्मिताशब्देन व्याख्येयम्, लक्षणापत्तेः। अस्मिता च चैतन्यमात्रसंविदिति भाष्यकृता प्रोक्तम्।—यो० वा० पृ० १२५; 'अस्मितात्र नाहङ्कारः किन्तु आत्मतत्त्वम्।—यो० वा० पृ० १०३

है। पहले शुद्ध जीवातम-विषयक और फिर निरुपाधि-परमात्मविषयक सम्प्रज्ञात समाधि होती है इन सभी सम्प्रज्ञातों में उन्होंने इस भूमिका-क्रम के बल से परमात्म-विषयकास्मितानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि को हो सर्वश्रेष्ठ माना है।[1]

भव-प्रत्यय असम्प्रज्ञात का स्वरूपनिर्णय करते समय आचार्य विज्ञानभिक्षु ने अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया है और वाचस्पति मिश्र तथा भोजराजाभिमत सिद्धान्त का सटीक खण्डन किया है। (१) इन लोगों के द्वारा कल्पित यह योग केवल योगाभास या समाधिमात्र ही सिद्ध होता है।[2] जब प्रकृतिलीन तथा विदेह संसार में फिर बन्धन प्राप्त करते हैं तथा सारी स्थिति अविद्यामूलक रहती है तो पता नहीं इसमें असम्प्रज्ञातयोगत्व कैसे व्यस्थित किया जा सकता है ?

(२) यदि 'भवप्रत्यय' असम्प्रज्ञातसमाधि पूर्णरूपेण अविद्याजन्य तथा संसार-क्रम को ही बढ़ानेवाली है तो उसको सूत्रकार एवं भाष्यकार ने असम्प्रज्ञात कोटि में गिनाया ही क्यों है ?

(३) सूत्रकार एवं भाष्यकार ने कहीं पर इसे योगाभास या त्याज्य समाधि के रूप में नहीं वर्णित किया है।

विज्ञानभिक्षु के इन तर्कों के बावजूद भी किसी योगशास्त्री ने इस समाधि को योगकोटि में नहीं स्वीकार किया है। उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात के स्वरूप के विषय में अवश्य कोई मुख्य मतभेद नहीं है। धर्ममेघसमाधि के स्वरूप और महत्त्व के प्रसंग में भी वाचस्पति मिश्र की टीका और योगवार्तिक तथा योगसारसंग्रह एक-मत हैं।[3] पातञ्जलरहस्यकार राघवानन्द सरस्वती की दृष्टि में अलबत्ता पर-वैराग्य और धर्ममेघसमाधि एक ही हैं[4] उनमें काष्ठाप्राप्ति अथवा अङ्गाङ्गिरूपता

---

१. अतः सर्वेषु सम्प्रज्ञातेषु मध्येपारमेश्वरयोगएव श्रेष्ठः।...नन्वस्मितायाः कथमचेतनेषु घटाद्यालम्बनेषु संभव इतिचेन्न। कारणरूपेण जीवेश्वरयोः सर्वत्रानुगमात्, मुक्तात्मनां च विभुत्वेन सर्वत्रानुगमादिति।—यो० सा० सं० पृ० १४

२. वृत्त्यभावस्य कादाचित्कस्य प्रलयमरणादितुल्यत्वेनापुरुषार्थत्वाच्च।
—यो० वा० पृ० ५९

३. धर्ममेघस्य पराकाष्ठा ज्ञानप्रसादमात्रं परं वैराग्यम्।—त० वै० पृ० ४४८
ततः सर्वथा विवेकख्यातिरिति तदास्य धर्ममेघः समाधिः।—त० वै० पृ० ४४६

४. धर्ममेघः परवैराग्यम्।—पा० र० पृ० ४४९

का स्वीकार उन्होंने नहीं किया है। परवर्ती होने के कारण विज्ञानभिक्षु के खण्डन-दण्ड से उनका बच जाना स्वाभाविक है।

'एकाग्रता-परिणाम', समाधि-परिणाम और निरोध-परिणामों के प्रसङ्ग में विज्ञानभिक्षु के मत निश्चय ही वाचस्पति मिश्र से पर्याप्त भिन्न हैं। वाचस्पति मिश्र के मत में असम्प्रज्ञात-दशा में निरोधपरिणाम और प्रारम्भिक सम्प्रज्ञातदशा में समाधि-परिणाम तथा परिनिष्ठित सम्प्रज्ञात में एकाग्रतापरिणाम होते हैं।[1] विज्ञानभिक्षु के मतानुसार असम्प्रज्ञात और सम्प्रज्ञात दोनों में निरोध की प्रधानता स्वीकृत होने से निरोध-परिणाम,[2] योगाङ्गभूत समाधि की प्रारम्भिक अवस्था में समाधिपरिणाम और सर्वार्थता के निःशेषेण क्षीण हो जाने पर परिनिष्ठितयोगाङ्गसमाधि की ही दशा में एकाग्रतापरिणाम होते हैं। इस प्रकार से अङ्गाङ्गिभूत-समाधिदशाओं[3] के चित्तपरिणाम का पूर्ण प्रतिपादन सम्भव है।[4] ध्यान देने की बात है कि वाचस्पति मिश्र के मत में 'अङ्गभूतसमाधि' गत चित के परिणाम का स्वरूप अनुक्त ही रह जाता है।[5]

दूसरा दोष इस मत में यह है कि सम्प्रज्ञातसमाधि की स्थिति में चित्त का निरोधपरिणाम न मानने से सम्प्रज्ञातसमाधि की योगरूपता में बाधा उत्पन्न होती है जबकि सूत्रकार को 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' यो० सू० १.२ के अनुसार निरोधरूप ही योग अभीष्ट है।

सम्प्रज्ञातसमाधि में चित्त जितने प्रकार के रूप धारण करता है वही तद्रूपता ही योगशास्त्र की पदावली में समापत्ति कहलाती है।[6] और जिन-जिन विषयों

---

१. तत्त्ववैशारदीटीका। यो० सू० ३।९, १०, ११, १२ पर वार्त्तिक।

२. यो० सू० भा० ३।९, १०, ११, १२ पर वार्तिक

३. इदानीमङ्गभूतस्य समाधेरङ्गिनोश्च योगयोः स्वरूपभेदावधारणाय तत्तदवस्थागता विशेषा वक्तव्या, तावतैवैतयोरङ्गाङ्गिनोः प्रयोजनमपि प्रतिपादितं भविष्यति।—यो० वा० पृ० २८९

४. तदेवं योगतदङ्गयोः परिणामरूपवैलक्षण्यं तयोर्विवेकाय प्रदर्शितम्।
—यो० वा० पृ० २९३

५. केवलस्यासम्प्रज्ञातरूपस्य निरोधस्यात्र ग्रहणे सम्प्रज्ञाताख्यनिरोधस्य परिणामाकथनान्न्यूनताऽऽपत्तेः।—यो० वा० पृ० २८९

६. समापत्तिःसम्यगालम्बनाकारत्वापत्तिःप्रत्यक्षवृत्तिरित्यर्थः चित्तस्य चेयं-प्रज्ञाख्यावस्था सम्प्रज्ञातेष्वेव भवति न तु धारणाध्यानसमाधिषु तेषु सामग्र्येणालम्बनाग्रहणात् साक्षात्कारस्यैवविशेषाकारत्वादिति।
—यो० वा० पृ० १०७

का साक्षात्कार करता है उन साक्षात्करणीय विषयों के आधार पर वितर्कानुगतादि सम्प्रज्ञातयोग के भेद कहे जाते हैं। यद्यपि प्रत्यक्षीकरण क्रिया में चित्त सदा साक्षात्करणीयविषयाकाराकारित अर्थात् तद्रूप हुआ करता है, अतः तद्रूपता और साक्षात्कार एक ही विषय का होगा। फलतः समापत्तियाँ और सम्प्रज्ञातसमाधि के अवान्तरभेद समानविषयाधारित होंगे। इसी कारण से लोग कभी कभी समापत्ति और सम्प्रज्ञातसमाधि को पर्यायवाची समझने लगते हैं। परन्तु आधार समान अथवा एक होने से किन्हीं दो वस्तुओं का स्वरूप और लक्षण भी समान या एक हो, यह आवश्यक नहीं।[1] किन्तु समापत्तियों के फलस्वरूप और लक्षण इत्यादि में उतना मतभेद योगशास्त्रियों में नहीं है जितना कि उनकी संख्या और उनके अलग-अलग क्षेत्र के विषय में। सूत्र और भाष्य में सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा और निर्विचारा नाम की केवल चार समापतियाँ प्रतिपादित की गई हैं। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने भाष्य में बताए गए ढंग पर आठ समापत्तियाँ मानी हैं और यह कहा कि "तेनाष्टौ ते सिद्धा भवन्ति इति भाष्यहृदयं प्रकटीकृतम्" त० वै०। पृ० १२४। भोजराज ने इस संख्या के प्रश्न पर मौन रहते हुये सूत्रभाष्याभिमत सिद्धान्त पर ही स्वारस्य प्रकट किया है। विज्ञानभिक्षु ने मिश्र-मत का खण्डन[2] करके यह सिद्धान्त स्थापित किया कि समापत्तियाँ पाँच हैं। उन्होंने आनन्द को बुद्धि का धर्म बता कर उसे ग्राह्य के अन्तर्गत माना है। और इस प्रकार से ग्राह्य और ग्रहणविषय में स्थूलसूक्ष्म के भेद से सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा और निर्विचारा समापत्तियाँ हुईं। चूंकि ग्रहीतृ-विषय पुरुष है या आत्मा है अतः वह न स्थूलसमापत्ति के अन्तर्गत गिना जा सकता है और न तो सूक्ष्म के अन्तर्गत क्योंकि सूक्ष्मता की सीमा प्रकृति पर्यन्त ही सूत्रकार ने मानी है।[3] अतः ग्रहीतृविषय की एक समापत्ति अलग माननी ही पड़ेगी। इस प्रकार से कुल पाँच समापत्तियाँ हुईं।[4] कुछ आधुनिक विद्वानों ने[5] विज्ञानभिक्षुसम्मत छह समापत्तियाँ बताई हैं। योगवार्तिक की इस पंक्ति—'तस्मादवान्तरभेदेन पञ्चैव समापत्तयः' को पढ़ने के बाद कदाचित्

---

१. समापत्तिरूपसाक्षात्कारहेतुत्वाद्योगस्य समापत्तित्वमुक्तम्।—यो० वा० पृ० १२४

२. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० १२५

३. सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्।—१।४५ यो० सू०

४. तस्मादवान्तरभेदेन पञ्चैव समापत्तयः—ग्राह्यग्रहणतोः स्थूलसूक्ष्मभेदेन सवितर्काद्याश्चतस्रः, पञ्चमी च ग्रहीतृष्विति।—यो० वा० पृ० १२५

५. द्रष्टव्य, ब्रह्मलीनमुनिकृतपातञ्जलयोगदर्शन पृ० २४५

उनके भ्रम[1] का स्पष्ट निराकरण हो जाय। कुछ लोगों ने तो विज्ञानभिक्षु की अभिमत छह समापत्तियों पर किये गये खण्डन का निराकरण भी किया है। कदाचित् पूर्वपक्षी और उत्तरपक्षी[2] दोनों ने विज्ञानभिक्षु का समापत्ति-सिद्धान्त ठीक से समझा ही नहीं था। समापत्ति का पंचसंख्याकत्व ही विज्ञानभिक्षु का सिद्धान्त है। समापत्तियों के विषय में 'ग्रहीतृग्रहणग्राह्य' के प्रसङ्ग में सूत्रभाष्य त० वै०, यो० वा० और राज-मार्तण्डकार सब एकमत हैं।

## योग-साधना के सोपान

योगसाधना का प्रतिपादन करने में विज्ञानभिक्षु की मौलिकता तीन प्रकार के साधकों का वर्गीकरण प्रस्तुत करने में है। यद्यपि पुराणों में ये भेद यत्र तत्र बिखरे हुये पड़े थे किन्तु उन भेदों के अनुसार सूत्र और भाष्य की क्रमबद्ध उपयोगिता प्रस्तुत करने का श्रेय क्रियायोग, ज्ञानयोग और कर्मयोगनामक योगाङ्ग की असंकीर्ण उपादेयता स्पष्ट करने का श्रेय निस्संदेह उन्हीं को है।[3] एक और प्रवृत्ति उनके वार्तिक में स्पष्ट परिलक्षित होती है जिसके लिये सांख्ययोग की पृष्ठ-भूमि में उन्हें केवल वैकल्पिक गुञ्जायश दीख पड़ती है, वह है भक्तियोग। वाचस्पति मिश्र और भोजराज ने ईश्वरप्रणिधान आदि को केवल एक स्थलीय महत्ता दी है। जब कि विज्ञानभिक्षु ने ईश्वरप्रणिधान आदि के द्वारा की गई साधना को सार्वत्रिक उपादेयता से युक्त बताया है। सांख्यपद्धति के अनुकूल की गई निरीश्वर-योगसाधना —यद्यपि सफल होती है—तथापि विज्ञानभिक्षु की दृष्टि में वह सौविध्यपूर्ण नहीं है। इसीलिये जीवात्मयोगसाधना से परमात्मयोगसाधना उन्हें कहीं अधिक श्रेयस्कर लगती है। ईश्वरप्रणिधान का मार्ग उनकी दृष्टि में राजमार्ग है।[4] उन्होंने भक्ति-

---

१. इस भ्रम के दो कारण हैं—

(१) पूर्वपक्षरूप से विज्ञानभिक्षु का यह कथन कि 'ननुस्थूलसूक्ष्मसमापत्तेरेव चतुर्विधत्वादानन्दास्मितासमापत्तिभ्यां सह षट्समापत्तयो भवन्ति।—यो० वा० पृ० १२४

(२) सम्प्रज्ञातयोग के चार मुख्य भेद में ही अवान्तर भेदों सहित कुल छह प्रकारत्व का कथन कि—सम्प्रज्ञातयोगस्त्वानन्दानुगतमादायावान्तरभेदेन षोढैवेति।—यो० वा० पृ० १२५

२. यत्त्वत्र समापत्तिषोढात्वं वदतो—षोढात्वस्य निराबाधात्। श्री दामोदर शास्त्री कृत टिप्पणी।—यो० वा० पृ० १२४

३. द्रष्टव्य, यो० वा० पृ० २४२

४. मुख्यकल्पत्वे तु राजमार्ग एव मम इति वाक्यवत्।—यो० वा० पृ० ६२

भावना से किए गए परमेश्वरयोग को ही मुख्य कल्प माना है।[1] पुरुषसामान्य-संयम योग को अनुकल्प ही प्रतिपादित किया है। यह भक्तियोग उनकी साधना को, उनके दर्शन-सिद्धान्त को कहीं अधिक ऊँची मानवीय भूमि पर प्रतिष्ठित करने में समर्थ होता है।

## ईश्वर-प्रस्तावना

यद्यपि पतञ्जलि और व्यास ने ईश्वर का स्वरूप स्वयं साधना के क्षेत्र में प्रस्तुत किया था किन्तु ईश्वर की मान्यता केवल वैकल्पिक रूप से ही उपस्थित हुई थी। विज्ञानभिक्षु ने इस विकल्प[2] को मुख्यकल्प एवं अनुकल्प के क्रम में परिवर्तित कर दिया है। ईश्वरसाधना मुख्यकल्प हुआ और जीवात्मसाधना अनुकल्प कहा गया। इस प्रकार से विज्ञानभिक्षु का संरम्भ प्रधानतः भक्तियोग में ही दीख पड़ता है। अतः उनके सम्प्रदाय में भक्तिभावना अनिवार्य और अविभाज्य तत्त्व है। इस भक्ति का वैशिष्ट्य अन्य भक्तदार्शनिकों से इस बात में स्फुट है कि यह निर्गुण ईश्वर की भक्ति है। जब कि अन्यत्र सर्वत्र सगुण ईश्वर की ही भक्ति भक्तदार्शनिकों में देखने को मिलती है। इसी तथ्य को हम इस प्रकार भी प्रकट कर सकते हैं कि विज्ञानभिक्षु की ईश्वर-भक्ति योग की सूक्ष्मसाधना के सर्वथा अनुरूप है उसमें स्थूलधर्मता के लिए अवकाश नहीं है। यद्यपि विज्ञानभिक्षु विष्णु को ब्रह्मा, शङ्कर, हिरण्यगर्भादि से उत्कृष्ट मानते हैं किन्तु यह सदा स्मरणीय है कि ये विष्णु विज्ञानभिक्षु के ईश्वर नहीं हैं। न ही कृष्ण या हरि उनके वे ईश्वर हैं जिनके अनुग्रह का इच्छा भी विज्ञानभिक्षु ने अपने ग्रन्थ के श्लोकों में की हैं,[3] वे सब केवल उच्चकोटि के जीव हैं अथवा ईश्वर के लीलावतार या आवेशावतार मात्र हैं। ईश्वर वस्तुतः निर्गुण है, चिन्मात्र है, चिरन्तन है। उसका वाचकशब्द केवल ॐ है। इस प्रकार से योगसाधना में जिनकी भक्ति मुख्य कल्प है वे निर्गुण ईश्वर हैं न कि ब्रह्माविष्णुहरादिक। इस प्रकार से विज्ञान-भिक्षु को वैष्णवयोगी या वैष्णव दार्शनिक इत्यादि नाम से अभिहित करना अत्युक्ति ही होगी।

---

१. अतःपरमेश्वरे संयमो सम्प्रज्ञातपर्यन्तयोगे मोक्षे च मुख्यकल्पः, आसन्नतरतासंपादनात्, जीवात्मसंयमस्तु तत्रानुकल्प इति सिद्धम्।—यो० सा० सं० पृ० १९

२. यदि चोभयोरेव तुल्यवद्विकल्पः स्यात्तर्हि तमेवविदित्वातिमृत्युमेति, नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय 'तमेवैकं जानथात्मानमन्यावाचो विमुञ्चथ' अमृतस्यैष सेतुरित्यादिश्रुतयो व्याकुप्येरन्।—यो० वा० पृ० ६३

३. एतेन प्रीयतामीशो य आत्मा सर्वदेहिनाम्।—यो० वा० अन्तिम श्लोक की अन्तिम पंक्ति।

# सिद्धियाँ

सिद्धियों का वर्गीकरण और उनका आपेक्षिक बलाबल निरूपण करके विज्ञान भिक्षु ने जिज्ञासुओं का काम सरल कर दिया है। विज्ञानभिक्षु ने पुरुषसंयम से प्राप्त होनेवाली सिद्धि को सर्वोत्कृष्ट सिद्धि बताया है।[1] साथ ही इस सिद्धि की योगानुकूलता एवं वैराग्यविरोधहीनता भी प्रतिपादित की है। पुरुष-संयमसिद्धि के इस विशेष भाग पर अन्य टीकाकारों ने भी कोई प्रकाश इनके पूर्व तक नहीं डाला था। एक सच्चे योगी की भाँति इन्होंने भी अन्य सिद्धियों को योग के लिए व्यवधानस्वरूप ही माना है।

---

१. तमिमं संयमं विहायात्मसाक्षात्कारस्यान्य उपायो नास्ति। अतःआत्मजिज्ञासुरयमेव संयमः संयमान्तराण्यणिमादिसिद्धिहेतुभूतानि विहाय कर्तव्य इति। सांख्ययोगयो रहस्यं स्वानुभवसिद्धमुपदिष्टम् ।—यो० सा० सं० पृ० ९१

# कैवल्य

कैवल्य के स्वरूप और उसके भेदों का साङ्ग विवेचन पिछले अध्याय में भली भाँति हो चुका है। उसके साधनों के स्वरूपों पर भी पूर्ण प्रकाश डाला जा चुका है। यह कहना यहाँ आवश्यक है कि यद्यपि अन्य दार्शनिकों ने भी ध्यानयोग, अष्टाङ्गयोग और निदिध्यासन के द्वारा ही तत्त्वसाक्षात्कार या ज्ञानलाभ का होना माना है किन्तु योग का प्राधान्य उन्होंने नहीं प्रदर्शित किया था। विज्ञानभिक्षु ने योग के अप्रतिम माहात्म्य को स्थापित किया है[1] और सभी साधना-मार्गों के लिए योग को अनिवार्य सिद्ध कर दिया है।

---

१. सर्ववेदार्थसारोऽत्र वेदव्यासेन भाषितः।
योगभाष्यमिषेणातो मुमुक्षूणामिदं गतिः ॥३॥
गङ्गाद्याःसरितो यद्वदब्धेरंशेषु संस्थिताः।
सांख्यादिदर्शनान्येवमस्यैवांशेषु कृत्स्नशः ॥४॥—यो० वा० पृ० ३

# फुटकल-चर्चा

स्फोट के विषय में विज्ञानभिक्षु ने योगभाष्य के सिद्धान्त का अक्षरशः पालन किया है। यद्यपि नाद और बिन्दु आदि विषयों का प्रतिपादन उन्होंने अलग से प्रस्तुत किया है। शब्दस्फोट के साथ-साथ वाक्यस्फोट को भी उन्होंने स्वीकार किया है।[१] स्फोटसिद्धि के तर्क प्रायः वैयाकरणों के ही समान हैं। श्रुति-प्रमाण देने में अवश्य ही उनकी चमत्कारपूर्ण मौलिकता है। वैयाकरणाभिमत आठ स्फोट[२] (वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, सखण्डपदस्फोट, सखण्डवाक्यस्फोट, वर्णजातिस्फोट, पदजातिस्फोट और वाक्य-जातिस्फोट) उन्होंने न तो स्पष्ट रूप से माने हैं न उनका स्फुट खण्डन ही किया है। वैयाकरण लोगों ने वाक्य-स्फोट को ही प्रधानता दी है[३] किन्तु विज्ञानभिक्षु ने शब्दस्फोट को प्रधानता प्रदान की है। भर्तृहरिनिर्दिष्ट प्राकृत-ध्वनि को ही उन्होंने नाद माना है और परिणामरूप वैकृत-ध्वनि के स्थल पर बिन्दु को स्वीकार किया है। स्फोट की अक्रमता, अखण्डता आदि में वे वैयाकरणों से पूर्णतया सहमत हैं। इतना होने पर भी वैयाकरणों से उनका मौलिक मतभेद इस बात में है कि वैयाकरणों के लिये स्फोट ही ब्रह्म है[४] जब कि विज्ञानभिक्षु के लिए स्फोट केवल अर्थप्रत्यायक शब्द मात्र।[५] इस प्रसङ्ग में सांख्यमत का खण्डन भी विज्ञानभिक्षु ने भलीभाँति किया है।[६]

---

१. नन्वेवं वाक्यमपि स्फोटः स्यादिति चेत्, बाधकाभावे सतीष्यतामिति दिक्।—यो० सा० सं० पृ० ७१

२. वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, अखण्डपदस्फोट, अखण्डवाक्यस्फोट, वर्णजातिस्फोट, पदजातिस्फोट और वाक्यजातिस्फोट।—वैयाकरण-भूषण, द्रष्टव्य, स्फोटमीमांसा पृ० ४९२

३. तत्र वाक्यस्फोटो मुख्यो लोके तस्यैवार्थबोधकत्वात्तेनैवार्थसमाप्तेश्च।
—वै० सि० ल० म० पृ० १

४. तस्मान्नित्यो ब्रह्मस्वरूपः स्फोटः एव वाचको न वर्णा इति सिद्धम्।
—स्फोटमीमांसा पृ० ४९१

५. घट इत्यादिनिपदानि तु बुद्धिमास्यविषयः वक्ष्यमोष्ठमुक्त्या बुद्धिमात्र-ग्राह्यत्वात्। तानि पदानि एवार्थस्फुटीकरणत्वात्स्फोट इत्युच्यते।
—यो० सा० सं० पृ० ६८

६. द्रष्टव्य, यो० सा० सं० पृ० ६९

# धार्मिक-भावना

ज्ञानमार्गी विज्ञानभिक्षु की भक्ति-भावना भी दर्शनीय है। भक्ति का उनका आदर्श बड़ा ऊँचा है। 'अत्युत्कटप्रेमलक्षणा-भक्ति'[1] ही उनकी दृष्टि में सच्ची भक्ति है। वेदान्त में ब्रह्म विचार करते हुए उन्होंने ईश्वर को निर्गुण बताया और शक्तिमान् भी। तथापि ईश्वर की प्राप्ति ज्ञान से ही मानी है। निर्गुण ईश्वर के प्रति वस्तुतः भक्ति और वह भी अत्युत्कटप्रेमलक्षणा भक्ति होनी सर्वथा कठिन है। फिर भी विष्णु आदि जो उनके अंशावतार हैं उनको उपास्य माना जा सकता था। यद्यपि विष्णु को विज्ञानभिक्षु ब्रह्मा और रुद्र आदि से ऊँचा तथा प्राथमिक मानते हैं और श्रीराम तथा श्रीकृष्ण आदि का स्मरण भी बड़े आदर से करते हैं तथापि इन सब को वे उच्चवर्गीय जीव मात्र मानते हैं। इसलिए उनका भक्त होना उनके लिये असम्भव है।

सांख्यभाष्य लिखते समय मङ्गलाचरण में अपने भक्तिभाव का अवलम्बन स्थिर करने में प्रकट की गई उनकी विचिकित्सा उनके भक्तिभाव के भगवान् का विशद प्रकाशन करती है। अन्त में 'चिदेकरसवस्तु' अथवा 'चित्सामान्य' ही—जिसे कोई ईश्वर और कोई अनीश्वर कहता है[2] उनकी भक्ति का आलम्बन बनता है। उनकी स्पष्ट स्वीकारोक्ति है—'चित्सामान्यमुपास्महे।' अद्भुत उपासना है! विचित्र भक्ति-भावना है!

वस्तुतः उनकी भक्तिभावना का अर्घ्य किसी साधारण सगुण देवता के लिये है ही नहीं। उनके उपास्य सांख्य की चरम सत्ता 'चित्सामान्य' या 'योग' के 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टपुरुषविशेष' अथवा वेदान्त के 'निर्गुण ब्रह्म' हैं। उनके सिद्धान्तों की अशेष समीक्षाओं से इतना तो निश्चित ही हो चुका है कि ये तीनों सत्ताएँ निस्संदेह एक ही परम अस्तित्व के विभिन्न नामान्तर हैं। इस तरह से विज्ञानभिक्षु की भक्ति सोलहवीं शताब्दी के तथा उसके आस-पास के समय के अनेक भारतीय भक्तों की भक्ति से बिल्कुल भिन्न प्रकार की है। न तो उन्हें ब्रह्म का दर्शन, न स्मरण, न सांख्यभाव न अन्य किसी प्रकार की भक्तिभावना की साधना की आकांक्षा है और न ही उन्हें परलोक में सायुज्य, सान्निध्य आदि की ही कामना

---

१. द्रष्टव्य, ईश्वरगीताभाष्य पा० लि०

२. द्रष्टव्य, सां० प्रा० भा० मङ्गलाचरण

है। वे वस्तुतः कबीर की कोटि के निर्गुणधारा के भक्त थे। जिनका ध्येय निर्गुण, जिनका उपास्य गुणातीत और जिनका भक्तिमार्ग योगसाधना का रूपान्तर मात्र था।

ऐसे लोगों की भक्ति, योगमार्ग की धारणा, ध्यान और समाधि की आवाहक-विधि मात्र होती है। चित्तशुद्धि और चित्त का केन्द्रीकरण ही उसका सहज लक्ष्य है। विज्ञानभिक्षु ईश्वर को जीव के कर्मों और इसी बहाने कर्मफलों का प्रेरक मानते हैं। कदाचित् इसी कारण मनुष्यों को ईश्वर के हाथों में 'दारुयन्त्रसमा:' भी कहा है। इसी कारण अपने योगसारसंग्रह में उन्होंने निरीश्वर-सम्प्रज्ञात साधना की तुलना में सेश्वर सम्प्रज्ञातसाधना को बढ़कर माना है। इससे चित्त के विक्षेपों की शान्ति और उत्तरोत्तर भूमिलाभ भी सुलभ होते रहते हैं। भक्ति का विनियोग उनकी ज्ञान-साधना में केवल इतना ही है। इससे अधिक नहीं। यह भक्ति न तो मुक्ति के लिये अनिवार्य है और न योग के लिए। कदाचित् सांख्यसाधना को सफल और सक्षम स्वीकार करने के कारण विज्ञानभिक्षु ने इस स्थिति को स्वीकार किया हैं। निरीश्वरसाधना से भी आत्मसाक्षात्कार और पूर्ण ज्ञान तथा तल्लभ्य मुक्ति निर्बाध प्राप्त होती है। ऐसी उनकी स्पष्ट घोषणा है। अतः भक्ति एक वैकल्पिक ज्ञानधारा ही ठहरती है। उनका एकमात्र उद्देश्य ज्ञानप्राप्ति है। उसी के लिये भक्ति विकल्प से ग्रहण की जा सकती है। उसका अपना निजी व्यक्तित्व कोई विशिष्ट महत्त्व नहीं रखता।

तात्कालिक परिस्थितियों में ज्ञान-प्राप्ति के लिये भक्ति का अवलम्बन स्वीकार करना कदाचित् अपरिहार्य था अन्यथा कौन भक्तिरस का आस्वाद छोड़ कर ज्ञान का सूखा सन्देश सुनता ? इसीलिए चित्सामान्यनिर्गुणब्रह्म के भक्त बन कर विज्ञान-भिक्षु ने वस्तुतः भगवान् की भक्ति नहीं, भक्त की भक्ति नहीं, अपितु प्रधानतः ज्ञान की और गौणतः भक्ति की भक्ति की है।

वर्णाश्रमधर्मके वे पूरे व्यवस्थापक और संन्यास के प्रबल पोषक थे। वे निष्काम कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि और ज्ञान की पूर्वपीठिका की पूर्ति मानते थे। ज्ञान के मार्ग को प्रशस्त करने के लिये इन समस्त प्रक्रियाओं की उपयोगिता उन्हें मान्य थी। ज्ञान की उच्च भूमि पर इन सब की निष्प्रयोजनता उनके लिये स्वयंसिद्ध थी। ज्ञान की वेदी पर पहुँच कर भक्ति और कर्म दोनों की बलि चढ़ा देना ही उनकी साधना का रहस्य है।

## निष्कर्ष

उनके समग्र दार्शनिक संस्थान की इस सूक्ष्म समीक्षा से हम संक्षेप में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे श्रुतिसंवेद्य चिदाकाश की चोटी पर कर्म और भक्ति

की भावनाओं से संवलित-योग-सोपान के सहारे समारूढ हो कर आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होनेवाले आस्तिकदर्शनजगत् के समन्वयवादी द्रष्टा थे। आस्तिकदर्शनों का अविरोध और शाश्वत प्रामाण्य ही उनका मूलमन्त्र है। आत्मवाद की यह दिव्यसाधना ही उनका अमर-संदेश है। दृष्टि की इस व्यापकता तथा साधना की यह जागरूकता ही उनकी पूँजी है। भारतीय-दर्शन के इस अप्रतिम व्यक्तित्व के प्रति सभी तत्त्वानुसंधान-परायण प्राणियों की हार्दिक संवेदनशीलता निस्संदेह स्वाभाविक और अक्षुण्ण है।

अध्याय २

# आचार्य विज्ञानभिक्षु का भारतीय दर्शन में स्थान

# दार्शनिक पृष्ठभूमि

१५ वीं, १६ वीं तथा १७ वीं शताब्दियाँ भारतवर्ष में मुसलमानी शासन की चरम अभ्युन्नति का निदर्शन प्रस्तुत करती हैं। इन शासकों के सैनिक अभियानों एवं प्रशासनिक व्यापारों की सरगर्मी का स्थान सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतनाओं की प्रेरणाएँ ग्रहण कर रही थीं। हिन्दुओं और मुसलमानों ने न केवल मिलना-जुलना स्वीकार कर लिया था अपितु वैचारिक एवं भावनात्मक क्षेत्रों में घुलना-मिलना भी एक विशाल स्तर पर प्रारम्भ हो गया था। इस विशाल संघटन के साथ-साथ आंशिक विघटन भी स्वाभाविक होता है। किसी भी सिद्धान्त या प्रथा के स्वीकरण में उसके पूर्वगृहीत सिद्धान्त या प्रथा का परिहार अनिवार्य होता है। इस प्रकार संघटन का अवश्यंभावी अंग विघटन भी लब्धप्रसर होने लगा था।

किन्तु इस सांस्कृतिक विनिमय में शासक वर्ग और शासित वर्ग की तुलनात्मक हैसियत का भी प्रभाव पड़ना आवश्यक था। एक बात और इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है कि हिन्दू और मुसलमान वर्गों की आन्तरिक बनावट का भेद भी इस घोलमेल में प्रभाव डालनेवाला तत्त्व है। उदाहरणार्थ एक सनातनधर्मी हिन्दू किसी भी मुसलमान को चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, अपने वर्ग में किसी भी परिस्थिति में नहीं मिला सकता था प्रत्युत इस वर्ग के अनेक अंश अन्य अंशों की कट्टरवादिता के कारण एक प्रकार से वर्ग-परिवर्तन के लिए मजबूर भी बना दिए जाते थे। जबकि मुसलमान लोग हिन्दुओं और हिन्दुआनियों को न केवल मुसलमान बना लेते थे अपितु उन्हें सामाजिक, धार्मिक और प्रशासनिक समानताएँ भी सहर्ष समर्पित करते थे।

इन विकट परिस्थितियों में भारतीय-चिन्तनधाराओं, दार्शनिक-सिद्धान्तों और धार्मिक-मान्यताओं के विगलन का विराट् भय उपस्थित हो गया था। इन्हीं परिस्थितियों ने हिन्दू-धर्म और हिन्दू-दर्शन के अनेकानेक अंगों और उपाङ्गों के एकीकरण की प्रवृत्ति को जन्म दिया। फलस्वरूप धर्म और दर्शन के क्षेत्र में

समन्वय-साधना की भावना पनपने लगी और १६ वीं शताब्दी में तुलसीदास[१] और विज्ञानभिक्षु इत्यादि इस समन्वय की भावना के सजग प्रतिनिधि के रूप में अवतीर्ण हुए। जैसे तुलसीदास की रचना में अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का सुमधुर सामंजस्य, भक्ति और ज्ञान का ऐक्य तथा श्रुतिस्मृतिपुराणों का सम्मत[२] प्रतिफलित हुआ है उसी प्रकार विज्ञानभिक्षु की रचनाओं में भी सांख्ययोग और वेदान्त का समन्वय, भक्तिकर्म और ज्ञान का पारस्परिक अविरोध और श्रुति-स्मृति तथा पुराणों का अभिन्न अस्तित्व साकार हो उठा है।

सांख्य, योग और वेदान्त में शाश्वत विरोध और तात्त्विक वैपरीत्य का प्रतिपादन पारस्परिक तर्कजालों के द्वारा पर-पक्ष-खण्डन और स्व-पक्ष-मण्डन निस्संदेह लोगों के मन में इन शास्त्रों के प्रति अनास्था और उनके मूलस्रोत श्रुति-स्मृतियों की सत्यपरता में संशय उत्पन्न करता है जो कि आत्मसाधना के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने के साथ-साथ तात्कालिक सामाजिक-स्थिति के भय को और अधिक भीषण बनाता है।

इस संदर्भ में विज्ञानभिक्षु ने अपने दार्शनिक मतवाद की प्रतिष्ठा की, जिसकी आधार-भित्ति समन्वयसाधना में निहित है। यह समन्वय, न केवल सांख्य, योग और वेदान्त के हितों की सुरक्षा का साधक है, अपितु न्याय, वैशेषिक और मीमांसा आदि सभी श्रुतिमूलक आस्तिक दर्शनों के सफल अस्तित्व का अनमोल संबल है। सारे भेदवाद को निर्मूल करनेवाला प्रबल श्रुति-स्मृति-संस्थापक तत्त्व हैं। इससे साधना का पथ अनन्त काल के लिए आलोकित हुआ है। भारतीयदार्शनिकपरम्परा का पावन क्षेत्र सामाजिक प्रहारों से निर्भय हुआ है। इससे भारतीय संस्कृति की निरन्तर प्रवहमान धारा को युगापेक्षी अनुप्राणन प्राप्त हुआ है।

---

१. तुलसीदास अकबर के समकालिक थे। उनके जन्म और मृत्यु के सम्बन्ध में ये दोहे प्रसिद्ध हैं —

पन्द्रहसौ चौवनविषै कालिन्दी के तीर।
श्रावणकृष्णा तीज सनि तुलसी धर्यौ सरीर ॥ : जन्म-सम्वन्धी दोहा।

संवत् सोरह सौ असी असीगंग के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो सरीर ॥ : मृत्यु-सम्बन्धी-दोहा।

२. 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं यत्'—रामचरितमानस का मङ्गलाचरण।

तुलसीदास ने जिस कार्य को हिन्दी भाषा में धार्मिक और सामाजिक स्तर पर सुलभ किया उसे कहीं और ठोस ढंग तथा तर्कप्रवणशैली में संस्कृत भाषा के माध्यम से बुद्धिवादी विद्वज्जगत् के तोष का साधन बनाने का श्रेय वस्तुतः विज्ञानभिक्षु को है।

विज्ञानभिक्षु ने भारतीय संस्कृति की सेवा में कदाचित् तुलसीदास से भी अधिक कठोर व्रत लिया है। उन्हें दोषज्ञ विद्वज्जगत् के सामने इस समन्वयात्मक साधना को प्रतिष्ठित करना था। अतः उन्हें संस्कृत भाषा का माध्यम स्वीकार करना पड़ा। धार्मिक गाथाओं का आश्रय भी दर्शन के क्षेत्र में सुलभ नहीं था। यहाँ काव्यकला का आलम्ब नहीं, आत्म-विज्ञान का निर्मम प्रयोग था, जहाँ भावनाओं और संवेदनाओं का तीव्र बहिष्कार तथा शुष्क तर्कसरणि का ही एकमात्र अवलम्ब था। तथापि इन दो समकालिक सन्तों ने अपने-अपने क्षेत्र में अपनी साधनाओं के सक्षम विनियोग में उत्कट सफलता प्राप्त की। दोनों ने युग-धर्म की पुकार सुनी और उसके आह्वान पर दोनों ने अपना सर्वस्व दाँव पर लगा दिया।

भारतीय जनता ने दोनों के कृतित्व का मूक-आभार स्वीकार किया है। दोनों की परम प्रसिद्धि हुई है किन्तु हिन्दी के स्थान पर संस्कृत भाषा के माध्यम से सामान्य जन से ऊपर विशिष्ट विद्वज्जन के लिए, कथा की जगह तर्कप्रवण अनुच्छेदों के सहारे शुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के कारण विज्ञान-भिक्षु के प्रभाव-क्षेत्र की सीमा अपेक्षाकृत बहुत स्वल्प रही। विद्वानों की प्रवृत्ति के सामान्यतत्त्व ईर्ष्या और अहंकार ने विज्ञानभिक्षु के प्रभाव को अधिक नहीं बढ़ने देना चाहा। भावागणेश, प्रसादमाधवयोगी और दिव्यसिंह मिश्र इत्यादि[1] उनके प्रिय शिष्यों के कृतित्व और चिन्तन-साधना की हीनता ने भी उनके बढ़ते हुए तेजस्वी यश को क्षति पहुँचाई। समन्वयसिद्धान्त की प्रतिष्ठित भूमिका की असीम ऊँचाई पर असामान्य बुद्धि का ही पदार्पण सम्भव हो सकता है। इन कारणों से दर्शन के क्षेत्र में अन्य मतवाद कहीं अधिक लोकप्रिय और विख्यात हो गए। जिनके कारण विज्ञानभिक्षु की यशस्विता पर गहरा पर्दा पड़ता गया।

तथापि कुछ ऐसे समय तक बिल्कुल अप्रसिद्ध या अज्ञात रहना—जबकि पूरा देश पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा रहे, अपने पूर्वजों के कृतित्व का अनुसंधान करने की दिशा ही न जान सके और पुरातन गरिमा पर गौरव का अनुभव करने की स्वच्छन्दता न पा सके—किसी कृती के वास्तविक मूल्याङ्कन

---

१. इन शिष्यों के सम्बन्ध में यथासम्भव सुलभ सूचना इसी ग्रन्थ के प्रथम पटल पृष्ठ संख्या ३३ पर दी हुई है।

का स्वरूप नहीं प्रस्तुत करता। विज्ञानभिक्षु भारतीय दार्शनिक-परम्परा के उज्जवल नक्षत्र हैं। उनकी यशोज्योति को मलिन करनेवाली पराधीनता की परम्पराओं का ध्वंस हो चुका है।[१] अब हमें तत्सम्बद्ध साधन और सुविधाएँ सुलभ हैं। हम ऐसे रत्नों की साधनाओं के महत्त्व का पूर्ण आकलन अब सुविधा से कर सकते हैं। विज्ञानभिक्षु के व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्बन्ध में यथासम्भव प्रकाश इस ग्रन्थ में डाला जा चुका है।

---

१. १५ अगस्त सन् १९४७ ई० को भारतवर्ष की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात्।

# सांख्य-दर्शन में विज्ञानभिक्षु का स्थान

भारतीय मनीषा का पुरातन प्रकाश सांख्यदर्शन है। श्रुतियों ने भी जिसके महत्त्व का संकेत किया है और महाभारत, गीता तथा पुराणादि स्मृतियों ने जिस निधि को विधिवत् सँजो कर रखा है,[1] चिदचिद्-विवेक का प्रथम पाठ पढ़ानेवाले उस महनीय दर्शन के आदि प्रणेता कपिल हैं। किन्तु उनका प्रवर्तित सांख्य किस ग्रन्थ में संगृहीत है? इस प्रश्न के उत्तर में और लोगों का चाहे जो मत हो, आचार्य विज्ञानभिक्षु स्वयं उसे सांख्यप्रवचनसूत्र या षडध्यायी ही समझते हैं।[2] इसीलिए सांख्यकारिका को प्रामाणिक मानते हुए भी उन्होंने इन सूत्रों पर ही भाष्य लिखा है। उनके मत में ऐसा लगता है कि कोई विशाल सांख्य-ग्रन्थ जो कपिल की शिष्य-परम्परा के किसी समर्थ विद्वान् ने लिखा था तब तक भारतवर्ष में लुप्त हो चला था। उसको अपने वचनामृत से पूर्ण करने का बीड़ा विज्ञानभिक्षु ने उठाया है।[3] सांख्यप्रवचनभाष्य उसी सत्प्रयास का दिव्य फल है।

यह भाष्य कारिका-विरोधी नहीं है जैसा कि कुछ लोग समझने लगते हैं। प्रत्युत कारिकाएँ भी उन्हीं तथ्यों की ही प्रकाशिका हैं, जो सूत्र में विद्यमान हैं। इसीलिए उनके भाष्य में समर्थक रूप में कारिकाएँ अनेकशः उद्धृत हुई हैं।[4] जिन स्थलों पर उनका वाचस्पति मिश्र आदि से मतभेद है उन स्थलों पर उन्होंने अपने सूत्र-भाष्य में ही कारिकाओं का भी भाष्य किया है[5] और उनका वही

---

१. 'नास्ति सांख्यसमं ज्ञानम्।'—गीता

२. तस्य श्रुतस्य मननार्थमथोपदेष्टुं
सद्युक्तिजालमिह सांख्यकृदाविरासीत्।
नारायणःकपिलमूर्तिरशेषदुःख—
हानाय जीवनिवहस्य नमोऽस्तु तस्मै॥ २॥—सां० प्र० भा० पृ० १

३. कालार्कभक्षितं सांख्यशास्त्रं ज्ञानसुधाकरम्।
कलावशिष्टं भूयोऽपि पूरयिष्ये वचोऽमृतैः॥५॥ सां० प्र० भा० पृ० १

४. एतदेव कारिकायामुक्तम्—दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशय-युक्तः—सा० प्र० भा० पृ० १० और द्रष्टव्य सां० प्र० भा० पृ० १५, २७, ३२ इत्यादि।

५. सां० प्र० भा० पृ० ८४, ८८ इत्यादि।

अर्थ उचित समझा है जो सूत्रों से अभिन्न है। इस प्रकार सांख्य में वे उसी धारा के अनुयायी हैं, जिसके कि ईश्वरकृष्ण।

कुछ लोगों ने ऐसी धारणा फैला रक्खी है कि ईश्वरकृष्ण निरीश्वर सांख्यवादी थे जैसे कि स्वयं कपिल, आसुरि और पंचशिख आदि जबकि विज्ञानभिक्षु सेश्वर सांख्यवादी थे महाभारत, मनुस्मृति और भागवत आदि की परम्परा में। इस विषय में पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि विज्ञानभिक्षु ईश्वरवादी भले हों किन्तु सेश्वर सांख्यवादी नहीं हैं। सांख्य को वे भी उतना ही निरीश्वर मानते हैं जितना कि ईश्वर कृष्ण ने उसे प्रतिपादित किया हैं। इसी मान्यता के कारण इस अंश में सांख्य की दुर्बलता भी वे स्वीकार करते हैं।[1] इस प्रकार से वे ईश्वरकृष्ण की ही परम्परा के सांख्यशास्त्री थे—इसके विरुद्ध तर्क मिलने असम्भव हैं।

हाँ, वाचस्पति मिश्र, शंकराचार्य, माठर आदि सांख्यकारिका के टीकाकारों तथा सांख्यसूत्र के एकमात्र अपने पूर्ववर्ती टीकाकार अनिरुद्ध से यदि उनका कहीं-कहीं मतभेद है तो उसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने सांख्य का एक नया रूप गढ़ कर तैयार कर दिया है। या वेदान्तानुकूल सांख्य की स्थापना की है। यदि माठर ने पुरुष के मोक्षकालिक स्वरूप में आनन्द की मान्यता स्वीकार की है और विज्ञानभिक्षु ने इस बात का खण्डन किया है, तो शुद्ध सांख्यसिद्धान्त किसका है माठर का या विज्ञानभिक्षु का?

यदि उन्होंने सांख्य की प्रकृतिकृतस्वतन्त्ररचना की व्याख्या करते हुए उसे वेदान्त की भूमिका में अनुपपन्न बताया और स्पष्टतः यह स्वीकार किया कि यह मत सांख्य का है किन्तु तर्कयुक्त नहीं है, तो सांख्य का स्वरूप भी उन्होंने सच्चा ही प्रस्तुत किया और उस मत का मूल्यांकन भी भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में कर दिया। इसमें सांख्य की शुद्धरूपता का क्या अपलाप हुआ, मैं यह नहीं समझ पाता। आत्मा का अद्वैत भी उन्होंने सांख्य में माना है। इसमें भ्रम हो सकता है कि इस स्थल पर विज्ञानभिक्षु ने निश्चय ही वेदान्त की हिमायत की है। परन्तु यह स्मरणीय है कि सांख्य के पुरुष-बहुत्व को सतर्क प्रमाणित करनेवाले विज्ञानभिक्षु ने जातिपरक अद्वैत को ही माना है, अखण्ड अद्वैत को हर्गिज नहीं। केवल

---

१. सांख्यशास्त्रस्य तु पुरुषार्थतत्साधनप्रकृतिपुरुषविवेकावेव मुख्यो विषय इति ईश्वरप्रतिषेधांशाबाधेऽपि नाप्रामाण्यम्। यत्परःशब्दः स शब्दार्थः—इति न्यायात्। अतः सावकाशतया सांख्यमेवेश्वरप्रतिषेधांशे दुर्बलमिति।
—सां० प्र० भा० पृ० ४

यही एक ऐसा मार्ग है जिससे सांख्य का शुद्ध रूप भी अक्षुण्ण रहता है और अद्वैत-प्रतिपादक श्रुतियों का विरोध उसमें नहीं पड़ता है। अन्यथा सांख्य को आस्तिक दर्शन या श्रुति-मूलक दर्शन या वैदिक दर्शन कहना ही स्व-वचो-व्याघात होता।

इसी प्रकार से प्रकृति को भोक्त्री कहनेवाले अनिरुद्ध को भर्त्सना करते समय विज्ञानभिक्षु ने द्रष्टृत्वरूप-योग का व्यपदेश पुरुष में ही स्वीकार किया है। संयोग से इस मान्यता में वाचस्पति मिश्र उनके ही साथ हैं। प्रमा या पौरुषेय बोध के स्वरूप के सम्बन्ध में भिक्षु-मिश्र-विरोध के कारण जो दो सिद्धान्त प्रचलित हैं, उनसे सांख्य के स्वरूप का शुद्धाङ्कन न करने का कोई प्रश्न ही विज्ञानभिक्षु के सम्बन्ध में नहीं उठ सकता। इस प्रकार से जिन-जिन प्रसङ्गों और मतभेदों को ले कर लोग विज्ञानभिक्षु के द्वारा प्रस्तुत सांख्य को वेदान्त-विकृत कहने का साहस करते हैं, वही प्रसंग विज्ञाभिक्षु के कृतित्व को सांख्य में स्थायी और महत्त्वपूर्ण बनाते हैं।

यदि सांख्य के शुद्धरूप की हानि न करते हुए विज्ञानभिक्षु ने उसे अवैदिक, श्रुतिविमुख और परम्परा-विहीन होने से बचाया तो उनका यह योगदान सांख्य के लिए स्पृहणीय है। वस्तुतः ईश्वरकृष्ण के पश्चात् सांख्य के इतिहास में कोई ऐसा सबल व्यक्तित्व विज्ञानभिक्षु के पूर्व हुआ ही नहीं, जो शास्त्र की इन साङ्ग और समीचीन व्याख्याओं की ओर दृष्टि डालता। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यशास्त्र की सबलता को तो अक्षुण्ण करने का प्रयास किया है किन्तु वेद-विरुद्ध होने से सांख्य को बचा सकने की उन्होंने परवाह नहीं की। अन्य टीकाकारों का तो कहना ही क्या है? सांख्यसिद्धान्त की दर्शन-जगत् में संस्थापना करनेवाले आचार्य ईश्वरकृष्ण के पश्चात् विज्ञानभिक्षु निश्चय ही एक सक्षम व्यक्ति हुए हैं। निस्संदेह कलावशिष्टसांख्यशास्त्ररूपी ज्ञानसुधाकर को अपने वचनामृतों से पूर्ण करने का उनका दावा यथार्थ है।

# योग में विज्ञानभिक्षु का स्थान

भारतवर्ष की मनीषा ने अनादि काल से योगसाधना की निधि सँजो रखी है। सुप्राचीन सिन्धु-घाटी की सभ्यता के अवशेषों में भी योग की मुद्राओं का स्पष्ट दर्शन होता है। योग की प्रक्रियाएँ भारतीय संस्कृति के मूल में सुदीर्घकाल से निहित हैं। इस दिव्य-साधना की अप्रतिममहत्ता का मूल्याङ्कन भारतभूमि के कण-कण ने अनादि काल से कर रखा है। प्रागैतिहासिक काल की इस अमूल्य धरोहर का सदुपयोग वैदिक ऋषियों ने भी कृतकृत्य होकर किया है। इसी परम्परा के चिन्तकों में अग्रणी महर्षि पतञ्जलि ने इस साधना के अशेष-विशेषों का अनुशासन अपने योग-सूत्रों में सर्वप्रथम किया है।[1] इसलिये मूल प्रवर्तक न होने पर भी इसके प्रथम शास्त्र-प्रचारक का श्रेय तो उन्हें है ही।

योग की अमोघ उपादेयता के कारण न केवल सांख्य-वेदान्त और न्याय-वैशेषिक आदि आस्तिक दर्शन, अपितु बौद्ध और जैन आदि नास्तिक दर्शन भी मोक्ष-साधन का अवलम्बन इसे ही मानते हैं। इन सब दर्शनों की तत्त्व-मीमांसा भले ही योग की तत्त्वमीमांसा से भिन्न है। व्यावहारिक स्वरूप में भी यद्यपि भिन्न-भिन्न रूपों का योग इनके द्वारा व्यवहृत होता हैं तथापि योग के मौलिक महत्त्व को सभी समुदायों में स्वीकृत और व्यवहृत किया गया है। वस्तुतः भारतीय दर्शन का यह एक अपरिहार्य अङ्ग है।

ऐसे शास्त्र के मौलिक स्वरूप का विवेचन और व्याख्यान करनेवाले मनीषी दार्शनिकों का नाम भारतीय दर्शन में सदा आदर से लिया जायगा। वे लोग भारतीय दर्शन के महिमामय रत्न हैं। तथापि योग-दर्शन का कलेवर अन्य दर्शनों की तुलना में पर्याप्त लघुकाय है। इसका प्रमुख कारण भी स्पष्ट है। बौद्धिक-चिन्तन, मनन के आधार पर तत्त्वों की मीमांसा करना उतना कठिन नहीं था जितना कि स्वयं योगमार्ग का आश्रय लेना, उसकी साधना में सफलतापूर्वक रत रहना और उसके पश्चात् लोक-कल्याण की भावना से साधना के उन अनेक रहस्यों

---

१. 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।' इस स्मृति के आधार पर योगशास्त्र के प्रथमवक्ता निश्चय ही हिरण्यगर्भ हैं। किन्तु उनकी कोई कृति उपलब्ध न हो सकने के कारण महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्र ही योगपरम्परा के पुरातन आधार माने जाते हैं।

का उद्घाटन करना। इसी कारण योगशास्त्र में ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की संख्या कम है। महर्षि पतञ्जलि के पश्चात् लब्धवर्ण भाष्यकार भगवान् व्यास ने योग-भाष्य लिखा। वह रचना भी योगशास्त्र के मूलमन्त्रों का निर्विचिकित्सित प्रकाशन है। योगिजनों के हृदय में इस भाष्य के लिए योगसूत्रों से कम सम्मान नहीं है। इसके पश्चात् कालक्रम से योगशास्त्र की सेवा करनेवाले मनीषी वाचस्पति मिश्र, भोजराज, विज्ञानभिक्षु और नागोजिभट्ट इत्यादि हैं।

भोजराज की वृत्ति सूत्रों पर है और संक्षिप्त है। किसी शास्त्रीय-ग्रन्थि की विस्तृत व्याख्या की इसमें आशा नहीं की जा सकती। वाचस्पतिमिश्र की टीका तत्त्ववैशारदी का योगिजनों के मध्य बड़ा आदर है क्योंकि उसमें सूत्र और भाष्यों के अनेक गूढस्थलों का विस्तृत व्याख्यान बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ किया गया है। ऐसा प्रतिभाशाली व्याख्याता भारतीय दर्शन का चमकता हुआ नक्षत्र ही माना जायगा। किन्तु वेदान्त-तत्त्वों के अप्रतिम साक्षात्कर्ता होने पर भी वाचस्पति मिश्र कदाचिद् अनुभवी योगी नहीं थे। इसलिये अनेक प्रसङ्गों में उनकी योग—व्याख्या वास्तविक रहस्य को न प्रकाशित करके उस समस्या के सम्बन्ध में प्रज्ञा के प्रखर अनुसंधानों का संभावित परिणाम ही प्रस्तुत कर सकी है।

योगशास्त्र की इस कमी को आचार्य विज्ञानभिक्षु ने पूरा किया। उनका योगवार्तिक योगभाष्य के रहस्यों का आमूल और विधिवत् व्याख्यान करनेवाला ग्रन्थ है। उनकी योगसाधना के अनुभवी नुस्खों के उपयोग का लाभ साधक मुमुक्षुओं को इसी वार्तिक से प्राप्त होता है। स्थल-स्थल पर वाचस्पतिमिश्र के मतभेदों का प्रकटीकरण इन्होंने इस वार्तिक में किया है और अपने सिद्धान्त सतर्क प्रस्तुत किए हैं। मिश्र जी के मतों की समालोचना भी इन्होंने सम्बन्धित स्थलों में की है। फिर भी जहाँ मतभेद नहीं था वहाँ मतभेद करने का अनावश्यक प्रदर्शन इन्होंने कदापि नहीं किया। इस विद्याविषयक ईमानदारी के कारण उनका महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। कुछ विद्वानों ने इस मतभेद का कारण विज्ञानभिक्षु की युयुत्सु प्रकृति और उनका अज्ञान बताया है। अन्य अनेक प्रकाण्ड विद्वानों ने यह भी सम्भावना की है कि इस मतभेद के मूल में विज्ञानभिक्षु की वेदान्त-मिश्रित योग-व्याख्या है।

तथापि मेरी तो यह धारणा है कि योग और वेदान्त का समन्वय इस मतभेद का कारण नहीं हो सकता क्योंकि जो मतभेद असम्प्रज्ञात-समाधि के भवप्रत्यय-वाले स्वरूप के विषय में अथवा समाधि-निरोध और एकाग्रता-परिणामों के लक्षण और क्षेत्र के सम्बन्ध में किंवा समापत्तियों की संख्या और अस्मितानुगतसम्प्रज्ञात

के स्वरूप आदि के विषय में है—जो कि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मतभेद के स्थल माने जाते हैं—उनमें वेदान्त-भावना या सांख्य-साधना का क्या प्रभाव पड़ सकता है ? रही बात उनकी प्रकृति अथवा अज्ञान की, तो इसका निर्णय तो उनके तर्क स्वयं कर देते हैं। फिर भी हठवादी, तत्त्व से पराङ्मुख रहने के ठेकेदार और व्यक्ति-पूजावादी समीक्षकों को रोकने को सामर्थ्य भला किस समझदार तत्त्ववेत्ता में होती है। वास्तविकता तो यह है कि जिन मतभेदों में विज्ञानभिक्षु मौलिक हैं—मैं यह नहीं कहता कि सर्वत्र आचार्य वाचस्पति मिश्र हो भ्रान्त हैं तथा विज्ञानभिक्षु से कहीं गलती हुई ही नहीं—उनमें उन्हें योगानुभव का आधार है। वैयक्तिक अनुभवों को कोई भुला नहीं सकता। वस्तुतः उनके स्वकीय योगानुभव ही उनकी योगव्याख्या के सशक्त संबल हैं। नागेशभट्ट जैसे तत्त्वदर्शी को उनकी व्याख्याएँ कदाचित् इन्हीं कारणों से बहुत प्रिय लगीं। उनकी योगव्याख्याओं पर विज्ञानभिक्षु का प्रभाव बहुमुखी है।[1] भावागणेश तो उनके शिष्य ही थे।[2] इस प्रकार योगशास्त्रनिवेषण-परम्परा में विज्ञानभिक्षु का प्रभाव अक्षुण्ण है। उनकी रचनाओं से योगदर्शनधारा की गति की दिशा का निर्धारण हुआ है। भारतीय दर्शन के योगवाङ्मय में वे व्यास भगवान् के पश्चात् सर्वाधिक प्रकाशमान ज्योतिर्बिन्दु हैं।

---

१. द्रष्टव्य, नागेशभट्ट योगसूत्र की छायाव्याख्या में पृ० १८, २० इत्यादि।

२. भाष्ये परीक्षितो योऽर्थो वार्तिके गुरुभिः स्वयम्।
संक्षिप्तः सिद्धवत्सोऽस्या युक्तिषूक्ताधिका क्वचित्॥

—भावागणेशीयवृत्तिः पृ० १

# वेदान्त में विज्ञानभिक्षु का स्थान

भारतवर्ष में दार्शनिक चिन्तनधारा की जो अजस्र स्रोतस्विनी उपनिषदों के रूप में वैदिक युग में प्रवाहित हुई उसका समग्र स्वरूप वेदान्तसूत्र और उसके भाष्यों में देखने को मिलता है। वेदान्त के समान लब्धप्रसर, व्यापक और जीवन के समस्त अंगों को प्रभावित करने वाला कोई दूसरा दर्शन भारत में नहीं है। इसकी लोकप्रियता और सर्वांगीणता के कारण ही इसका वाङ्मय भी अगाध है। वेदान्तसूत्र इन सभी परवर्ती रचनाओं का मूलाधार है। वेदान्तसूत्रों का वैचित्र्य तो यह है कि इस पर अनेक भाष्य लिखे गए और सब एक दूसरे से भिन्न। एक ओर जहाँ शङ्कर का अद्वैत इसी पर स्थापित है वहीं मध्वाचार्य का द्वैत भी इसी पर आधारित है। भास्कर, निम्बार्क, विज्ञानभिक्षु और बलदेव के भेदाभेद की पोषक पृष्ठभूमि भी यही है। एक ओर वैष्णव, शैव और शाक्त धर्मों की साधना का जहाँ यह मूलाधिष्ठान है, वहीं दूसरी ओर शङ्कर, भास्कर और विज्ञानभिक्षु के शुद्ध निर्गुण दार्शनिक-चिन्तन का अमोघ संबल भी यही है।

सिद्धान्तों की प्रसिद्धि और लोकप्रियता को यदि किसी आचार्य की प्रामाणिकता का मापदण्ड माना जाय तो निस्संदेह शंकर, रामानुज और मध्व का स्थान इन सब वेदान्तभाष्यकारों में सर्वोच्च है। यदि अनुयायियों की संख्या पर ही सारे निर्णय का भार स्वीकार किया जाय तो अवश्य ही भास्कर और विज्ञान-भिक्षु बड़े घाटे में हैं। कदाचित् शंकर और रामानुज ही इस दृष्टि से भी सच्चे भाष्यकार हैं। तथापि बिना शुद्ध समीक्षा के भास्कर और विज्ञानमिक्षु पर इस अधोगति का कलंक मढ़ देना ठीक नहीं है।

जहाँ तक प्रामाणिक अर्थों को उपस्थित करने का प्रश्न है ये लोग मी
निर्मूल या निराधार कोई बात नहीं कहते। इनकी भी प्रत्येक बात का समर्थन
उपनिषदों और प्रासङ्गिक तर्कों से होता है। विशेषकर विज्ञानभिक्षु के सम्बन्ध में
तो यह बात दावे के साथ कही जा सकती है। श्रुतियों और स्मृतियों का खण्डन
उनकी भी बातों से नहीं होता। सारा मतभेद दृष्टियों का होता है। विद्वान् लोग
यदि उसी सहानुभूति के साथ विज्ञानभिक्षु के वेदान्तभाष्य का भी अनुशीलन और
अवगाहन करें तो विज्ञानामृतभाष्य के तथ्यों की वास्तविकता का क़ायल उन्हें होना
ही पड़ेगा। उनके द्वारा की गई शांकरमत की कटु आलोचना भले ही अतिरंजित

हो किन्तु उनके मूल सिद्धान्तों की साकल्येन उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं। आत्मा की अखण्डता, संसार की मायामयता तथा जीव की आभासिक स्थिति का विज्ञानभिक्षुकृत अस्वीकार रामानुज आदि भाष्यकारों के द्वारा भी सिद्धान्ततः समर्थित है। साथ ही जीव का आत्मैक्य या ब्रह्मरूप होना शङ्कर, भास्कर के अतिरिक्त अन्य सभी भाष्यकारों को अस्वीकृत है केवल विज्ञानभिक्षु को ही नहीं। रही बात भेदाभेद सिद्धान्त की, तो यह मतवाद भी कोई नया पदार्थ नहीं है। इसके मौलिक तथा परम्परागत सिद्धान्त को कौन अस्वीकृत कर सकता है?

उपासना के प्रसङ्ग में प्रायः सभी भाष्यकार एकमत हैं। थोड़ा बहुत अन्तर होना तो स्वाभाविक ही है। वैष्णव और शैव भाष्यों की जीव-सम्बन्धिनी शाश्वत ईश्वरदासता का अस्वीकार अकेले विज्ञानभिक्षु के ज़िम्मे नहीं है, प्रत्युत शङ्कर और भास्कर आदि भी तो यही मानते हैं। रह गई बात जीवन्मुक्ति की, इसमें भी शङ्कर और भास्कर आदि उनके समान ही जीवन्मुक्ति की दशा को स्वीकृत करते हैं। हाँ, मुक्ति काल में आत्मा की आनन्द-हीनता के सम्बन्ध में प्रदर्शित विज्ञानभिक्षु का आग्रह किसी आपात-निर्णय-पटु-समीक्षक को भले ही सांख्य की अप्रिय याद दिलाए किन्तु जिस आनन्दशीलता के लिए उनका आग्रह है वह शंकराचार्य की सुखदु:खातीत स्थिति से भिन्न नहीं है। दोनों आचार्यों का लक्ष्य चेतनतत्त्व की सुखदु:ख-रहित स्थिति को प्रतिपादित करने का है। मतभेद शब्द-प्रयोग करने या न करने मात्र में है।

सच तो यह है कि शंकर के अद्वैत (में व्यक्ति का उद्देश्य असीम अनन्त हो जाने में है जब कि विज्ञानभिक्षु के अद्वैत भेदाभेदवाद) में व्यक्ति असीम-अनन्त का निर्लिप्त शुद्ध अङ्ग बनना चाहता है। व्यष्टि का समष्टि में उत्सर्ग उनके वेदान्त का चरम उद्देश्य नहीं, बल्कि व्यष्टि का समष्टिगत हो जाना ही उनका परम अभिमत है। इससे जीवन की एकान्तसाधना को बल मिलता है। संसार की घोर असत्यता न होने से नैतिक आस्था का अक्षुण्ण अस्तित्व सुरक्षित रहता है। भारतीय दर्शन की इस स्वस्थ दिशा की अवहेलना पूर्वाग्रहों के कारण अधिक दिनों तक नहीं की जा सकती। विज्ञानभिक्षु की मान्यताओं का प्रभाव दिनोदिन व्यापक होगा। १६ वीं शताब्दी की संस्कृत-रचना का प्रभाव उस समय व्यापक न हो सकने के सामाजिक, राजनीतिक और भाषा-सम्बन्धी कारण अब विज्ञानभिक्षु के वेदान्त के महत्त्व को कम करने में सक्षम नहीं रह सकते। वेदान्तदर्शन परम्परा में उनका वह स्थान निश्चित हो कर ही रहेगा जो स्थान शङ्कर, रामानुज, मध्व और वल्लभ आदि अन्य भाष्यकारों को प्राप्त है। भले ही धार्मिक अनुयायी उनके न मिलें, किन्तु दार्शनिक चेतनाओं के सच्चे पारखियों का मूल्याङ्कन उनके पक्ष में पहले जैसा उपेक्षापूर्ण नहीं रह सकता।

## उपसंहार

आचार्य विज्ञानभिक्षु के व्यक्तित्व और कृतित्व के प्रकाशन का पर्यवसान किन शब्दों में किया जाय ? जिस आत्मख्यापनविरतमनीषी ने भारतीय दार्शनिक चिन्तनधारा के शतशः प्रवाहों को एकाग्र करके उसके अमृतमय जीवन-संदेश का संकलित कलश हमें प्रदान किया, राजनीतिक दबावों और आर्थिक विषमताओं एवं सामाजिक संक्रान्तियों के जटिल अवसर पर हमें आध्यात्मिक एकता का ज्योतित मार्ग दिखाया, वैदिक वाणी का मधु घोलकर ज्ञानपथ पर उद्भ्रान्त तथा हताश भारतीयों को पान कराया, वर्णाश्रमव्यवस्था को ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिपुटी से आलोकित किया, उस ज्ञानमूर्ति तपोधन योगी की आत्मा को हमारे कृतज्ञ मन का कोटिशः नमन अर्पित है। भारतीय दार्शनिक जगत् के इस जाज्ज्वल्यमान ज्योतिष्पुञ्ज की प्रकाश-रेखाओं का हम निरन्तर आकलन करते रहें, यही हमारा पावन कर्त्तव्य है। भारतीय संस्कृति की समन्वयात्मक प्रवृत्ति के प्रशस्त प्रतीक के रूप में विज्ञानभिक्षु यहाँ की युग-युग-पुरातन ज्ञान-गाथा के अप्रतिम चरित-नायकों की पंक्ति में सदा आसीन रहेंगे। उनकी अजरामर ज्ञान-साधना से कृतकृत्य होनेवाले हम लोगों के मानसपटल पर श्रद्धाकुङ्कुममण्डित जो नाम अङ्कित है उनमें आचार्यविज्ञानभिक्षु का नाम निस्संदेह बहुत ऊँचा है।

# प्रस्तुत-ग्रन्थ के निर्माण में सहायक-ग्रन्थों की सूची


| क्रम-संख्या ग्रन्थ का नाम | रचयिता | प्रकाशन-स्थल | प्रकाशन-काल |
|---|---|---|---|
| १—अणुभाष्यम् | वल्लभाचार्य | निर्णयसागर प्रेस, बाम्बे | १९८७ ई० |
| २—अद्वैतब्रह्मसिद्धिः | सदानन्द यति | कलकत्ता विश्व-विद्यालय | १८९० |
| ३—अद्वैतामोदः | अभ्यङ्करवासुदेव शास्त्री | पूना | १९१८ |
| ४—अनिरुद्धवृत्तिः | अनिरुद्ध | कलकत्ता | १९३५ |
| ५—इण्डियन लिट्रेचर | एम० विन्तरनित्ज | कलकत्ता | १९२७ |
| ६—इण्डियन फ़िलासफ़ी | डा० एस० राधाकृष्णन् | लन्दन | १९२७ |
| ७—उपनिषद्भाष्यम् : २ य खण्ड : | | गीता प्रेस, गोरखपुर | |
| ८—ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ़ नैषधीय चरित | ए० एन० जानी | ओरियेण्टल इन्स्टी-ट्यूट, बड़ौदा | १९५७ |
| ९—कूर्मपुराण | : व्यास : | कलकत्ता | १८९० |
| १०—खण्डनखण्डखाद्यम् | श्रीहर्ष | काशी | १८८८ |
| ११—गोविन्दभाष्यम् | बलदेव | कलकत्ता | १८९७ |
| १२—गौडपादभाष्यम् [ सां० का० ] | गौडपाद | चौ० सं० सी०, बनारस | १९५३ |
| १३—चितलेभट्टप्रकरणम् | आर० एस० पिम्पुल्कर | बम्बई | १९२६ |
| १४—छान्दोग्योपनिषद् | शाङ्करभाष्ययुता | आनन्दाश्रम सं० सी० पूना | १८९० |
| १५—जयमङ्गलाटीका | शङ्करार्य | देहली | |
| १६—तत्त्वप्रदीपिका | चित्सुखाचार्य | निर्णयसागर प्रेस, त्रम्बई | १९१५ |
| १७—तत्त्ववैशारदी | वाचस्पति मिश्र | चौ० सं० सी० बनारस | १९३५ |
| १८—तत्त्वयाथार्थ्यदीपनम् | भावागणेश | चौ० सं० सी० बनारस | १९२० |

| क्रम-संख्या | ग्रन्थ का नाम | रचयिता | प्रकाशन-स्थल | प्रकाशन-काल |
|---|---|---|---|---|
| १९— | दि इवोल्यूशन ऑफ़ दि सांख्य स्कूल ऑफ़ थाट | डा० अणिमासेन गुप्त | लखनऊ | १९५९ |
| २०— | दि डाक्ट्रिन्स ऑफ़ निम्बार्क एण्ड हिज फ़ालोअर्स | डा० रोमाबोस | कलकत्ता | १९४३ |
| २१— | दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ दि उपनिषद् | पी० डायसां | एडिनबरो | १९०८ |
| २२— | दि फ़िलासफ़ी ऑफ़ भेदाभेद | पी०एन०श्रीनिवासा-चारी | अड्यार लायब्रेरी | १९५० |
| २३— | न्यायसूत्रम् | गौतम | पूना | १९३९ |
| २४— | पातञ्जलरहस्यम् | राघवानन्द | चौ० सं० सी० बनारस | १९३५ |
| २५— | पातञ्जलयोगदर्शनम् | श्री ब्रह्मलीन मुनिद्वारा | सूरत [गुजरात] | १९५८ |
| २६— | पातञ्जल सूत्र, रा०मा० संपादित वृ० सहित | भोजराज | बनारस | १९१३ |
| २७— | पञ्चदशी | विद्यारण्य | निर्णयसागर प्रेस, बम्बई | १९४९ |
| २८— | ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव-भाष्यों का तुलना-त्मक अध्ययन | डा० रामकृष्ण आचार्य | आगरा | १९६० |
| २९— | ब्रह्मसूत्रभाष्यम् | मध्वाचार्य | मैसूर | १९११ |
| ३०— | भारतीय-दर्शन | म० म० उमेश मिश्र | लखनऊ | १९५७ |
| ३१— | भारतीय-दर्शन | पं० बलदेव उपाध्याय | वाराणसी | १९५७ |
| ३२— | भावेकुलवृत्तान्त | जी० वी० भावे | पूना | १९४० |
| ३३— | भास्करभाष्यम् | भास्कर | चौ० सं० सी०, बनारस | १९१५ |
| ३४— | मनुस्मृतिः | मनु | कला प्रेस, इलाहाबाद | |
| ३५— | महिम्नस्तोत्र मधुसूदनीटीका-सहित | पुष्पदन्ताचार्य | चौ० सं० सी०, बनारस | १९३८ |

| क्रम-संख्या | ग्रन्थ का नाम | रचयिता | प्रकाशन-स्थल | प्रकाशन-काल |
|---|---|---|---|---|
| ३६— | माठरवृत्तिः | एस० के० बेल्वेलकर द्वारा सम्पादित | आर्यभूषण प्रेस, पूना | १९२४ |
| ३७— | मीमांसा सूत्रम् | जैमिनि | कलकत्ता | १८७३ |
| ३८— | याज्ञवल्क्यस्मृतिः | याज्ञवल्क्य | त्रिवेन्द्रम् | १९२२ |
| ३९— | योगवासिष्ठः | | बम्बई | १९१५ |
| ४०— | योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त | बी० एल० आत्रेय | बनारस | १९५७ |
| ४१— | रघुवंशम् | कालिदास | चौ० सं० सी०, बनारस | १९५२ |
| ४२— | लाइट्स आन वेदान्त | डा०वीरमणिप्रसाद उपाध्याय | चौ० सं० सी०, बनारस | १९५९ |
| ४३— | वाचस्पतिमिश्र आन अद्वैत वेदान्त | डा० एस० एस० हस्रकर | दरभंगा | १९५८ |
| ४४— | विष्णुपुराणम् | व्यास | वे० प्रे०, बम्बई | १९०६ |
| ४५— | वायुपुराणम् | व्यास | आन० सं० सी०, पूना | १९०५ |
| ४६— | वेदान्तपरिजातसौरभम् | निम्बार्क | काशी | १९३२ |
| ४७— | वेदान्तसारः | सदानन्द व्यास | पूना | १९२९ |
| ४८— | वेदान्तसारः | श्री रामानुजाचार्य | अड्यार लायब्रेरी | १९५३ |
| ४९— | वेदान्तकौमुदी | रामाद्वयाचार्य | मद्रास विश्वविद्यालय | १९५५ |
| ५०— | शाङ्करभाष्यम् | श्री शङ्कराचार्य | काशी | १९२९ |
| ५१— | शिशुपालवधम् [ प्रथम और द्वितीय सर्ग ] | माघ | प्रयाग | |
| ५२— | श्रीकण्ठभाष्यम् | श्रीकण्ठ | बम्बई | १९०३ |
| ५३— | श्रीकरभाष्यम् | सी० हयवदनराव द्वारा सम्पादित | बंगलौर | १९३६ |
| ५४— | श्रीभाष्यम् | रामानुजाचार्य | मद्रास | १९१० |
| ५५— | श्रीमद्भगवद्गीता— | शांकरभाष्ययुता | कलकत्ता | १९०० |
| ५६— | सर्वदर्शनसंग्रहः | माधवाचार्य | पूना | १९०६ |
| ५७— | सांख्यतत्त्वकौमुदी—प्रभा | डा० आद्याप्रसाद मिश्र | सत्य-प्रकाशन, इलाहाबाद | १९५६ |

| क्रम-संख्या | ग्रन्थ का नाम | रचयिता | प्रकाशन-स्थल | प्रकाशन-काल |
|---|---|---|---|---|
| ५८ | सांख्यदर्शन का इतिहास | पं० उदयवीर शास्त्री | ज्वालापुर | १९५० |
| ५९ | सांख्य-सिस्टेम | प्रो० ए० बी० कीथ | लन्दन | १९१८ |
| ६० | सिद्धान्तविन्दुः | मधुसूदन सरस्वती | काशी | १९५६ |
| ६१ | सुवर्णसप्ततिशास्त्र | परमार्थ | तिरुपति | १९४४ |
| ६२ | हिस्ट्री श्राफ़ इण्डियन फ़िलासफ़ी | डा० एस० एन० दास गुप्त | कैम्ब्रिज | १९४० |

## इस ग्रन्थ में सहायक पत्र-पत्रिकाओं की सूची

१—दि अड्यार लायब्रेरी बुलैटिन अङ्क ८, भाग १, फरवरी १९४४ ई०

२—ऐनल्स ऑफ़ भण्डारकर ओरियेन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना भाग १४, १९३२ ई०

३—जौर्नल आफ़ दि एस० वी० ओरियेन्टल इन्स्टीट्यूट अङ्क १, भाग ४ तिरुपति

४—उपनिषद्-अङ्क—'कल्याण', गीताप्रेस, गोरखपुर २००५ वि०

५—जौर्नल ऑफ़ औरियेण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट भाग २१, मद्रास

# परिशिष्ट सं० १

श्री डा० राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा प्रस्तुत संग्रह 'नोटिसेज़ ग्राफ़ संस्कृत-मैनुस्क्रिप्ट्स' में निर्दिष्ट विज्ञानभिक्षु की अप्रकाशित रचनाओं का विवरण यहाँ दिया जा रहा है। ये पाण्डुलिपियाँ 'एशियाटिक सोसायटी आफ़ बंगाल' के पुस्तकसंग्रहालय १ पार्कस्ट्रीट, कलकत्ता में इस समय सुरक्षित हैं। पुस्तक संग्रहालय के अध्यक्ष श्री चौधरी जी से सम्पर्क स्थापित करने पर यह पता चला कि इन रचनाओं की केवल एक-एक प्रति ही पुस्तकसंग्रहालय में हैं और कुछ अपरिहार्य कारणों से ये प्रतियाँ भी निरीक्षण के लिए अभी सुलभ नहीं हो सकती। इसलिए इन पाण्डुलिपियों से सम्बद्ध सूचना के लिए इस समय डा० मित्र के निर्देशों पर ही आधारित रहने की विवशता है। वर्तमान परिस्थिति में डा० मित्र की सूचना के आधार पर इन पाण्डुलिपियों का विवरण इस प्रकार हैं—

१—माण्डूक्योपनिषदालोकः   १८०८

देशी कागज़ ११$\frac{3}{4}$" × ३$\frac{1}{4}$"। फ़ोलिया ५। पंक्तियाँ प्रति पृष्ठ १०। श्लोक संख्या-१६७। बंगला अक्षर। निर्माणकाल ? प्राचीन। गद्य। पुष्पिका—'इतिविज्ञानभिक्षुकृते वेदान्तालोके माण्डूक्योपनिषदालोकः समाप्तः।'

२—उपदेशरत्नमाला   १७०७

देशी कागज़ ११$\frac{1}{4}$" × ३$\frac{1}{4}$"। फोलियो ३५। पंक्तियाँ पुष्पिका ११।

श्लोक

सं० ११५६। बंगला अक्षर। निर्माणकाल ? प्राचीन। पुष्पिष्का—'इतिविज्ञानभिक्षुविरचितमुपदेशरत्नमालाख्यं वेदान्तप्रकरणं समाप्तम्।'

३—ईश्वरगीताभाष्यम्   २०५०

देशी कागज ११$\frac{1}{2}$" × ३$\frac{1}{4}$"। फोलियो १०५। पङ्क्तियाँ प्रतिपृष्ठ ९।

श्लोकसंख्या—३१२०। बंगला अक्षर। तिथि ? प्राचीन। गद्य। 'वेदान्तसारार्थसंग्राहिण्याःकूर्मपुराणान्तर्गतेश्वरगीताया व्याख्यानम्।'

४—प्रश्नोपनिषदालोकः   २०५१

देशी कागज ११$\frac{1}{2}$" × ३$\frac{1}{4}$"। फोलियो १७। पंक्तियाँ प्रतिपृष्ठ १०। श्लोकसंख्या—५४४। बंगला अक्षर। तिथि ? प्राचीन। गद्य। पुष्पिका—'इतिविज्ञानभिक्षुकृते वेदान्वालोके प्रश्नोपनिषदालोकः समाप्तः।'

५—तैत्तिरीयोपनिषदालोकः १७९८

देशी कागज़ ११$\frac{१}{४}$" × १$\frac{१}{४}$" फोलियो २१ । पंक्तियाँ प्रति पृ० १० । श्लोक संख्या—६५१ । नागरी अक्षर । तिथि ? गद्य । पुष्पिका—'इतिविज्ञानभिक्षुकृते वेदान्तालोके तैत्तिरीयोपनिषदालोकः,समाप्त : ।'

६—श्वेताश्वतरोपनिषदालोकः १८०९

देशी कागज़ १०$\frac{१}{२}$" × ३$\frac{१}{४}$" फोलियो ३३ । पंक्तियाँ प्रति पृष्ठ ११ । श्लोक संख्या—१०२३ । बंगला अक्षर । तिथि ? प्राचीन । गद्य । प्रथम पृष्ठ नहीं है । पुष्पिका—'इति विज्ञानभिक्षुकृते वेदान्तालोके श्वेताश्वतरोपनिषदालोकः समाप्तः ।'

७—मैत्रेय्युपनिषदालोकः १८११

देशी कागज ११$\frac{३}{४}$ × "३$\frac{१}{४}$" फोलियो २६ । पङ्क्तियाँ प्रति-पृष्ठ १० । श्लोकसंख्या ८५० । बंगला अक्षर । तिथि ? प्राचीन । गद्य । पुष्पिका —'इतिविज्ञानभिक्षुकृते वेदान्तालोके मैत्रेय्युपनिषदालोकः समाप्तः ।'

८—कैवल्योपनिषदालोकः १८१०

देशी कागज ११$\frac{१}{२}$" × ३$\frac{१}{४}$" । फोलियो ८ । पङ्क्तियाँ प्रतिपृष्ठ—१० । श्लोक संख्या १६४ । बंगला अक्षर । तिथि ? प्राचीन । गद्य । पुष्पिका—'इतिविज्ञानभिक्षुकृते वेदान्तालोके कैवल्योपनिषदालोकः समाप्तः ।'

९—कठवल्युपनिषदालोकः १८१२

देशी कागज ११$\frac{३}{४}$" × ३$\frac{१}{४}$" फोलियो २४ । पङ्क्तियाँ प्रति-पृष्ठ १० । श्लोकसंख्या—६२६ । बंगला अक्षर । तिथि ? प्राचीन । गद्य । पुष्पिका—'इतिविज्ञानभिक्षुकृते वेदान्तालोकेकठवल्युपनिषदालोकः समाप्तः ।'

१०—मुण्डकोपनिषदालोकः १८१३

देशी कागज ११$\frac{३}{४}$" × ३$\frac{१}{४}$" फोलियो १७ । पङ्क्तियाँ पृ० १० । श्लोक संख्या—२७९ । बंगला अक्षर । तिथि ? प्राचीन । गद्य । पुष्पिका—

'इति विज्ञानभिक्षुकृते वेदान्तालोके मुण्डकोपनिषदालोकःसमाप्तः ।

## प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रयुक्त संकेतों का विवरण

अ० ब्र० सि०—अद्वैतब्रह्म—सिद्धि: [कलकत्ता विश्वविद्यालय से १८९० में प्रकाशित]

अ० भा० — अणुभाष्यम् [निर्णय—सागर—प्रेस बाम्बे से सं० १९८७ में प्रकाशित]

अ० यो० — असम्प्रज्ञातयोग

अ० ला० बु० — अडियार लायब्रेरी बुलेटिन

ई० गी० भा० — ईश्वर गीता भाष्यम् [पाण्डुलिपि]

उ० भा० — उत्तर भाग:

उ० र० मा० — उपदेशरत्नमाला

ख० ख० खा० — खण्डनखण्डखाद्यम् [काशी से १८८८ ई० में प्रकाशित]

त० या० दी० — तत्त्वयाथार्थ्य दीपनम् [चौ० सं० सी० बनारस से १९२० ई० में प्रकाशित]

त० वै० — तत्त्ववैशारदी
यो० सू० — योगसूत्रम्
यो० भा० — योगभाष्यम्
भा० — भास्वती
पा० र० — पातञ्जलरहस्यम्
यो० वा०—योगवार्तिकम्

ये पाँचों ग्रन्थ एक ही ग्रन्थ में "साङ्ग-योग दर्शनम्" नाम से चौ० सं० सी० बनारस से १९३५ ई० में प्रकाशित हुए हैं। इस शोध-प्रबन्ध में संकेत के लिए इसी संस्करण का उपयोग किया गया है।

ा० सू० वृ० — पातञ्जलसूत्रवृत्तिः

ां० लि० — पाण्डुलिपि

० भा० — पूर्वभाग:

० — पुष्पिका

० सं० — पृष्ठ संख्या

० मी० भा० — ब्रह्ममीमांसा भाष्यम्
० सू० ऋ० व्या०—ब्रह्मसूत्रऋजुव्याख्या
० भा० — विज्ञानामृत भाष्यम्

ये तीनों नाम एक ही ग्रन्थ के हैं। यह ग्रन्थ चौ० सं० सी० बनारस से प्रकाशित हुआ है।

भू० — वैयाकरणभूषणम्

वै० सि० ल० म० – वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा [गाजीपुर से १९२९ ई० में प्रकाशित]

भा० कु० वृ० – भावेकुलवृत्तान्तः [पूना से १९४० ई० में प्रकाशित]

भा० भा० – भास्करभाष्यम् [चौ० सं० सी० बनारस से १९४० ई० में प्रकाशित]

यो० सा० सं० – योगसार-संग्रह [मोतीलाल बनारसीदास, बनारस के यहाँ से प्रकाशित]

यो० सि० चं० – योगसिद्धान्त—चन्द्रिका

रा० मा० वृ० – राजमार्त्तण्डवृत्तिः [बनारस से १९१३ ई० में प्रकाशित]

वा० मि० – वाचस्पति मिश्रः

वि० भि० – विज्ञानभिक्षुः

वे० पा० सौ० – वेदान्तपरिजातसौरभम् [काशी से १९३२ ई० में प्रकाशित]

वे० सू० – वेदान्तसूत्रम्

स० यो० – सम्प्रज्ञातयोगः

सां० त० कौ० – सांख्यतत्त्वकौमुदी [सत्य-प्रकाशन प्रयाग से १९५६ ई० में प्रकाशित]

सां० द० इ० – सांख्यदर्शन का इतिहास [उदयवीरशास्त्रीकृत, ज्वालापुर से १९५० ई० में प्रकाशित]

सां० प्र० भा० – सांख्यप्रवचनभाष्यम् [चौ० सं० सी० बनारस से १९२८ ई० में प्रकाशित]

सां० सा० – सांख्यसार : [बिब्लियोथिका इण्डिका से एशियाटिक सोसायटी ऑफ बङ्गाल के अधीन कलकत्ता से १८६२ ई० में प्रकाशित]

सां० सू० – सांख्यसूत्रम्

हैम० – हैमकोश :